CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार

एक समालोचनात्मक अध्ययन

- डॉ० शुद्धात्मप्रभा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

1416

5353

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार

एक समालोचनात्मक अध्ययन

[राजस्थान विश्वविद्यालय से 'पीएच०डी०' के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

5453

लेखिका :

डॉ० शुद्धात्मप्रभा, एम०ए० पीएच०डी०

प्रस्तावना-लेखक :

पण्डित रतनचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम०ए०, बी०एड०

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम संस्करण : ३२००
दि० १५ अगस्त, १९८७ ई०
पुनर्मुद्रित संस्करण १९८९

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य :
सामान्य संस्करण : दश रुपये
पुस्तकालय संस्करण : बीस रुपये

मुद्रक:
ए.के लियोग्राफर्स
टैगोर गार्डन, दिल्ली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

(द्वितीय संस्करण)

आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्त्राब्दी समारोह के अवसर पर हमारे साहित्य प्रकाशन एवं प्रचार विभाग द्वारा अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई, जिनमें राजस्थान विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार: एक समालोचनात्मक अध्ययन" नामक शोध प्रबंध प्रमुख है। हमें प्रसन्नता है कि लगभग डेढ़ वर्ष के अल्पकाल में ही इस कृति का द्वितीय संस्करण प्रकाशित करना पड़ रहा है।

आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर जिनअध्यात्म परम्परा के शिरमौर हैं। इसी प्रकार उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन भी जिनअध्यात्म के रवि-शशि हैं। इन पर किया गया कोई भी अध्ययन अध्यात्म प्रेमी समाज को प्रफुल्लित कर देने के लिए पर्याप्त है। जिनअध्यात्म के प्रचार-प्रसार में ही सम्पूर्णत: समर्पित पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के लिए भी इसका प्रकाशन एक गौरव की बात है।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्त्राब्दी समारोह मनाने की चर्चा पहले से ही चल रही थी। हमारी संस्था के प्राण डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल निरन्तर प्रयत्न में थे कि इस अवसर पर आचार्य कुन्दकुन्द पर शोध परक समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाए। यही कारण है कि वे शोधार्थियों को इस विषय पर अध्ययन प्रस्तुत करने की प्रेरणा दिया करते थे। उनकी सुपुत्री श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने उनसे प्रेरणा पाकर इस विषय का चुनाव किया। परिणाम स्वरूप ठीक समय पर यह शोधप्रबन्ध आपके हाथों में पहुंचा और सराहा गया।

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के अनन्योपासक एवं प्रबल प्रचारक आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य भी कानजीस्वामी की पावन प्रेरणा से स्थापित संस्थाओं को आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों को प्रकाशित कर अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुंचाने का सौभाग्य प्राप्त रहा है। आज उन पर किये गए अध्ययनपरक साहित्य को भी प्रकाशित कर अल्पमूल्य में जनसाधारण तक पहुंचाने का अवसर प्राप्त हुआ है।

अधिकांश शोध-प्रबंध मात्र विद्वानों के अध्ययन की वस्तु बनकर रह जाते हैं; पर इस शोध-प्रबंध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह अध्यात्मप्रेमी समाज व विद्वद्वर्ग-दोनों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा; क्योंकि इसमें शोधपरक सामग्री के साथ-साथ कुन्दकुन्द के ग्रंथों का सार भी सरल और सुबोध भाषा में दिया गया है, जिसे पढ़कर आचार्य कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि इस ट्रस्ट द्वारा छोटेबड़े अनेकानेक ग्रंथों का प्रकाशन निरन्तर होता रहता है, तथापि शोधप्रबन्धों के प्रकाशन की श्रृंखला में यह द्वितीय प्रकाशन है। सबसे पहले हमने डॉ० भारिल्ल द्वारा लिखित एवं इन्दौर विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत "पण्डित टोडरमल: व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व"— नामक शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन किया था, जिसका द्वितीय संस्करण भी समाप्तप्राय: है। दूसरा यह है। तीसरा—डॉ० उत्तमचन्द जैन द्वारा लिखित विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत "आचार्य अमृतचन्द्र: व्यक्तित्व और कर्त्तृत्य" नामक शोध ग्रंथ हैं। इनके अतिरिक्त हमने दो लघु शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित किए है। राजस्थान विश्व विद्यालय द्वारा एम० ए० की परीक्षा के नवम् प्रश्न पत्र के लिए स्वीकृत शुद्धात्म प्रभा द्वारा लिखित 'आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय' तथा अध्यात्म प्रभा द्वारा लिखित 'कविवर बनारसीदास: व्यक्तित्व और कर्त्तृव्व'। "कविवर बनारसी दास : व्याक्त्वि और कर्त्तृत्व" हमारी सहयोगी संस्था अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन के प्रकाशित किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, नियमसार, प्रवचनसार, अष्टपाहुड़ तथा पंचास्तिकाय संग्रह इन पंचपरमागमों का प्रकाशन इस ट्रस्ट की सहयोगी संस्था श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट द्वारा किया गया है। डॉ० हुकमचंदजी भारिल्ल की कृतियों में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंचपरमागम, कुन्दकुन्द शतक, शुद्धात्म शतक, सार-समयसार तथा समयसार पद्यानुवाद आदि के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं तथा अन्य भाषाओं में भी अनुवाद कार्य प्रगति पर है। इंसप्रकार यह संस्था व इसकी सहयोगी संस्थाएं आचार्य कुन्दकुन्द का साहित्य घर-घर पहुंजाने में महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं।

इस शोध-प्रबंध के लेखन के लिए श्रीमती शुद्धात्म् प्रभा; प्रस्तावना लेखन के लिए पण्डित रतनचन्दजी भारिल्ल शास्त्री, न्यायतीर्थ तथा मुद्रण व्यवस्था के लिए अखिल बंसल के आभारी हैं। इस कृति को अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुंचाने में सहयोग देने वाले बन्धुओं के भी हम आभारी हैं।

नेमीचन्द पाटनी
महांमत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रस्तावना

यद्यपि दिगम्बर जिन-आचार्य-परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द कनिष्ठाधिष्ठित हैं – सर्वोपरि हैं; तथापि उनके जीवन एवं साहित्य पर जैसा अनुसंधानपरक कार्य होना चाहिए, वैसा कार्य अद्यावधि देखने में नहीं आया। यदि थोड़ा-बहुत कहीं कुछ कार्य हुआ भी है तो वह उनके व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व की तुलना में कुछ भी नहीं है तथा वह समुचित प्रचार-प्रसार में भी नहीं आया।

दिगम्बर जैनाचार्यों, मुनिराजों एवं विद्वद्वर्ग द्वारा लगातार दो हजार वर्ष से जिनका निरन्तर स्मरण किया जाता रहा है, प्रत्येक दिगम्बर जिनबिम्ब पर जिनका नाम अंकित है, प्रत्येक स्वाध्यायी स्वाध्याय आरम्भ करने के पूर्व भगवान महावीर और गौतम गणधर के साथ जिनका प्रतिदिन स्मरण करता है एवं अनेकानेक शिलालेखों एवं प्रशस्तियों में जिनकी कीर्तिपताका अंकित है – ऐसे सर्वमान्य आचार्य कुन्दकुन्द पर कोई स्तरीय अनुसंधानपरक कार्य नहीं होना सचमुच ही आश्चर्य की बात है।

स्वभाव से अन्तरोन्मुखी स्वाध्यायप्रेमी समाज उनके ग्रन्थों का स्वाध्याय तो करता रहा, उनका रसास्वादन भी करता रहा; पर उसने कभी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि उनके जीवन और साहित्य पर सर्वांगीण अनुसंधानपरक कार्य कर उन्हें दर्शन और साहित्य के इतिहास में प्रतिष्ठित किया जाय।

यद्यपि विगत अर्द्धशताब्दी में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का अत्यधिक प्रचार व प्रसार हुआ है। उन्होंने न केवल उनके ग्रंथों के अनेक संस्करण अत्यल्प मूल्य में जन-जन तक पहुँचाये, उन पर लगातार ४५ वर्ष तक प्रतिदिन दो बार प्रवचन कर उन्हें मुमुक्षु समाज में लोकप्रिय भी बनाया; तथापि उनका प्रचार-प्रसार जैन समाज तक ही सीमित रहा।

समर्थ विद्वानों के लिए भी असाध्य इस कार्य को हाथ में लेकर श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने सचमुच ही अद्भुत साहस का परिचय दिया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस कृति के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द पर आवश्यक अनुसंधानपरक कार्य की पूर्ति हो गई है, पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि एक शुभारंभ तो हो ही गया है।

सर्वाधिक प्रसन्नता की बात यह है कि इसका प्रकाशन पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर हो रहा है, जिससे इसके प्रचार-प्रसार में सहज ही गति रहेगी। एक तो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जैसी गतिशील संस्था द्वारा इसका प्रकाशन प्रचार-प्रसार की दृष्टि से अत्यन्त अनुकूल है ही, दूसरे अत्यल्प मूल्य एवं सुन्दरतम शुद्ध मुद्रण तथा द्विसहस्राब्दी समारोह का अवसर – ये सब कुछ इसप्रकार के संयोग हैं, जो विश्वास दिलाते हैं कि इसका प्रचार-प्रसार आशानुरूप होगा ही।

इस शोध-प्रबन्ध की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन एवं मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव पर अद्यावधि उपलब्ध समस्त जानकारी को अतिसंक्षेप में आवश्यक तर्क-वितर्क के साथ सप्रमाण इसप्रकार प्रस्तुत कर दिया गया है कि पाठक उनके सम्बन्ध में अधिकतम जानकारी तो प्राप्त कर ही लेता है, साथ ही उनके व्यक्तित्व से अभिभूत भी हो जाता है, उसे उनके ग्रन्थों के अध्ययन करने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

दूसरे, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की समस्त विषयवस्तु को इसमें सीधी-सादी, सरल, सुबोध भाषा में संक्षेप में इसप्रकार प्रस्तुत कर दिया गया है कि पाठक को मूलग्रन्थ पढ़ने का आनन्द तो आता है, पर वह तत्संबंधी श्रम से बच जाता है। इसप्रकार उसे मूलग्रन्थों के अवलोकन बिना ही कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य का परिचय प्राप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप उसे मूलग्रन्थों के अवलोकन की भी प्रेरणा प्राप्त होती है।

तीसरे, आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अभिव्यक्त दार्शनिक विचारों को सरल-सुबोध भाषा में पृथक् रूप से दे दिया गया है, जिससे पाठक कुन्दकुन्द के प्रतिपाद्य के साथ-साथ उनके दार्शनिक विचारों से भी परिचित हो जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों का एक ऐसा दर्पण हो गया है, जिसमें अनभिज्ञ से अनभिज्ञ पाठक को कुन्दकुन्द का एक प्रतिबिम्ब प्रतिभासित हो जाता है। यही कारण है कि यह ग्रन्थ मुमुक्षु समाज एवं कुन्दकुन्द से अपरिचित विद्वद्समाज – दोनों के लिए ही अत्यन्त उपयोगी हो गया है।

इसकी एक विशेषता और भी है कि इसमें समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह पर लिखित अमृतचन्द्रीय टीकाओं एवं जयसेनीय टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इस तुलनात्मक अध्ययन में दोनों ही आचार्यों की भाषा एव प्रतिपादन शैली आदि की अनेक विशेषताओं को तुलनात्मक दृष्टि से उजागर किया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की जागरूकता और सक्रियता से यह ग्रन्थ मुमुक्षु समाज में तो पहुँच ही जावेगा; पर उसकी पकड़ भी मुमुक्षु समाज तक ही है, अतः इस उपयोगी अमूल्य कृति को विश्वविद्यालयीन पुस्तकालयों तथा शोधक एवं समीक्षक विद्वानों तक पहुँचना संदिग्ध ही है।

अतः पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट एवं प्रबुद्ध मुमुक्षु समाज से विनम्र अनुरोध है कि वे इस कृति को समीक्षक विद्वानों एवं विश्वविद्यालयीन पुस्तकालयों तक पहुँचाने का भी प्रबंध करें, सक्रिय उपक्रम करें। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर यदि वे ऐसा कर सके तो निश्चित रूप से कुन्दकुन्द के प्रचार-प्रसार में सक्रिय सहयोगी बन सकेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। उनके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना आवश्यक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ उनके मूल्यांकन में ही समर्पित है। उनके ग्रन्थ लगातार दो हजार वर्षों से निरन्तर पठन-पाठन में रहे हैं, कभी कम कभी अधिक; पर वे अध्यात्मप्रेमियों द्वारा पढ़े-सुने अवश्य जाते रहे हैं।

समय-समय पर क्रियाकाण्डी निहित स्वार्थों द्वारा इनके पठन-पाठन का विरोध यह कहकर किया जाता रहा है कि ये ग्रन्थ तो मुनिराजों के पढ़ने के लिए ही हैं, गृहस्थों को इन्हें नहीं पढ़ना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तुतः बात यह है कि इनमें विशुद्ध-अध्यात्म के साथ-साथ अनावश्यक क्रियाकाण्ड एवं शिथिलाचार के विरुद्ध भी सशक्त प्रतिपादन है। इनमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता, संयम नहीं होता, मुनिदशा नहीं हो सकती है; अतः जिन लोगों ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान बिना ही वेष धारण कर लिया है, जिनका आचरण अत्यन्त शिथिल है, जो अनावश्यक क्रियाकाण्ड एवं मंत्र-तंत्र के घटाटोप में ही जनता को उलझाये रखना चाहते हैं, उनके लिए आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का प्रचार-प्रसार निश्चित ही एक खतरा है; क्योंकि सत्य स्वरूप को जान लेने के बाद समाज इनके चंगुल में नहीं रहेगी।

इन्हीं तत्त्वों द्वारा समय-समय पर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के पठन-पाठन पर रोक लगाने के उपक्रम होते रहे हैं। विशुद्ध अध्यात्म के प्रबल प्रचारक आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी को भी इन लोगों के दुष्प्रचार का सामना करना पड़ा था।

इन ग्रन्थों के पठन-पाठन की प्रेरणा देते हुए वे लिखते हैं :—

"तथा कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोग में व्रत-संयमादि व्यवहारधर्म का हीनपना प्रगट किया है। सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादिक को निर्जरा का कारण कहा है—इत्यादि कथन सुनकर जीव स्वच्छन्द होकर पुण्य छोडकर पाप में प्रवर्तेंगे, इसलिए इनका पढ़ना-सुनना योग्य नहीं है।

उससे कहते हैं :—जैसे गधा मिश्री खाकर मर जाये तो मनुष्य तो मिश्री खाना नहीं छोड़ेंगे, उसीप्रकार विपरीतबुद्धि अध्यात्मग्रन्थ सुनकर स्वच्छन्द हो जाये तो विवेकी तो अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास नहीं छोड़ेंगे। इतना करे कि जिसे स्वच्छन्द होता जाने, उसे जिस-प्रकार वह स्वच्छन्द न हो, उसप्रकार उपदेश दे, तथा अध्यात्मग्रन्थों में भी स्वच्छन्द होने का जहाँ-तहाँ निषेध करते हैं, इसलिए जो भली-भाँति उनको सुने, वह तो स्वच्छन्द होता नहीं; परन्तु एक बात सुनकर अपने अभिप्राय से कोई स्वच्छन्द हो तो ग्रन्थ का तो दोष है नहीं, उस जीव ही का दोष है।

तथा यदि झूठे दोष की कल्पना करके अध्यात्मशास्त्रों को पढ़ने-सुनने का निषेध करें तो मोक्षमार्ग का मूल उपदेश तो वहाँ ही है, उसका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निषेध करने से तो मोक्षमार्ग का निषेध होता है। जैसे :– मेघवर्षा होने पर बहुत से जीवों का कल्याण होता है और किसी को उल्टा नुकसान हो, तो उसकी मुख्यता करके मेघ का तो निषेध नहीं करना, उसीप्रकार सभा में अध्यात्म-उपदेश होने पर बहुत से जीवों को मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति होती है, परन्तु कोई उल्टा पाप में प्रवर्ते, तो उसकी मुख्यता करके अध्यात्मशास्त्रों का तो निषेध नहीं करना।

तथा अध्यात्मग्रन्थों से कोई स्वच्छन्द हो, सो वह तो पहले भी मिथ्यादृष्टि था, अब भी मिथ्यादृष्टि ही रहा। इतना ही नुकसान होगा कि सुगति न होकर कुगति होगी। परन्तु अध्यात्म-उपदेश न होने पर बहुत जीवों के मोक्षमार्ग की प्राप्ति का अभाव होता है और इसमें बहुत जीवों का बहुत बुरा होता है, इसलिये अध्यात्म-उपदेश का निषेध नहीं करना।

तथा कितने ही जीव कहते हैं कि द्रव्यानुयोगरूप अध्यात्म-उपदेश है, वह उत्कृष्ट है; सो उच्चदशा को प्राप्त हों, उनको कार्यकारी है, निचली दशावालों को व्रत-संयमादिक का ही उपदेश देना योग्य है।

उनसे कहते हैं :– जिनमत में यह परिपाटी है कि पहले सम्यक्त्व होता है फिर व्रत होते हैं, वह सम्यक्त्व स्व-पर का श्रद्धान होने पर होता है और वह श्रद्धान द्रव्यानुयोग का अभ्यास करने पर होता है, इसलिये प्रथम द्रव्यानुयोग के अनुसार श्रद्धान करके सम्यग्दृष्टि हो, पश्चात् चरणानुयोग के अनुसार व्रतादिक धारण करके व्रती हो। – इसप्रकार मुख्यरूप से तो निचली दशा में ही द्रव्यानुयोग कार्यकारी है, गौणरूप से जिसे मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती न जाने उसे पहले किसी व्रतादिक का उपदेश देते हैं, इसलिये ऊँची दशावालों को अध्यात्म-अभ्यास योग्य है – ऐसा जानकर निचली दशावालों को वहाँ से परान्मुख होना योग्य नहीं है।

तथा यदि कहोगे कि ऊँचे उपदेश का स्वरूप निचली दशावालों को भासित नहीं होता।

उसका उत्तर यह है :– और तो अनेक प्रकार की चतुराई जानें और यहाँ मूर्खपना प्रगट करें, वह योग्य नहीं है। अभ्यास करने से स्वरूप भली-भाँति भासित होता है, अपनी बुद्धि-अनुसार थोड़ा-बहुत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भासित हो, परन्तु सर्वथा निरुद्यमी होने का पोषण करें, वह तो जिनमार्ग का द्वेषी होना है।

तथा यदि कहोगे कि यह काल निकृष्ट है, इसलिये उत्कृष्ट अध्यात्म-उपदेश की मुख्यता नहीं करना।

तो उनसे कहते हैं :– यह काल साक्षात् मोक्ष न होने की अपेक्षा निकृष्ट है, आत्मानुभवनादिक द्वारा सम्यक्त्वादिक होना इस काल में मना नहीं है, इसलिये आत्मानुभवनादिक के अर्थ द्रव्यानुयोग का अवश्य अभ्यास करना।

वही षट्पाहुड (मोक्षपाहुड) में कहा है :–

अज्ज वि तिरयणसुद्धा अप्पा झाऊण जंति सुरलोए।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वुदिं जंति ॥७७॥

अर्थ :– आज भी त्रिरत्न से शुद्ध जीव आत्मा को ध्याकर स्वर्ग लोक को प्राप्त होते हैं व लौकान्तिक में देवपना प्राप्त करते हैं, वहाँ से च्युत होकर मोक्ष जाते हैं। बहुरि........... । इसलिये इस काल में भी द्रव्यानुयोग का उपदेश मुख्य चाहिये।"

अत्यन्त प्रसन्नता की बात यह है कि सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज आचार्य कुन्दकुन्द का द्विसहस्राब्दी समारोह मनाने जा रहा है। इस सुअवसर पर उनके ग्रन्थों का भरपूर प्रचार-प्रसार होगा ही। परिणामस्वरूप अध्यात्म का प्रचार-प्रसार भी खूब होगा और शिथिलाचार पर भी यथासाध्य अंकुश लगेगा।

दि० ९ अगस्त, १९८७ ई० — रतनचंद भारिल्ल
रक्षाबन्धन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपनी बात

दक्षिण भारत और राजस्थान के ग्रन्थभण्डारों में जैन साहित्यकारों द्वारा लिखित अध्ययन और अनुसंधान के योग्य विपुल साहित्य आज भी शोध-छात्रों एवं विद्वानों की प्रतीक्षा कर रहा है। जो साहित्य जैनसमाज के स्तर पर शताब्दियों से अध्ययन, अध्यापन और स्वाध्याय का विषय रहा है, प्रकाशित भी हो चुका है, उसका भी अनुसंधानपरक अध्ययन और समुचित मूल्यांकन नहीं हो सका है। यद्यपि उसका गुणात्मक व परिमाणात्मक दृष्टि से किसी भी प्रकार कम महत्त्व नहीं है, तथापि सम्प्रदायविशेष से संबंधित होने मात्र से वह उपेक्षित बना रहा।

प्राकृत और संस्कृत भाषा तथा जिन-अध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन जिन-अध्यात्म के क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और तारे हैं। जो स्थान वेदान्त में उपनिषद और उसके भाष्यकारों का है, जिन-अध्यात्म में वही स्थान आचार्य कुन्दकुन्द और उनके व्याख्याता आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन का है; तथापि उनके व्यक्तित्व और कर्तृत्व का अनुसंधानपरक अध्ययन व समुचित मूल्यांकन जिस रूप में होना चाहिये, उस रूप में अद्यावधि नहीं हो पाया है। मेरा यह अध्ययन इस दिशा में किया गया एक लघु प्रयास है।

मेरे पूज्य पिताजी डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल के जिनशास्त्रों के गंभीर अध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन और शोधकार्य को देखकर मुझ में भी जिनशास्त्रों के अनुसंधान-कार्य करने की भावना, जब मैं हायर सैकण्डरी में पढ़ती थी, तभी से हो गई थी। जब वे कभी किसी नवागत शोधार्थी से कुन्दकुन्दादि आचार्यों पर शोध-खोज करने के लिये कहते और अपना पूरा-पूरा सहयोग देने का आश्वासन देते, तभी से मेरे मन में कुन्दकुन्दादि आचार्यों पर शोधकार्य करने की उत्सुकता जग गई थी।

इस तरह मैं मानती हूँ कि यह रुचि मेरी पैतृक एवं पारिवारिक सम्पत्ति है।

प्रस्तुत शोधाध्ययन पाँच अध्यायों में विभक्त है :–

प्रथम अध्याय में जिन-परम्परा के दो विभिन्न स्रोतों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

 CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मूलकारण बताया गया है, तदनन्तर आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रमुख संस्कृत टीकाकारों का जीवन-परिचय दिया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन के अन्तर्गत उनके बारे में प्रचलित पाँचों नाम, जन्मभूमि व तपोभूमि, गुरु, विदेहगमन, चारणऋद्धि, उनका समय व जनश्रुतियों पर विचार किया गया है। तदनन्तर कुन्दकुन्द के प्रमुख टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन, मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव और भट्टारक श्रुतसागरसूरि के नाम, समयादि पर विचार किया गया है।

द्वितीय अध्याय में आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों का सामान्य परिचय दिया गया है, जिसमें इनकी प्रसिद्ध एवं सर्वमान्य कृतियों का सार संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। आरंभ में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्यप्रणेता हैं, क्योंकि आपके पहले इस विषय पर लिखित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है; न ही इसप्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं कि इसके पूर्व कोई ग्रन्थ लिखे गये थे; अपितु ऐसे उल्लेख अवश्य प्राप्त होते हैं कि इसके पूर्व इस परम्परा के कोई ग्रन्थ नहीं लिखे गये थे।

तृतीय अध्याय में आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख संस्कृत टीकाकारों का समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र (१०वीं शताब्दी का तृतीय चरण), आचार्य जयसेन द्वितीय (१२वीं शती), मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव (१२वीं शती का उत्तरार्द्ध) एवं श्रुतसागरसूरि (१५वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध व १६वीं शती का प्रारंभ) द्वारा लिखित संस्कृत-टीकाओं की विस्तृत समीक्षा की गई है। आवश्यकतानुसार उनका परस्पर तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वर्ण्य-विषय एवं दार्शनिक विचारों का परिशीलन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग का वर्णन किया गया है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्ग है; अतः इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन एवं उसके अन्तर्गत आने वाले छह द्रव्य, नव पदार्थ, देव-शास्त्र-गुरु, भेदविज्ञान और आत्मानुभूति का विवेचन किया गया है; सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत अनेकान्त और स्याद्वाद एवं नय तथा सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत सम्यक्त्वा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चरणचारित्र, संयमाचरणचारित्र, सागार और निरागार आदि विषयों का अनुशीलन किया गया है। अन्त में उनके अकर्त्तावाद पर प्रकाश डाला गया है।

पंचम अध्याय में प्रस्तुत सामग्री के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के प्रदेय का मूल्यांकन करते हुए विषय का उपसंहार किया गया है।

अन्त में परिशिष्ट के रूप में सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची दी गई है।

इस अवसर पर आदरणीय गुरुवर डॉ० गंगाधरजी भट्ट का उपकार मैं कैसे भूल सकती हूँ, जिनके निर्देशन में यह शोधकार्य सम्पन्न हुआ है तथा जिनका पूरा-पूरा मार्गदर्शन निरन्तर प्राप्त रहा है।

जैनदर्शन की सम्पूर्ण शिक्षा एवं संस्कार देनेवाले पूज्य पिताश्री डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल का भी इसमें पूरा-पूरा सहयोग व मार्गदर्शन मिला है। मेरे पति श्री अविनाशकुमारजी का भी इस कार्य में पूरा सहयोग रहा है, उनके सक्रिय सहयोग के बिना यह कार्य संभव नहीं था। मैं इन दोनों के प्रति शब्दों में क्या आभार व्यक्त करूँ ?

अखिल भारतीय जैन युवा फैडरेशन की प्रवचन प्रसार योजना के माध्यम से मुझे कुन्दकुन्द के ग्रन्थों एवं उनकी टीकाओं पर विभिन्न विद्वानों के प्रवचन-कैसेट उपलब्ध हुये, जिससे कुन्दकुन्द के हार्द को समझने में सुविधा रही है।

इसके अतिरिक्त व्यवस्थापकगण श्री सन्मति पुस्तकालय, जयपुर; श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर; पण्डित टोडरमल स्मारक पुस्तकालय, जयपुर; हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर, हीराबाग, बम्बई; दिगम्बर जैन क्षेत्रपाल मंदिर, ललितपुर आदि से आवश्यक साहित्य सामग्री प्राप्त करने में सुविधा रही है। उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ। अन्त में, ज्ञात-अज्ञात जिन महानुभावों से प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से भावात्मक एवं सक्रिय सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है, उन सबके प्रति मैं आभार व्यक्त करती हूँ। —शुद्धात्मप्रभा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संकेत-सूची

जै०प्रा०इ०	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास
जै०सा०इति०	जैन साहित्य और इतिहास : नाथूराम प्रेमी
जै०शि०सं०	जैन शिलालेख संग्रह
जैने०सि०को०	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश : जिनेन्द्र वर्णी
ती०म०आ०	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा : डॉ० नेमिचन्द शास्त्री
प्रा०जै०इ०	प्राचीन जैन इतिहास

प्रस्तुत प्रबंध की कीमत कम करनेवाले दातार

इसके मूल्य कम करने में श्री शाह भगवानजी कॅचराभाई, थाना द्वारा ४००० प्राप्त हुए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय — १७ से ५८

आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : जीवनवृत्त

आचार्य कुन्दकुन्द १७; आचार्य अमृतचन्द्र ४३; आचार्य जयसेन ४८; मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव ५०; भट्टारक श्रुतसागरसूरि ५३।

द्वितीय अध्याय — ५९ से १८८

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन

समयसार ६४; प्रवचनसार ६४; पंचास्तिकायसंग्रह १२०; नियमसार १३९; अष्टपाहुड १५६।

तृतीय अध्याय — १८९ से २४०

आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकारों का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य अमृतचंद्र-कृत टीकाओं का समालोचनात्मक अध्ययन १८९; आचार्य जयसेन-कृत टीकाओं का समालोचनात्मक अध्ययन २०६; आचार्य अमृतचन्द्र-कृत और आचार्य जयसेन-कृत टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन २१९; मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव-कृत टीका का समालोचनात्मक अध्ययन २३३; भट्टारक श्रुतसागरसूरि-कृत टीका का समालोचनात्मक अध्ययन २३५।

चतुर्थ अध्याय — २४१ से २७४

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

सम्यग्दर्शन २४३; सम्यग्ज्ञान २६०; सम्यक्चारित्र २६९; अकर्त्तावाद २७२।

पंचम अध्याय — २७५ से २८८

मूल्यांकन एवं उपसंहार

परिशिष्ट — २८९ से २९४

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हमारे प्रमुख प्रकाशन

	मूल्य
मोक्षशास्त्र	२०.००
समयसार	१८.००
प्रवचनसार/वृहज्जिनवाणीसंग्रह	१६.००
नियमसार पंचास्तिकायसंग्रह/समयसार नाटक	१०.००
मोक्षमार्गप्रकाशक	८.००
प्रवचनरत्नाकर भाग १ या २ या ३ या ४ या ५	१०.००
ज्ञानगोष्ठी/ सत्य की खोज	६.००
भक्तामर प्रवचन	४.५०
श्रावकधर्मप्रकाश	५.५०
चिद्विलास	२.५०
पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
सिद्धचक्रविधान	९.००
अध्यात्म-रत्नत्रय/जिनवरस्य नयचक्रम् (हिन्दी)	५.००
वारहभावना : एक अनुशीलन/क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी)	५.००
धर्म के दशलक्षण	५.००
तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	६ ००
मैं कौन हूँ ?	१.२५
युगपुरुष श्री कानजी स्वामी	२.००
परमार्थवचनिका प्रवचन	२.००
अद्वितीय चक्षु/चैतन्य चमत्कार	१.००
लघु जैनसिद्धान्त प्रवेशिका	०.८०
छहढाला (सचित्र)	३.००
तीर्थंकर भगवान महावीर	०.५०
वीर हिमाचल तैं निकसी/बारहभावना (पद्य)	१.००
बालबोध पाठमाला भाग १, २ व ३ (सम्पूर्ण सैट)	२.७०
वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १, २ व ३ (सम्पूर्ण सैट)	३.५०
तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ व २ (सम्पूर्ण सैट)	२.६५
गागर में सागर/आप कुछ भी कहो	४.००
पञ्चपरमेष्ठी विधान	२.००
छहढाला (मूल)	०.५०
चौंसठ ऋद्धि विधान	२.५०
वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	४.००
तीर्थंकर भगवान महावीर	०.५०
वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर	०.२५
गोम्मटेश्वर बाहुबली	०.४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

5453

प्रथम अध्याय

आचार्य कुंदकुंद और उनके टीकाकार : जीवनवृत्त

आचार्य कुन्दकुन्द

धर्म का मूल उद्‌गम चाहे जो हो, परन्तु उसका लौकिक रूप सम्प्रदायों या उपसम्प्रदायों के रूप में ही विभक्त है। विश्व और विशेषत: भारत में धर्म और दर्शन दोनों एक-दूसरे से अनुस्यूत हैं। दर्शन के द्वारा विवेचित तत्त्व का आचरण भी धर्म के अन्तर्गत आ जाता है। धर्म के मनुष्य-सापेक्ष होने से देश-काल का प्रभाव उस पर भी पड़ता है। जैनधर्म भी इससे अछूता नहीं है।

भगवान महावीर के संघ की अविच्छिन्न परम्परा श्रुतकेवली भद्रबाहु (ई० पूर्व तृतीय शती) तक रही। श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के पश्चात् से जैन परम्परा दो विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित होना प्रारम्भ हुई।

जैन परम्परा के दो विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित होने का मुख्य हेतु श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय हुआ द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष रहा है। इस समस्त घटनाक्रम का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है, जिसका सारसंक्षेप निम्नप्रकार है :—[1]

एक वार श्रुतकेवली भद्रबाहु ससंघ उज्जैनी में आये एवं शिप्रा नदी के किनारे उपवन में ठहरे। एक दिन आहार के लिए नगर में जाते हुये उन्हें निमित्तज्ञान से आगामी द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष का ज्ञान हुआ। अत: वे ससंघ दक्षिण की ओर प्रस्थान कर गये। दुर्भिक्ष की

[1] जै० प्रा० इ०, पृ० ४७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जानकारी होने पर सम्राट चन्द्रगुप्त भी आपसे निर्ग्रन्थ दिगम्बर दीक्षा लेकर आपके साथ चल पड़े। दक्षिण की ओर जाते हुये अपनी आयु के अन्त समय का आभास होने पर आप चन्द्रगुप्त के साथ कटवप्रगिरि पर रुक गये एवं विशाखाचार्य के नेतृत्व में संघ को आगे जाने का निर्देश दिया।

जो मुनि श्रावकों के अनुरोधवश उत्तर भारत में ही रह गये थे, उन्हें दुर्भिक्ष की भीषण परिस्थितिवश मुनि-आचार के विरुद्ध वस्त्र-पात्रादि स्वीकार करने पड़े।

दुर्भिक्ष की समाप्ति पर विशाखाचार्य ससंघ वापिस आये और उन्होंने उनके शिथिलाचार को देखकर उन्हें प्रायश्चित्त कर उन प्रवृत्तियों को छोड़ने का उपदेश दिया, किन्तु स्थूलभद्रादि अनेक मुनि सुख-सुविधायुक्त इस मध्यम मार्ग को छोड़कर कठोर मार्ग अपनाने को तैयार नहीं हुये।

इसके पश्चात् यह आचार-विचार सम्बन्धी शिथिलता बढ़ती ही गई एवं यही आगे जाकर संघभेद का कारण बनी।

इसप्रकार स्पष्ट है कि विशाखाचार्य और स्थूलभद्र दोनों के गुरु अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही थे।

यही कारण है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों शाखाओं के साधु निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। निर्ग्रन्थ का अर्थ है — सर्वप्रकार के परिग्रहों से रहित।

यद्यपि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में साधुओं को लज्जा-निवारण के लिये बहुत ही साधारण वस्त्र रखने की छूट दी गई है[1] तथापि जिन शर्तों के साथ दी गई है, वह न देने के बराबर ही है। वास्तव में अशक्ति या लाचारी में ही वस्त्र का उपयोग करने की आज्ञा है। संबोध प्रकरण में बिना कारण कटिवस्त्र बाँधने वाले साधुओं को क्लीव कहा गया है।[2]

---

[1] आचरांग प्रथम श्रुत अध्ययन ६, उद्देश्य ३,
द्वितीय श्रुत अध्ययन १४, उद्देश्य १-२

[2] कीवो न कुणइ लोयं लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेई।
सोवाहणो य हिंडइ बंधइ कटिपट्टयमकज्जे ॥१४॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धीरे-धीरे आचरण सम्बन्धी भेद के साथ-साथ उनमें वैचारिक भेद भी प्रारम्भ हो गया। आचार-विचार सम्बन्धी यह शिथिलता ईसा पूर्व प्रथम शती में काफी विकृतरूप ले चुकी थी। उससमय तक आहार-विहार आदि धार्मिक क्रियाओं में कोई मर्यादा न रह गयी थी। साधुजन प्रत्येक शिथिलाचार को "आपद्धर्म" कहकर उसका पोषण करने लगे थे। धार्मिक दृढ़ता का अभाव होता जा रहा था। इसप्रकार हम देखते हैं कि ईसा पूर्व प्रथम शती तक आचार-सम्बन्धी शिथिलाचार में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी।

ऐसे समय में ही समर्थ आचार्य कुन्दकुन्द हुये। इस संदर्भ में डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल का निम्न वक्तव्य द्रष्टव्य है :–

"इस युग के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर की अचेलक परम्परा को उन जैसे तलस्पर्शी अध्यात्मवेत्ता एवं प्रखर-प्रशासक आचार्य की आवश्यकता सर्वाधिक थी। यह समय श्वेताम्बर मत का आरम्भकाल ही था। इस समय बरती गयी किसी भी प्रकार की शिथिलता भगवान महावीर के मूल मार्ग के लिये घातक सिद्ध हो सकती थी।

भगवान महावीर की मूल दिगम्बर परम्परा के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ आचार्य होने के नाते आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो उत्तरदायित्व थे। एक तो द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम (अध्यात्मशास्त्र) को लिखितरूप से व्यवस्थित करना और दूसरा शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आन्दोलन चलाना एवं कठोर कदम उठाना। दोनों ही उत्तरदायित्वों को उन्होंने बखूबी निभाया।

प्रथम श्रुतस्कन्धरूप आगम की रचना धरसेनाचार्य के शिष्य पुष्पदन्त और भूतबली द्वारा हो ही रही थी। द्वितीय श्रुतस्कन्धरूप परमागम का क्षेत्र खाली था। मुक्तिमार्ग का मूल तो परमागम ही है। अतः उसका व्यवस्थित होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था; जिसे कुन्दकुन्द जैसे प्रखर आचार्य ही कर सकते थे।

जिनागम में दो प्रकार के मूलनय बताये गये हैं – निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक। समयसार व नियमसार में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता से एवं प्रवचनसार व पंचास्तिकाय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक की मुख्यता से कथन करके उन्होंने अध्यात्म और वस्तुस्वरूप – दोनों को बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। उनके ये महान ग्रन्थ आगामी ग्रन्थकारों को आज तक आदर्श रहे हैं, मार्गदर्शक रहे हैं।

अष्टपाहुड़ में उनके प्रशासक रूप के दर्शन होते हैं। इसमें उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे। इसमें उन्होंने श्वेताम्बर मत का जिस कठोरता से निराकरण किया है, उसे देखकर कभी-कभी ऐसा विकल्प आता है कि कहीं इसे पढ़कर हमारे श्वेताम्बर भाई उनके अध्यात्म से भी दूर न हो जायें। पर यह हमारा भ्रम ही है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को पढ़कर विगत दो हजार वर्ष में जितने श्वेताम्बर बन्धुओं ने दिगम्बर मत स्वीकार किया है, उतने किसी अन्य द्वारा नहीं। कविवर पं० बनारसीदासजी एवं आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसके जाने-माने उदाहरण हैं।[1]"

गिरि गिरनार पर आपका श्वेताम्बराचार्य के साथ विवाद भी हुआ था। तब कुन्दकुन्दाचार्य ने पाषाणनिर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था।[2]

कवि वृन्दावन के उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य संघ सहित गिरनार की यात्रा के लिये गये थे। वहाँ पर उन दिनों श्वेताम्बरों का भी संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों में वाद-विवाद हुआ और इसकी मध्यस्थता अम्बिका देवी ने की। उसने प्रगट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ पथ ही सच्चा है।[3]

---

[1] नियमसार प्रस्तावना, पृष्ठ २०

[2] (अ) पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्रीसरस्वती॥
जैनसिद्धान्त भास्कर : भाग १, किरण ४, पृ० ५८

(ब) कुन्दकुन्दगणी येनोज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवदाद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ॥ पा० पु०

[3] ती० म० आ०, भाग २, पृ० १०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार के अनेकों अन्य भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस विवाद में दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द की विजय हुई थी।

उक्त उल्लेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय तक दिगम्बर और श्वेताम्बर के मन्दिर एक ही थे, मूर्तियां समान व एक ही थीं। जैसा कि नाथूरामजी प्रेमी ने कहा है :—

"इस बात के भी प्रमाण हैं कि प्राचीनकाल में दिगम्बर और श्वेताम्बर प्रतिमाओं में कोई भेद न था। प्रायः दोनों ही नग्न प्रतिमाओं को पूजते थे। मथुरा के कंकाली टीले में, जहाँ लगभग २००० वर्ष प्राचीन प्रतिमायें मिली हैं, वे नग्न हैं और उन पर जो लेख हैं, वे कल्पसूत्र की स्थिरावली के अनुसार हैं।[१]"

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु के दिवंगत हो जाने पर उनके शिष्यों में से कुछ शिष्यों की आहार–विहारादि क्रियाओं में परिस्थिति के अनुसार शिथिलाचार का समावेश हो गया था। उन्होंने गुरु जैसी कठोर आचार्य परम्परा को छोड़कर मध्यम मार्ग का सहारा ले लिया था, जो कि कुन्दकुन्द के समय तक विचार सम्बन्धी विभिन्न भेदों के साथ एक मत का रूप लेने लगा था। अतः ईसा पूर्व प्रथम शती में इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी कि श्रुतकेवली भद्रबाहु की मूल आचार-विचार परम्परा को कायम रखने के लिये उसे लिपिबद्ध किया जाय। यही कारण है कि तत्कालीन परिस्थिति को देखकर आचार्य कुन्दकुन्द ने सिद्धान्तों को गाथाओं में लिपिबद्ध किया। अष्टपाहुड़ में मुनि-आचार में आनेवाली शिथिलता का प्रत्येक दृष्टिकोण से विचारकर जोरदार खण्डन एवं स्त्रीमुक्ति आदि विचारों का दृढ़ता से निषेध किया।

यही कारण है कि आप दिगम्बर जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि हैं, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्य रचनाकार हैं, जिन-अध्यात्म के जाज्वल्यमान रवि हैं। रवि तो उदित होने के पश्चात् अस्त हो जाता है, पर आप तो ऐसे 'रवि' हैं, जो उदित हुये तो २००० वर्षों से आज तक अपने ग्रन्थज्ञानरूप किरणों से प्रकाशित हो रहे हैं।

---

[१] जै० सा० इ० : पृ० ४६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैनाचार्य ग्रन्थों का अध्ययन आरम्भ करने के पूर्व आपको बड़ी श्रद्धापूर्वक निम्नप्रकार स्मरण करते हैं :–

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।"

उक्त छन्द में भगवान महावीर और गौतम गणधर के बाद एक मात्र आचार्य कुन्दकुन्द का ही समस्त आचार्य परम्परा में नामोल्लेख पूर्वक स्मरण किया गया हैं एवं शेष सभी आचार्यों को आदि शब्द से ही ग्रहण कर लिया गया है।

दिगम्बर जिन मन्दिरों में विराजमान लगभग समस्त जिन-मूर्तियों पर भी 'कुन्दकुन्दान्वय' उल्लेख पाया जाता है।

२००० वर्षों से आज तक लगातार दिगम्बर जैन साधु अपने आपको कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव का अनुभव करते रहे हैं।

आपके परवर्ती ग्रन्थकारों ने आपको श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हुये अपने ग्रन्थों की प्रामाणिकता के लिये आपके पद्यों को उद्धृत किया है, ग्रन्थों के प्रणयन में आपके ग्रन्थों की विषय-वस्तु को आधार बनाया है।

आपके उपलब्ध ग्रन्थों में समस्त जिनागम का सार समाहित हो गया है। कोई भी विषय ऐसा न था जो कि आपकी लेखनी से अछूता रहा हो। अधिक क्या कहें ? यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि परवर्ती समस्त ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार आपके अनुजीवी हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रभाव एवं कार्य से जैनसमाज जितना परिचित और उपकृत है, उनके जीवन-विवरण से उतना ही अपरिचित।

आपने अपनी अमूल्य कृतियों में कहीं भी ऐसा कुछ नहीं लिखा, जो आपके जीवनवृत्त पर प्रकाश डालता हो। अपने में ही मग्न रहनेवाले निष्पृही सन्तों का स्वभाव कुछ ऐसा ही होता है कि जगत-जन के हितार्थ करुणाविगलित हो जहाँ वे हजारों पृष्ठ लिख देने पर भी संतुष्ट नहीं होते, वहाँ अपने जीवन के संदर्भ में एक शब्द भी लिखने का भाव उन्हें नहीं आता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अद्वितीय प्रतिभा एवं आन्तरिक पवित्रता के धनी सन्तों का मौन भी तो उनके निरभिमानी व्यक्तित्त्व की विशेषताओं की कुछ न कुछ अभिव्यक्ति दे ही जाता है, पर आपने किस समय किस स्थल को अलंकृत किया, आपके गुरु कौन थे और आपको समाज किन-किन नामों से अभिहित करता था ? आदि जीवन एवं व्यक्तित्व संबंधी विशेषताओं को जानने के लिये हमें ऐतिहासिक लेखों, शिलालेखों प्रशस्तिपत्रों, परम्परागत कथाओं एवं परवर्ती ग्रन्थकारों के उल्लेखों पर ही निर्भर करना पड़ता है ।

नाम

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन के संबंध में जो भी जानकारी उपलब्ध है, वह सब दीक्षोपरान्त की ही है। मुनिदीक्षा लेने के पूर्व उनका नाम क्या था – अभी तक यह अज्ञात ही है। इस संबंध में न तो उन्होंने स्वयं कोई उल्लेख किया और न अन्य उल्लेख प्राप्त होते हैं । उनके उपलब्ध नाम इसप्रकार हैं :–

१. **पद्मनन्दी** :– नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय आपका नाम पद्मनन्दी रखा गया था । जैसा कि चन्द्रगिरि के स्तम्भ पर उत्कीर्ण निम्नांकित पंक्ति से स्पष्ट है :–

"तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिः प्रथमाभिधानः[1]"

अपने गहन अध्ययन एवं स्वानुभूति-सम्पन्न दृढ़ चारित्र के बल पर आपने अल्पकाल में ही जो प्रतिष्ठा अर्जित की थी, उसके परिणामस्वरूप अल्पवय में ही आपके सबल कन्धों पर 'आचार्य' जैसे उत्तरदायी पद का भार आ पड़ा और आप मुनि पद्मनन्दी से आचार्य पद्मनन्दी हो गये ।

'श्रवणबेलगोला' में प्राप्त अनेक महत्त्वपूर्ण शिलालेखों में आपको पद्मनन्दी नाम से अत्यधिक सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है ।[2]

---

१ जै० शि० सं० : लेख नं० ४०

२ चित्रं सम्प्रति पद्मनंदिनिह कृतं तावकीनं तपः ।
पद्मनन्द्यापि विजुतप्रमद इत्यासंस्सिता नम्रतां ॥
– जै० शि० सं० लेख नं० ४०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शिलालेखों के अतिरिक्त परवर्ती ग्रन्थकारों ने भी आपको इस नाम से सम्मानपूर्वक स्मरण किया है।[1]

२. **कुन्दकुन्दाचार्य** :– कालान्तर में यही पद्मनन्दी आचार्य कुन्दकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुये हैं।

इस नाम की प्रसिद्धि के मूल में दो कारण रहे हैं :–

१. दक्षिण भारत में व्यक्ति के नाम के आरम्भ में ग्राम का नाम लिखने का प्रचलन है।

२. पूज्य पुरुषों का नाम लेने में भारतीय समाज में सहज संकोचवृत्ति होने से भारतीय जनता महापुरुषों को ग्रामादिक के नाम से या अन्य उपाधियों से संबोधित करती रही है।

भारतीय जैन समाज के श्रद्धास्पद आचार्य पद्मनंदी कोण्डकुन्द पुर के वासी होने से कुन्दकुन्दाचार्य नाम से विश्रुत हो गये।

'कोण्डकुन्दपुर के आचार्य' – यह अर्थ रखने वाले इस नाम में 'आचार्य' पद नाम का ही अंग है। शिलालेखों में भी 'आचार्य शब्दोत्तर कौण्डकुन्द[2]' लिखा मिलता है, जो इस बात को सूचित करता है कि आचार्य शब्द है अन्त में जिसके ऐसे कुन्दकुन्द अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य।

उक्त नामों के अतिरिक्त विदेह घटना से संबंधित इनके तीन अन्य नामों का उल्लेख एवं तत्संबंधी घटनाओं का उल्लेख भी मिलता है।

नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के शिलालेख में निम्न पद्य मिलता है :–

---

[1] (क) जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामि········।

– दर्शनसार, आचार्य देवसेन, श्लोक ४३

(ख) जयउरिसि पउमणंदि जेण··········।

– तात्पर्यवृत्ति (समयसार टीका): आचार्य जयसेन, ग्रन्थ के अन्त में।

(ग) श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैः

– तात्पर्यवृत्ति (पंचास्तिकाय टीका): आचार्य जयसेन, ग्रंथ के प्रारंभ में।

[2] जै० शि० सं०, लेख सं० ४२, ४३, ४७, ५०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पंचधा ।।[1]"

नन्दिसंघ की पट्टावली में भी उक्त पाँचों नाम निर्दिष्ट हैं ।[2]

षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने अपनी टीका के अन्त में उक्त पाँचों नामों का उल्लेख निम्नप्रकार किया है :–

"श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छाचार्य नामपंचकविराजितेन................"

३. गृद्धपिच्छाचार्य :– गृद्धपिच्छाचार्य नाम के संबंध में ज्ञानप्रबोध में निम्नलिखित कथा का उल्लेख है :–

जब कुन्दकुन्दाचार्य विदेह गये तो मार्ग में उनकी मयूरपिच्छिका गिर गई, तब उन्होंने गृद्ध के पंखों की पिच्छिका से काम चलाया । इसी घटना से उनका 'गृद्धपिच्छाचार्य' नाम प्रसिद्ध हुआ ।[3]

४. एलाचार्य :– सीमन्धर स्वामी के समोसरण में पूर्वविदेह के चक्रवर्ती सम्राट ने इन्हें मुनियों में सबसे छोटा देखकर 'एलाचार्य' (छोटा आचार्य) नाम से नमस्कार किया ।[4]

---

[1] तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा
– डॉ० नेमीचन्द शास्त्री, पृष्ठ १०२

[2] (क) श्री मूलसंघऽजनि नन्दिसंघस्तस्मिन् बलात्करगणेऽतिरम्य ।
तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ।।
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छो इति तन्नाम पंचधा ।।
– जैनसिद्धान्त भास्कर भाग १, किरण ४, पृ० ९०

(ख) पट्टे तदीये मुनि मान्यवृत्तौ, जिनादिचन्द्रः समभूततन्द्रः ।
ततोऽभवत् पंचसुनामधामा, श्रीपद्मनन्दिः मुनि चक्रवर्ती ।।
आचार्य कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दी वितायते ।।
– जैं० सि० को० : जिनेन्द्र वर्णी, भाग २, पृष्ठ १२६

[3] (क) प्रा० जैं० इ०, पृष्ठ ९२
(ख) जैनाचार्य, पृष्ठ १९

[4] प्रा० जैं० इ०, पृ० ९२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५. वक्रग्रीवाचार्य :– विदेह से आने पर आचार्य महोदय सिद्धान्त के अध्ययन में इतने तन्मय हो गये कि उन्हें अपने शरीर का भान नहीं रहा। अथक परिश्रम करते हुये उन्हें समय का भी कुछ ध्यान नहीं रहा। गर्दन झुकाये हुये वे अपने अध्ययन में इतने व्यस्त रहे कि अध्ययन की उत्कंठा के कारण उनकी गर्दन टेढ़ी पड़ गई और लोग उन्हें 'वक्रग्रीव' नाम से पुकारने लगे। जब उन्हें अपनी इस अवस्था का भान हुआ, तब योगसाधना द्वारा उन्होंने अपनी ग्रीवा ठीक कर ली।[1]

समस्त उपलब्ध साक्ष्यों पर दृष्टिपात करने पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि उनका मूल नाम पद्मनन्दी है और सर्वाधिक प्रयोग आनेवाला प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दाचार्य है। विगत दो हजार वर्षों से वे अधिकांशतः इसी नाम से जाने जाते रहे। पद्मनन्दी नाम का प्रयोग भी यदा-कदा ही हुआ है। शेष नाम तो मात्र उपाधि के रूप में ही प्रयुक्त हुये हैं। उनके संबंध में मतैक्य भी नहीं है। उनके नाम से जो 'अन्वय'[2] या 'आम्नाय' चले, वे भी 'कुन्दकुन्दान्वय' या 'कुन्दकुन्दाम्नाय' ही कहे जाते हैं। उपलब्ध दिगम्बर जिन प्रतिमाओं में से अधिकांश में उक्त 'अन्वय' या 'आम्नाय' का उल्लेख अवश्य पाया जाता है।[3]

जन्मभूमि एवं तपोभूमि :

अपने ग्राम के नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त आचार्य कुन्दकुन्द के जन्मस्थान के संबंध से यह तो निश्चित ही है कि ये कौण्डकुन्दपुर के थे। इसकी पुष्टि अनेक उल्लेखों एवं शिलालेखों से होती है।

श्रुतावतार के रचयिता श्री इन्द्रनन्दि ने आचार्य पद्मनन्दी को कुन्दकुन्दपुर का निवासी बताया है।

---

[1] जैनाचार्य, पृष्ठ १६

[2] भव्यजनहृदयानंदरु कोण्डकुन्दान्वयगगनमार्तण्डरु..........

—जै० शि० सं०, लेख नं० ४२

[3] वही, लेख नं० ४०, ४१, ५४, ५५, १०५, १०८, ११३, १२२, १३२, ३१७, ३१८, ३१९, ३२०, ३२४, ३२७, ४२१, ४२६, ४३०, ४७१, ४८६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ५ मील पर 'कोनकोण्डल' नाम का स्थान है, जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है।

शिलालेखों में इसका प्राचीन नाम कौन्डकुण्दे मिलता है। इस प्रदेश के निवासी इसे आज भी कौण्डकुन्दे कहते हैं।

कन्नड़ में कुण्ड और कौण्ड शब्द का अर्थ पहाड़ी होता है, किन्तु जब ये शब्द किसी स्थान के साथ संबद्ध होते हैं तो उनका अर्थ होता है – पहाड़ी या उसके निकट बसा हुआ स्थान।

उक्त अर्थ प्रकृत स्थान के साथ पूरा घटित होता है। वर्तमान में भी यह स्थान एक पहाड़ी के बिल्कुल निकट है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आपका जन्मस्थान कौण्डकुन्दपुर था।

'पोन्नूर' नामक ग्राम में आपने तप किया था। वहीं से विदेह-क्षेत्र गये थे, एवं समयसारादि ग्रन्थराजों की रचना भी वहीं की थी। पोन्नूर का अर्थ होता है – सोना, अतः इसे 'हेमग्राम' भी कहते हैं। यह मद्रास प्रेजीडेन्सी के मलयप्रदेश में स्थित है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि इनकी जन्मभूमि 'कौण्डकुन्दपुर' और तपोभूमि 'पोन्नूर' है। (पोन्नूर=उत्तर आर्काड़ जिला – तमिलनाडु)

गुरु :–

कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने गुरु का उल्लेख स्वयं किया है। बोधपाहुड़ की जिन गाथाओं के आधार पर यह कहा जाता है, वे गाथायें निम्न हैं :–

"सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ।।६१।।
बारसअंग वियाणं चउदसपुव्वंगविउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरू भयवओ जयउ ।।६२।।

जो जिनेन्द्रदेव ने कहा है, वही भाषासूत्रों में शब्दविकाररूप से परिणमित हुआ है। उसे भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही जाना है और कहा भी वैसा ही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बारह अंगों और चौदहपूर्वों का विपुल विस्तार करनेवाले श्रुतज्ञानी गमकगुरु भगवान भद्रबाहु जयवन्त हों।"

उक्त गाथाओं में कुन्दकुन्दाचार्य ने श्रुतकेवली भद्रबाहु को गमकगुरु के रूप में स्मरण किया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उनके साक्षात् गुरु नहीं थे। यदि साक्षात् गुरु होते तो 'गमक-गुरु' कहने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। अतः यही संभावना अधिक है कि वे उनके परंपरागत गुरु थे अर्थात् कुन्दकुन्द श्रुतकेवली भद्रबाहु की परंपरा में दीक्षित हुये थे और उन्हीं की परंपरा का बोध उन्हें प्राप्त हुआ था।

इस तरह के प्रयोग भारतीय समाज में आज भी पाये जाते हैं। इसप्रकार की चर्चा करते हुये लोग कहीं भी देखे जा सकते हैं कि हम महावीर की सन्तान हैं। यह सुनकर यह तो नहीं माना जा सकता है कि कहने वाले के पिता भगवान महावीर रहे होंगे।

भगवान महावीर की अचेलक परम्परा में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय जो संघभेद के बीज पड़ गये थे, कुन्दकुन्द के समय तक वे दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में निश्चित आकार ग्रहण कर चुके थे। भगवान महावीर के मूल मार्ग की सुरक्षा के लिये श्वेताम्बर मत का दृढ़ता से खण्डन करनेवाले आचार्य कुन्दकुन्द को यह आवश्यक ही था कि वे यह जाहिर करते कि वे अन्तिम श्रुतकेवली के ही असली उत्तराधिकारी हैं, उनके पास उन्हीं का बताया हुआ असली मूल मार्ग है। इसी भाव को अभिव्यक्ति देते हुए उन्होंने भद्रबाहु को गमकगुरु के रूप में स्मरण किया है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि भद्रबाहु आपके साक्षात् गुरु नहीं हैं, तो फिर आपके साक्षात् गुरु कौन हैं? आपने किससे दीक्षा ली थी?

इस संदर्भ में दो नाम सामने आते हैं:-

१. कुमारनन्दी, और २. जिनचन्द्र

जहाँ एक ओर प्राभृतत्रय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय की टीका में 'कुमारनन्दी सिद्धान्तदेव' को कुन्दकुन्द के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुरु के रूप में स्मरण किया है[1] तो दूसरी ओर नन्दिसंघ की पट्टावली में समागत कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु का नाम जिनचन्द्र मिलता है। पट्टावली में समागत कुन्दकुन्दाचार्य की गुरुपरम्परा इसप्रकार है :–

भद्रबाहु > गुप्तिगुप्त > माघनन्दी > जिनचन्द्र > कुन्दकुन्द ।

संभव हैं कि कुमारनन्दी और जिनचन्द्र एक ही व्यक्ति रहे हों। नन्दीसंघ में दीक्षित होते समय उनका नाम कुमारनन्दी तथा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर आप जिनचन्द्र नाम से प्रतिष्ठित हुये हों। चूंकि नन्दिसंघ की पट्टावली में आचार्यों की गुरुपरंपरा बताई है, अत: उन्होंने जिनचन्द्र नाम देना उचित समझा हो। इस संदर्भ में नियमसार की प्रस्तावना में समागत निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है :–

"..........हो सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समान उनके दीक्षागुरु के भी दो नाम रहे हों। नन्दिसंघ में दीक्षित होते समय बालब्रह्मचारी अवयस्क होने के कारण उनका नाम कुमारनन्दी रखा गया हो, बाद में पट्ट पर आसीन होते समय वे 'जिनचन्द्राचार्य' के नाम से विश्रुत हुये हों[2]"

विदेहगमन एवं चारणऋद्धि :–

आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन एवं चारणऋद्धि[3] सम्बन्धी अनेक उल्लेख मिलते हैं :–

षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि (१४वीं शती) ने अपनी टीका के अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन एवं चारणऋद्धि का स्पष्ट उल्लेख किया है।[4]

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह : जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति, पृष्ठ १

[2] डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, नियमसार प्रस्तावना, पृष्ठ १४

[3] जैनशास्त्रों में जो अनेक ऋद्धियाँ बताई हैं, उनमें एक चारणऋद्धि भी है। पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर आकाश में सैकड़ों योजन तक गमन करने को चारणऋद्धि कहते हैं।

[4] "श्रीपद्मनंदि..........नामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वं विदेह पुण्डरीकिणी नगरवन्दित सीमन्धरापरनामस्वयंप्रभजिनेन्द्र तत्श्रुतज्ञान ...." – अष्टपाहुड़ : मोक्षपाहुड़, प्रशस्ति, पृ० ३७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह के टीकाकार आचार्य जयसेन (१२वीं शती) ने कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की घटना को 'प्रसिद्धकथा' कहा है।[1]

पंचास्तिकायसंग्रह की टीका की उत्थानिका में ब्रह्मदेव (१२वीं शती) ने भी इसका प्रसिद्धकथा कहकर उल्लेख किया है।[2]

आचार्य देवसेन (१०वीं शती) ने दर्शनसार में कुन्दकुन्दाचार्य के विदेहगमन की चर्चा करते हुये कहा है कि सीमंधरस्वामी के समोसरण में जाकर दिव्यज्ञान प्राप्त किया था।[3]

उक्त ग्रन्थ पूर्व-रचित गाथाओं का संकलन है, जैसा कि ग्रन्थकर्ता स्वयं कहते हैं :-

"पुव्वायरियकयाइं गाहाइं संचिउण एयत्थ।[4]

अर्थात् यह पूर्वाचार्यकृत गाथाओं का संकलन है।"

उक्त कथन से सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्दाचार्य की विदेहगमन संबंधी घटना की चर्चा दसवीं शताब्दी के पूर्व भी जनसामान्य में प्रचलित थी एवं अन्य ग्रन्थों में भी इससे संबंधित गाथायें विद्यमान थीं, पर दुर्भाग्य से वे काल का ग्रास बन चुकी हैं।

न केवल ग्रन्थकार आचार्यों ने ही, अपितु शिलालेखों में भी आपको चारणऋद्धि का धारी बताया गया है।[5]

श्रवणबेलगोला के शिलालेखों में कुन्दकुन्दाचार्य के अतिरिक्त उमास्वामी (द्वितीय शताब्दी) और पूज्यपाद (पंचम शताब्दी)

---

[1] "श्रीकुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञसीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गत-दिव्यवाणी श्रवणावधारित..........श्रीकौण्डकुन्दाचार्यदेवैः.........."

— आचार्य जयसेन : पंचास्तिकाय टीका, मंगलाचरण

[2] अथ श्रीकुमारनन्दि..........व्याख्यानं कथ्यते।

— जैन हितैषी, भाग १०, अंक ६–७, पृ० ३७५

[3] आचार्य देवसेन, दर्शनसार, गाथा ४३

[4] आचार्य देवसेन, दर्शनसार, गाथा ४९

[5] "..........श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्सत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः॥

— जै० शि० सं०, लेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के विदेहगमन के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं, जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय विदेहगमन कोई अद्‌भुत बात नहीं, अन्य आचार्य भी उत्कृष्ट साधना के बल पर विदेह गये थे।

डॉक्टर सुषमा गाँग की यह कल्पना किसी भी स्थिति में उचित प्रतीत नहीं होती कि विदेहक्षेत्र उमास्वामी या पूज्यपाद गये होंगे और उनके साथ घटित घटना से कुन्दकुन्द का नाम भी जुड़ गया है या जोड़ दिया गया है।[१] क्योंकि कुन्दकुन्द दोनों आचार्यों से पूर्ववर्ती हैं। संभावना यह तो हो सकती है कि कुन्दकुन्द की घटना उमास्वामी या पूज्यपाद के साथ जुड़ गयी हो, पर यह संभव नहीं कि उमास्वामी के साथ घटित घटना कुन्दकुन्दाचार्य के साथ जुड़ी हो। एक-दूसरे के साथ जुड़ने की निरर्थक कल्पना से लाभ भी क्या है ? जबकि तीनों आचार्यों के पृथक्-पृथक् उल्लेख उपलब्ध हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द के विदेहगमन की बात को किंवदन्ती कहकर भी नहीं उड़ाया जा सकता है, क्योंकि एक हजार वर्षों से भी अधिक प्राचीन शिलालेखों एवं उल्लेखों की उपेक्षा करना इतिहास के महत्त्वपूर्ण सूत्र को खो देने जैसा अपराध होगा।

साहित्य के इतिहास की खोज में हजारों वर्ष प्राचीन शिलालेखों और साहित्यिक उल्लेखों से भिन्न और किसप्रकार के प्रमाणों की अपेक्षा रखी जा सकती है, जिनके अभाव में उक्त घटना को हम अप्रमाणिक कहकर उपेक्षा करना चाहते हैं।

अतः यह बात स्पष्ट ही है कि कुन्दकुन्दाचाय सशरीर विदेहक्षेत्र गये थे।

समय :–

कुन्दकुन्दाचार्य के समय का निर्णय भी उत्तरकालीन उल्लेखों के आधार पर ही किया जाता है, क्योंकि इस संदर्भ में उन्होंने स्वयं किसी भी प्रकार का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस संदर्भ में विद्वान एकमत नहीं हैं। कोई तो उन्हें ईसा पूर्व तृतीय शती तक ले जाते हैं तो कोई ईसा की छठी शताब्दी का बताते हैं। इसप्रकार आठ-नौ

---

१ डॉ० सुषमा गाँग : कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि, पृ० ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शताब्दी के मध्य अनेक मत हैं। हम किसी भी निर्णय पर पहुँचें, इसके पूर्व कतिपय महत्त्वपूर्ण मतों की संक्षिप्त जानकारी कर लेना आवश्यक है :–

ईसा पश्चात् छठी शताब्दी :– डॉ० के० वी० पाठक के मतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य विक्रम संवत् ५८५ (५२८ ईस्वी) के लगभग हुये हैं।[1] अपने मत की पुष्टि करते हुये उन्होंने शक संवत् ७१९ एवं ७२४ (७९७ ई० एवं ८०२ ई०) में राष्ट्रकूटवंशी राजा तृतीय गोविन्द के समय लिखे हुये ताम्रपत्रों में प्राप्त निम्न पद्यों को आधार बनाया :–

"आसीद् तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मलीग्राममाश्रितः॥
निराकृततमोऽराति स्थापयन् सत्पथे जनान्।
स्वतेजोद्योतित क्षौणिचरार्कश्चरिव यो बभौ॥
तस्याभूत पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान गणाग्रणीः।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता॥
कोण्डकुन्दान्वयोदारो गणोऽभूद भुवनस्तुतः।
तदैतद् विषयविख्यातं शाल्मलीग्रामवसम्॥
आसीद तोरणाचार्यस्तपः फलपरिग्रहः।
तत्रोपशमसंभूत भावनापास्तकल्मशः॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति बभूव भूवि विश्रुतः।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य समलश्चन्द्रमा इव॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिनिर्भरस्तदोषो व्यपेत हृदयमलः।
परिभूतचन्द्रबिम्बस्तच्छिष्योऽभूत्प्रभाचन्द्रः॥[2]"

उक्त पद्यों में कहा है कि कोण्डकुन्दान्वय के तोरणाचार्य मुनि शाल्मली ग्राम में आकर रहे। उनके शिष्य पुष्पनन्दी और उनके शिष्य प्रभाचन्द्र हुये।

इसके आधार पर पाठकजी का कहना है कि शक् संवत् ७१९ (७९७ ईस्वी) के शिलालेख में उल्लिखित प्रभाचन्द्र के दादागुरु

---

[1] षट्प्राभृत संग्रह : सं. नाथूराम प्रेमी, प्रका०–बम्बई, भूमिका, पृ० १७
[2] कुन्दकुन्दप्राभृतसंग्रह प्रस्तावना, पृ० १६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तोरणाचार्य शक् संवत् ६०० के लगभग रहे होंगे। तोरणाचार्य कुन्दकुन्दान्वय में हुये हैं, अतः कुन्दकुन्द का समय उनसे १५० वर्ष पूर्व अर्थात् शक् संवत् ४५० (५२८ ई०) मानने में कोई हानि नहीं हैं।

उक्त मत की पुष्टि में पाठकजी एक अन्य हेतु भी प्रस्तुत करते हैं :–

पंचास्तिकाय संग्रह के कन्नड़ी टीकाकार बालचन्द्र और संस्कृत टीकाकार जयसेनाचार्य ने लिखा है कि यह ग्रन्थ आचार्य कुन्दकुन्द ने शिवकुमार महाराज के प्रतिबोध के लिये लिखा था।

पाठकजी के अनुसार ये शिवकुमार शिवमृगेश वर्मा हैं, जो कि शक संवत् ४५० (५२८ ई०) में हुये थे। अतः इनके उद्देश्य से रचित ग्रन्थ के कर्ता भी इसीसमय अर्थात् शक संवत् ४५० (५२८ ई०) में हुये होंगे।

इसप्रकार उक्त आधारों पर डॉ० के. पी. पाठक ने कुन्दकुन्दाचार्य को छठी शताब्दी का स्वीकार किया है।

ईसा संवत् तृतीय शती :– पण्डित नाथूरामजी प्रेमी ने इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य को तृतीय शताब्दी का माना है।[1]

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् ३ केवली ६२ वर्षों तक रहे, ५ श्रुतकेवली १०० वर्षों तक रहे, ११ दशपूर्वी १८३ वर्षों तक रहे, ५ एकादश अंगी २२० वर्षों तक रहे और १ एकअंगी ११८ वर्षों तक रहे। इसप्रकार ईसा से ५२७ वर्ष पूर्व महावीर के निर्वाण के पश्चात् अंगज्ञान ६८३ वर्षों तक रहा, इसके पश्चात् अंगों के और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता चार आचार्य हुये। उसके पश्चात् अर्हद्बलि, माघनन्दी और धरसेन हुये। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृत के ज्ञाता थे। धरसेनाचार्य के शिष्य भूतबलि व पुष्पदन्त ने अपने गुरु से ज्ञान प्राप्त कर षट्खण्डागम की रचना की। इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्दाचार्य ने गुरु परंपरा से प्राप्त कर इस पर १२००० श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक टीका ग्रन्थ की रचना की।

---

[1] कुन्दकुन्दाचार्य : नाथूराम प्रेमी, जैन हितैषी, भाग १, अंक ६-७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस आधार पर प्रेमीजी ने निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाण ६८३ बाद हुये हैं। धरसेन, उच्चरणाचार्य आदि के समय को ५०-५० वर्ष मान लेने पर कुन्दकुन्द का समय तीसरी शताब्दी का अन्तिम चरण सिद्ध होता है।

प्रेमीजी ने अन्य प्रमाण प्रस्तुत करते हुये कहा है कि उर्ज्जयन्त गिरि पर श्वेताम्बरों के साथ शास्त्रार्थ हुआ था। कुन्दकुन्द के सूत्र-पाहुड़ से भी यह ज्ञात होता है कि आपके समय में जैन परम्परा में श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद हो गये थे।

देवसेन के दर्शनसार के अनुसार श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद विक्रम की मृत्यु के १३६ वर्ष के बाद हुआ था।[1] प्रेमीजी ने इसे शीलवाहन शकाब्द मानकर १३६+१३५=२७१ विक्रम संवत् में संघभेद माना है।

इसप्रकार प्रेमीजी का मत है कि कुन्दकुन्द का समय विक्रम की तृतीय शताब्दी का अन्तिम चरण अर्थात् ईसा की तृतीय शताब्दी का प्रथम चरण है।

जुगलकिशोरजी मुख्तार ने भी इन्द्रनन्दी के श्रुतावतार को आधार मानकर उक्त मत की पुष्टि की है।[2]

प्रेमीजी के समान यह भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुन्दकुन्दाचार्य वीर निर्वाण संवत् ६८३ वर्ष से पहले नहीं हुये, पीछे हुये हैं। कितने पीछे हुये हैं – यह स्पष्ट करने के लिये उन्होंने लिखा है कि यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्य के बाद होनेवाले विनयधारी आदि चार आरातीय मुनियों का एकत्र समय २० वर्ष का और अर्हद्बलि, माघनन्दी, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्द के गुरु का स्थूल समय १०-१० वर्ष ही मान लिया जाय तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्दाचार्य उस समय से ८० वर्ष बाद (६८३+२०+६०=७६३) वीर निर्वाण ७६३ में हुये हैं। यह समय उस समय के करीब ही पहुँच जाता है, जो समय विद्वज्जन-

---

[1] दर्शनसार : देवसेन, गाथा ११

[2] रत्नकरण्ड श्रावकाचार : सम्पा० – जुगलकिशोरजी मुख्तार, भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला बम्बई, प्रस्तावना पृ० १५८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बोधक में उद्धृत पद्य में दिया है। इस पद्य में लिखा है कि कुन्दकुन्द और उमास्वामी वीर-निर्वाण के ७७० वर्ष बाद (२४४ ई० में) हुये हैं।

इन्होंने नन्दिसंघ की पट्टावली के आधार पर वीर निर्वाण से भूतबलि पर्यन्त ६८३ वर्ष का समय माना है। आपका कहना है कि भूतबलि के बाद कुन्दकुन्दाचार्य के प्रादुर्भाव के लिये कम से कम २०-३० वर्ष की कल्पना और करनी होगी, क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य को दोनों सिद्धान्तों का ज्ञान गुरुपरिपाटी के द्वारा प्राप्त हुआ था। इसप्रकार कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण ७०३ से ७१३ के करीब हो जाता है। किन्तु यदि यहाँ मान लिया जाय कि वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष के अनन्तर ही कुन्दकुन्द हुये हैं तो यह कहना अनुचित न होगा कि ये विक्रम संवत् २१३ के बाद हुये हैं, उससे पहले नहीं।

इसप्रकार पं० नाथूराम प्रेमी और जुगलकिशोरजी मुख्तार ने कुन्दकुन्दाचार्य को तृतीय शताब्दी माना है।

प्रथम शताब्दी :– डॉ० ए. चक्रवर्ती नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर कुन्दकुन्दाचार्य को प्रथम शताब्दी का विद्वान मानते हैं।[1]

अपने मत का समर्थन करने हेतु डॉ० चक्रवर्ती ने इस बात पर बल दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविण संघ के थे। आप मन्त्रलक्षण नामक ग्रन्थ से निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करते हैं :–

"दक्षिणदेशे मलये हेमग्रामे मुनिर्महात्माऽसीत्।
एलाचार्यो नामा द्रविण गणाधीशो धीमान्॥"

प्रो० चक्रवर्ती का कहना है कि श्लोक में कथित प्रदेश द्रविण देश में खोजे जा सकते हैं और कुन्दकुन्द द्रविण देश के वासी थे तथा उनका नाम एलाचार्य था।

जैन परम्परा के अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थ कुरल के रचयिता थे। एलाचार्य ने कुरल को रचा और उनके शिष्य तिरूवल्लूवर को दे दिया और उसने उसे मदुरासंघ को भेंट कर दिया।

---

[1] पंचास्तिकायसार : संपा० – ए० चक्रवर्ती. अंग्रेजी. प्रस्तावना, पृ० ५
(प्राभृत संग्रह, प्रस्तावना, पृ० १७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एलाचार्य का दूसरा नाम एलालसिंघ था। एलालसिंघ तिरूवल्लूवर का साहित्यिक संरक्षक माना जाता है।

कुरल के कर्ता के साथ एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्द की एकरूपता कुरल को ईसा की प्रथम शताब्दी में ला रखती है।

कुरल शिलप्पदिकारम् और मणिमेखला से प्राचीन है। शिलप्पदिकारम् की रचना वंजी के चेरवंशी राजा संगुत्तुवनसेण के छोटे भाई ने की थी और मणिमेखले की रचना उसी के समकालीन मित्र कुलबनिकनसत्तनर ने की थी। देवी मंदिर शिलप्पदिकारम् की प्रतिष्ठा के समय श्री लंका का गजबाहु उपस्थित था। अत: कुरल उससे भी प्राचीन है। इसलिये इससे भी कुन्दकुन्द के पट्टावली प्रतिपादित समय का ही समर्थन होता है।

इन्होंने पल्लवराजवंश के शिवस्कन्द को शिवकुमार मानने पर जोर दिया है, क्योंकि स्कन्द और कुमार पर्यायवाची हैं। अन्य परिस्थितियों से भी उन्होंने एकरूपता सिद्ध की है। पल्लवों की राजधानी कांजीपुरम् में थी। ये थोण्डमण्डलम् पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानों की भूमि माना जाता था। कांजीपुरम् के शासक ज्ञान के भी संरक्षक थे। ईसा के प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर आठवीं शताब्दी तक कांजीपुरम् के चारों ओर जैनधर्म का प्रचार होता रहा है। इसके अतिरिक्त 'मयोडबोलु' दानपत्र की भाषा प्राकृत है। इस दानपत्र को शिवस्कन्द वर्मा ने प्रचारित किया है। इसकी विषय-वस्तु और भाषा मथुरा के अभिलेखों से मिलती-जुलती है। अत: प्रो० चक्रवर्ती ने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द ने जिस शिवकुमार महाराज के लिये प्राभृतत्रय लिखे थे, वह संभवत: पल्लव वंश का शिवस्कन्द वर्मा है। ये ईसा की प्रथम शती में हुये हैं. अत: स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य भी इसी समय हुये होंगे।

इनके अनुसार कुन्दकुन्द का जन्म ईसा पूर्व ५२ में हुआ था, ईसा पूर्व ८ में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुये थे। ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० माह तक वे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य पद पर रहे, उनकी सम्पूर्ण आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन थी ।[1]

डॉ० ए० एन० उपाध्ये आचार्य कुन्दकुन्द को प्रथम शताब्दी का मानते हैं ।[2] पर वे प्रो० चक्रवर्ती द्वारा दिये गये उक्त तर्कों को को संदिग्ध स्वीकारते हैं । उपाध्येजी का कहना है कि कुन्दकुन्द द्वारा कुरल के कर्तृत्व की बात संदेहास्पद है । कुरल के कर्ता एलाचार्य हो सकते हैं, मगर कुन्दकुन्द का नाम एलाचार्य था—यह सिद्ध नहीं होता, अतः कुरल के कर्तृत्व के आधार पर कुन्दकुन्द का समय निश्चित करना सुसंगत नहीं है ।

इसीप्रकार डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने शिवकुमार महाराज को पल्लववंशी स्वीकार करते हुये प्रो० चक्रवर्ती द्वारा मान्य शिवकुमार महाराज और शिवस्कन्द की एकता स्वीकार करते हैं । पर पल्लववंश का समय अनिर्णीत होने से यह कुन्दकुन्द के कालनिर्णय का ठोस आधार नहीं है ।

इसप्रकार ए० चक्रवर्ती के आधारों की निर्बलता सिद्ध करने के पश्चात् उपाध्येजी ने अपने मत की पुष्टि में निम्न तर्क प्रस्तुत किये हैं :—

कुन्दकुन्दाचार्य भद्रबाहु प्रथम (ईसा पूर्व ३००) के शिष्य थे ।

भद्रबाहु के समय श्वेताम्बर, दिगम्बर संघभेद का प्रादुर्भाव हो चुका था एवं विक्रम की द्वितीय शताब्दी में यह स्थिति आ गई थी कि इस विषय पर खुलकर चर्चा होने लगी थी, अतः कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में इनकी चर्चा स्पष्टरूप से की है एवं स्थल-स्थल पर स्त्रीमुक्ति निषेध आदि की भी चर्चा की है । अतः कुन्दकुन्द का समय ऐसे समय के लगभग होना ही अधिक प्रतीत होता है ।

---

१ टिप्पणी :—प्रो० चक्रवर्तींच्या मते आचार्यांच्या जन्म ई० स० पूर्वे ५२ व्या वर्षी झाला होता आणि इं स० पूर्वे आठ्व्या वर्षी ते आचार्य—पदावर आरूढ झाले होते । अष्टपाहुड़ : प्रकाशक मोतीलाल मलुकचन्द दोशी ।
—श्रुतसागर ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, प्रस्तावना, पृ० ५

२ प्रवचनसार : प्रस्तावना, ए० एन० उपाध्ये : प्रस्तावना, पृ० १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार आप कुन्दकुन्द को ईसा की प्रथम शताब्दी का विद्वान मानते हैं। जैसाकि उन्होंने कहा है :–

"I am inclined to believe, after this long survery of the available material, that kundkunda's age lies at the beginning of the christian era.[1]"

ईसापूर्व तृतीय शती :–

बोधपाहुड़ में समागत गाथाओं के आधार पर कुछ मनीषी कुन्दकुन्द को श्रुतकेवली भद्रबाहु का शिष्य मानकर ईसापूर्व तृतीय शती में हुये श्रुतकेवली भद्रबाहु का समकालीन मानते हैं।

समीक्षा :–

पांचवीं शताब्दी के मध्य में होनेवाले आचार्य पूज्यपाद ने अपने सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में बारस अणुवेक्खा की पाँच गाथायें ज्यों की त्यों क्रम में उद्धृत की हैं। अतः स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दाचार्य पाँचवीं शताब्दी के पूर्व ही हुये होंगे, पश्चात् नहीं।

शक संवत् ३८८ (४६६ ई०) में उत्कीर्ण मर्करा के ताम्रपत्र में कोण्डकुन्दान्वय की परम्परा में होनेवाले छह पुरातन आचार्यों का गुरु-शिष्य के क्रम में उल्लेख मिलता है।[2] किसी भी आचार्य का अन्वय इसकी मृत्यु के तत्काल बाद आरम्भ नहीं होता। उसे आरंभ होने में कम से कम १५० वर्ष लगे हों – ऐसा मान लिया जाय और छहों आचार्य एक के बाद एक क्रम से हुये हों तो उनके समय में कम से कम ५० वर्ष का अन्तर माना जाय तो भी कुन्दकुन्दाचार्य ईस्वी सन् १६ में विद्यमान थे – यह सिद्ध होता है।

---

[1] प्रवचनसार : प्रस्तावना, ए० एन० उपाध्ये : प्रस्तावना, पृ० २२

[2] "श्रीमान् कोंडाणि – महाधिराज अविनीत नामधेयदत्तस्य देसिगगणं कोण्डकुन्दान्वय – गुणचन्द्रभट्टारकशिष्यस्य अभयणंदिभटारतस्य शिष्यस्य शीलभद्रभटारशिष्यस्य जनाणंदिभटारशिष्यस्य गुणनंदिभटारशिष्यस्य वन्दणन्दिभटार्गे अष्ट-असीति-उत्तरस्य त्रयो शतस्य समवत्सरस्य माघमासे.........."

– जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० १०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त मत का समर्थन कतिपय शिलालेखों से भी होता है, जिनमें कुन्दकुन्द को उक्त समय के आसपास ही बतलाया गया है।

पट्टावली के अनुसार ईसा पूर्व ८ में कुन्दकुन्द को आचार्य पद प्राप्त हुआ था।[1] इस अवस्था में इनका जन्म ईसा पूर्व ५२ में होना चाहिये, क्योंकि पट्टावली के अनुसार ये ११ वर्ष गृहस्थ अवस्था में एवं ८५ वर्ष मुनि अवस्था में रहे और ४४ वर्ष की अवस्था में इन्हें आचार्य पद मिला था। इसप्रकार कुल इन्होंने ९६ वर्ष की आयु पाई थी।

अभिधान राजेन्द्र कोश में कुन्दकुन्दाचार्य का परिचय देते हुये विक्रम संवत् ४९ में उनकी विद्यमानता स्वीकार की है।[2]

कुछ शिलालेखों के अनुसार संवत्सर माघ शुक्ला ५, ईसा पूर्व १०८ में इनका जन्म हुआ था। ११ वर्ष की अल्पायु में श्रमण मुनि दीक्षा ली तथा ३३ वर्ष तक मुनि पद पर रहकर ज्ञान और चारित्र की सतत साधना की। ४४ वर्ष की आयु में (ईसा पूर्व ६४) चतुर्विध संघ ने उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। वे ५१ वर्ष, १० मास, १५ दिन इस पद पर विराजमान रहे। उन्होंने ९५ वर्ष, १० मास, १५ दिन की दीर्घायु पाई और ईसा पूर्व १२ में समाधिमरण द्वारा स्वर्गारोहण किया।[3]

इसप्रकार उक्त उल्लेखों को देखते हुये उन्हें प्रथम शताब्दी के बाद का माना जाना किसी भी स्थिति में संभव नहीं है।

इसके पूर्व उन्हें कब तक का माना जा सकता है — इस दृष्टि से विचार करें तो इन्हें ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी के पूर्व का तो किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता है और न कोई मानता ही है, क्योंकि इन्होंने ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में होनेवाले श्रुतकेवली भद्रबाहु को स्मरण किया है।[4]

---

[1] प्राचीन जैन इतिहास III, सूरत, पृ० ९१

[2] "……………कुन्दकुन्दाचार्य इतितत्पट्टावल्यां शिष्यपरम्परा अयमाचार्यो विक्रम संवत् ४९ वर्षे वर्तमान आसीत्।"

[3] विक्रमादित्य : डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० १६१

[4] अष्टपाहुड़ : कुन्दकुन्द, बोधपाहुड़, गाथा ६१-६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः भद्रबाहु के पूर्व की तो कल्पना ही असंभव है। डॉ सुषमा गाँग का यह उल्लेख कि – "जैन धर्मावलम्बियों में प्रचलित परम्परा के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य ईसा से ८ शताब्दी पूर्व ३३ वर्ष की आयु में आचार्य पद पर आसीन हुये,[1] सम्पूर्णतः निराधार है, क्योंकि इसप्रकार का कोई भी कथन कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इतने पुराने तो भगवान महावीर भी नहीं है। लगता है, 'ईसा पूर्व ८' संबंधी उल्लेख को 'ईसा पूर्व ८ वीं शतीं' समझ लिया गया है।

'गमकगुरु' के रूप में स्मरण किये जाने से उन्हें ईसा पूर्व तृतीय शती का भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि गमकगुरु का अर्थ परम्परा गुरु ही हो सकता है – यह बात पहले स्पष्ट की ही जा चुकी है।

उक्त कथन के आधार पर यदि उन्हें भद्रबाहु की तीन-चार पीढ़ी बाद का मानें तो फिर वही समय आ जाता है, जो पट्टावली में उल्लिखित है।

उक्त सम्पूर्ण चिन्तन के आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ईसा पूर्व प्रथम शती के उत्तरार्द्ध एवं ईसा पश्चात् प्रथम शती के पूर्वार्द्ध में भारतभूमि अलंकृत कर रहे थे।

जनश्रुतियाँ :–

आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन से संबंधित कुछ कथाओं का उल्लेख मिलता है। ज्ञानप्रबोध में प्राप्त कथा का संक्षेपसार इसप्रकार है :–

"मालवदेश में राजा कुमुदचन्द्र राज्य करता था। उसकी रानी का नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्य में कुन्दश्रेष्ठी नाम का वणिक रहता था। उसकी पत्नी का नाम कुन्दलता था। उनके एक कुन्दकुन्द नाम का पुत्र था। बालकों के साथ खेलते हुए उस बालक ने एक दिन उद्यान में बैठे हुये जिनचन्द्र नामक मुनिराज के दर्शन किये और उनके उपदेश को अनेक नर-नारियों के साथ बड़े ही ध्यान से सुना।

[1] कुन्दकुन्दाचार्य के प्रमुख ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि डॉ० सुषमा गाँग. प्रस्तावना पृष्ठ १०-११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्यारह वर्ष का बालक कुन्दकुन्द उनके उपदेश से इतना प्रभावित हुआ कि वह उनसे दीक्षित हो गया। प्रतिभाशाली शिष्य कुन्दकुन्द को जिनचन्द्राचार्य ने ३३ वर्ष की अवस्था में ही आचार्य पद प्रदान कर दिया।

बहुत कुछ गहराई से चिन्तन करने पर भी कोई ज्ञेय आचार्य कुन्दकुन्द को स्पष्ट नहीं हो रहा था। उसी के चिन्तन में मग्न कुन्दकुन्द ने विदेहक्षेत्र में विद्यमान तीर्थंकर सीमंधर स्वामी को नमस्कार किया।

वहाँ सीमंधर भगवान के मुख से सहज ही 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' प्रस्फुटित हुआ। समवशरण में उपस्थित श्रोताओं को बहुत आश्चर्य हुआ। नमस्कार करने वाले के बिना किसको आशीर्वाद दिया जा रहा है? — यह प्रश्न सबके हृदय में सहज ही उपस्थित हो गया था। भगवान की वाणी में समाधान आया कि भरतक्षेत्र के आचार्य कुन्दकुन्द को यह आशीर्वाद दिया गया है।

वहाँ कुन्दकुन्द के दो मित्र चारणऋद्धिधारी मुनिराज उपस्थित थे। वे आचार्य कुन्दकुन्द को वहाँ ले गये। मार्ग में कुन्दकुन्द की मयूरपिच्छिका गिर गई, तब उन्होंने गृद्धपिच्छि से काम चलाया। वे वहाँ सात दिन रहे। भगवान के दर्शन और दिव्यध्वनि-श्रवण से उनकी समस्त शंकाओं का समाधान हो गया।

कहते हैं कि वापिस आते समय वे कोई ग्रन्थ भी लाये थे, मगर वह रास्ते में ही गिर गया। तीर्थों की यात्रा करते हुए वे भरतक्षेत्र में आ गये। उनका धर्मोपदेश सुनकर सात सौ स्त्री-पुरुषों ने दीक्षा ली।

कुछ समय पश्चात् गिरि गिरनार पर श्वेताम्बरों के साथ उनका विवाद हो गया, तब ब्राह्मीदेवी ने स्वीकार किया कि निर्ग्रन्थ दिगम्बर मार्ग ही सच्चा है।[1] अन्त में वे अपने शिष्य उमास्वामी को आचार्य पद प्रदान कर स्वर्गवासी हो गये।

---

[1] "कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवतात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥"
— पाण्डवपुराण : शुभचन्द्राचार्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) एक कथा पुण्यास्रवकथाकोश[1] में भी आती है, जिसका सार इसप्रकार है :–

"भरतखण्ड के दक्षिण देश में "पिडथनाडू" नाम का प्रदेश है। इस प्रदेश के अन्तर्गत "कुरुमरई" नाम के ग्राम में करमण्डु नाम का धनिक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम श्रीमती था। उनके यहाँ मतिवरन् नाम का एक ग्वाला था, जो उनके पशुओं को चराया करता था। एक दिन जब वह पशुओं को जंगल में ले जा रहा था, तब उसने बड़े आश्चर्य से देखा कि सारा जंगल जलकर भस्म हो गया है, किन्तु मध्य के कुछ वृक्ष हरे-भरे हैं। उसे उसका कारण जानने की बड़ी उत्सुकता हुई। वह उस स्थान पर गया तो उसे ज्ञात हुआ कि यह किसी मुनिराज का निवास-स्थान है और वहाँ एक पेटी में आगम ग्रन्थ रखे हुये हैं। वह पढ़ा-लिखा नहीं था। उसने सोचा कि आगम ग्रन्थ के कारण ही यह स्थान आग से बच गया है। अतः वह उन्हें बड़े आदर से घर ले गया। उसने उन्हें अपने मालिक के घर पर एक पवित्र स्थान में विराजमान कर दिया और प्रतिदिन उनकी पूजा करने लगा।

कुछ दिनों के पश्चात् एक मुनि उनके घर पधारे। सेठ ने उन्हें बड़े भक्तिभाव से आहार दिया। उसी समय उस ग्वाले ने वह आगम ग्रन्थ उन मुनि को प्रदान किया। उस दान से मुनि बड़े प्रसन्न हुये और उन्होंने उन दोनों को आशीर्वाद दिया कि यह ग्वाला सेठ के घर में उसके पुत्ररूप में जन्म लेगा। तबतक सेठ के कोई पुत्र नहीं था। मुनि के आशीर्वाद के अनुसार उस ग्वाले ने सेठ के घर में पुत्ररूप में जन्म लिया और बड़ा होने पर वह एक महान मुनि और तत्त्वज्ञानी हुआ। उसका नाम कुन्दकुन्दाचार्य था।"

इसके बाद विदेह जाने की कथा भी पूर्ववत् वर्णित है।

(३) इसी से मिलती-जुलती कथा 'आराधना कथा कोश' में भी प्राप्त होती है।[2]

---

[1] गोपालदास जीवाभाई पटेल : कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न उपोद्घात, पृ० १२ भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

[2] कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह, प्रस्तावना, पृ० ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दन्तकथा कहकर उक्त प्राचीनतम जनश्रुतियों की उपेक्षा संभव नहीं है, क्योंकि जनश्रुतियों में इससे अधिक और क्या वास्तविकता खोजी जा सकती है। जनश्रुतियों में इतिहास जैसी सुनिश्चित तिथियों, तथ्यों आदि की उपलब्धि तो अपेक्षित हो ही नहीं सकती।

कुछ भी हो, पर उक्त जनश्रुतियाँ आचार्य कुन्दकुन्द के व्यक्तित्व एवं समाज पर उनके प्रभाव को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त करती हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र

आत्मानुभवी दिग्गज विद्वान् महान आध्यात्मिक संत आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा अनेक गंभीर ग्रन्थराजों का प्रणयन हुआ है। आचार्य कुन्दकुन्द के गंभीरतम ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह पर आपने आत्मख्याति, तत्त्वदीपिका, समयव्याख्या नामक सशक्त टीकायें लिखी हैं, जो आज इन पर उपलब्ध समस्त टीका-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रचलित एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्व हजार वर्षों तक कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर कोई टीका न लिखी गई हो – यह संभव प्रतीत नहीं होता। आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाओं की प्रौढ़ता के सामने वे टिक न सकीं और स्वयं ही काल-कवलित हो गई हों – यही संभावना प्रतीत होती है। जिसप्रकार वटवृक्ष की छाया में अन्य पेड़-पौधों का पनपना संभव नहीं हो पाता, उसीप्रकार अमृतचन्द्र कृत टीकाओं के रहते हुए भविष्य में भी आचार्य जयसेन के अतिरिक्त कोई इन ग्रन्थों पर टीका करने का साहस नहीं कर सका। यदि किसी ने प्रयास भी किया तो वे अमृतचन्द्र की टीकाओं का अनुवाद मात्र होकर रह गई हैं। जयसेन की टीकायें भी अमृतचन्द्रीय टीकाओं से आक्रान्त हैं। इस बात का विशेष स्पष्टीकरण यथासमय होगा ही।

आचार्य अमृतचन्द्र न केवल समर्थ टीकाकार ही थे, अपितु मौलिक चिन्तक भी थे। 'लघुतत्त्वस्फोट' और 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' तो आपके मौलिक चिन्तन एवं काव्य-प्रतिभा के अनुपम उदाहरण हैं ही, किन्तु आपकी टीकाओं में भी आपकी मौलिकता एवं काव्य-प्रतिभा के दर्शन पग-पग पर होते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अमृतचन्द्र मूलत: अनुभूतिमूलक आचार्य हैं। वे शिष्य के प्रश्नों का उत्तर भी प्राय: अनुभूति के आधार पर देते हैं। आपकी कृतियों पर स्वानुभूति सर्वत्र छाई दिखाई देती है। 'आत्मख्याति' की रचना से भी आप निज परिणति की परम विशुद्धि ही चाहते हैं। जैसा कि निम्नांकित छन्द से स्पष्ट है :–

"पर परिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावाद–
विरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु,
समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः॥ [1]

स्वभाव से ही शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति मेरे इस आत्मा की वर्तमान परिणति मोहोदय से किंचित् कलुषित हो रही है, इस समयसार की व्याख्या से वह परिणति परम विशुद्धता को प्राप्त हो – मेरी यही भावना है।

नाम :–

प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका, समयसार की आत्मख्याति एवं पंचास्तिकायसंग्रह की समयव्याख्या नामक टीकाओं की अन्तिम प्रशस्ति में आप अपने नाम का उल्लेख 'अमृतचन्द्रसूरि' के रूप में करते हैं।[2]

'सूरि' शब्द का अर्थ आचार्य होता है। यद्यपि आचार्य पद है, तथापि वह आपके नाम के साथ इसप्रकार घुलमिल गया है कि वह आपके नाम का अंश ही बन गया है। यही कारण है कि उन्हें स्वयं अपने नाम के साथ इस विशेषण का उल्लेख करते कोई संकोच नहीं हुआ।

आचार्य मुनियों के संघ का प्रधान होता है, संघाधिपति होता है। संघ के समस्त साधु-साध्वी उसके अनुशासन में रहते हैं। वह एक प्रकार से संघ का प्रशासक होता है, मार्गदर्शक होता है। आज से २१८ वर्ष पूर्व हुये आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी आचार्य का स्वरूप बताते हुये लिखते हैं –

---

[1] आत्मख्याति, कलश ३

[2] आत्मख्याति, कलश २७८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"उनमें (मुनियों में) जो सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके संघ में नायक हुये हैं, तथा जो मुख्य रूप से तो निर्विकल्प स्वरूपाचरण में ही मग्न हैं और जो कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव याचक उनको देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते हैं, जो दीक्षा-ग्राहक हैं, उनको दीक्षा देते हैं, जो अपने दोषों को प्रगट करते हैं, उनको प्रायश्चित्त विधि से शुद्ध करते हैं। ऐसे आचरण अचराने वाले आचार्य उनको हमारा नमस्कार हो।[1]"

कुल :–

'सागारधर्मामृत', 'अनागारधर्मामृत' आदि अनेक विशाल, गंभीर ग्रन्थों को संस्कृत भाषा में निबद्ध करनेवाले बारहवीं सदी के प्रसिद्ध विद्वान पण्डित आशाधरजी ने 'अनागारधर्मामृत' की स्वोपज्ञ 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' की टीका में अमृतचन्द्र को दो स्थानों पर 'ठक्कुर' नाम से अभिहित किया है :–

(१) एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचित समयसारटीकायां द्रष्टव्यम्।[2]

(२) एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपोदमपाठीत् लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।[3]

ठक्कुर (ठाकुर) शब्द का प्रयोग क्षत्रिय राजघरानों में होता है। अतः प्रतीत होता है कि आप किसी राजघराने के क्षत्रिय कुलोत्पन्न महापुरुष थे।

समय :–

लोकप्रशंसा से दूर रहनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र के समय के बारे में कोई निश्चित जानकारी नहीं है। पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के प्रभाव, परवर्ती ग्रन्थों व ग्रन्थकारों के उल्लेखों के आधार पर हम इनके समय के बारे में कुछ अनुमान अवश्य लगा सकते हैं। कुछ

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृ० ४

[2] अनागारधर्मामृत : भव्यकुमुदचन्द्रिका, पृ० ५८८

[3] अनागारधर्मामृत : भव्यकुमुदचन्द्रिका, पृ० १६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विद्वान् इन्हें बारहवीं शती का मानते हैं, तो कुछ दशवीं का, तो कुछ दशवीं से बारहवीं के मध्य इनका समय मान लेते हैं।

'तत्त्वार्थसार' में आचार्य अमृतचन्द्र ने विक्रम सं० ७०० के सुप्रसिद्ध विद्वान न्यायवेत्ता अकलंकदेव के 'तत्त्वार्थवार्तिक' का विशेष उपयोग किया है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' के अनेक वार्तिकों को तो आपने हू-ब-हू श्लोक के रूप में निबद्ध कर दिया है। अतः सुनिश्चित है कि अमृतचन्द्र अकलंकदेव के पश्चात् हुये।

पंडित आशाधरजी द्वारा विरचित अनागारधर्मामृत की स्वोपज्ञ 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' टीका में उल्लिखित 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचित समयसारटीकायां द्रष्टव्यम्' से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि अमृतचन्द्राचार्य अनागारधर्मामृत की टीका के पूर्व हो चुके थे व उससमय वे उल्लेखनीय प्रतिष्ठा को भी प्राप्त कर चुके थे। आशाधर जैसे बहुश्रुत विद्वान उनको अत्यन्त सम्मानपूर्वक उद्धृत करने लगे थे। अनागारधर्मामृत की टीका विक्रम संवत् १३०० में समाप्त हुई थी। अतः वे इसके पूर्व ही हुए – यह स्पष्ट हो जाता है।

डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने प्रवचनसार की प्रस्तावना में तात्पर्यवृत्ति के कर्त्ता आचार्य जयसेन (द्वितीय) के समय का ईसा की बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध अर्थात् विक्रम की तेरहवीं सदी के प्रारम्भ का अनुमान किया है। और जयसेन अमृतचन्द्र की टीका से परिचित ही नहीं, उपकृत भी हुये थे; अतः जयसेन के पूर्ववर्ती होने के कारण आचार्य अमृतचन्द्र को विक्रम की बारहवीं शती के बाद का तो माना ही नहीं जा सकता।

आचार्य शुभचन्द्र ने अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का ११६वाँ श्लोक अपने ज्ञानार्णव के सोलहवें सर्ग में ६वें और ७वें श्लोक के मध्य 'उक्तं च' कहकर उद्धृत किया है। शुभचन्द्र का समय ग्यारहवीं शती माना जाता है। इसके आधार पर अमृतचन्द्र की उपस्थिति ग्यारहवीं शती के पूर्व थी – यह सहज सिद्ध होता है।

आचार्य जयसेन (प्रथम) के 'धर्मरत्नाकर' में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोक उद्धृत हैं। 'धर्मरत्नाकर' एक संग्रह ग्रन्थ है, जिसे ग्रन्थकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने अपने तथा दूसरे अनेक ग्रन्थों के पद्यों का संग्रह कर माला की तरह रचा है और इसकी सूचना उन्होंने ग्रन्थ के अन्त में इस प्रकार दी है :—

"इत्यैरुपनीतचित्ररचनैः स्वैरन्यदीयैरपि ।
भूतोऽवद्य गुणैस्तथापि रचिता मालेव सेयं कृतिः ।।"

इस ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् १०५५ में सकलीकरहाटक नगर में पूर्ण हुई थी, यह उसकी प्रशस्ति से स्पष्ट है :—

"वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे (१०५५) ।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके ।।"

अतः सिद्ध है कि अमृतचन्द्राचार्य विक्रम संवत् १०५५ के पूर्व हुए होंगे ।

पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य ने 'जैनसंदेश' शोधांक ५ में "कुछ आचार्यों के कालक्रम पर विचार" शीर्षक में अमृतचन्द्राचार्य को विक्रम संवत् १०५५ से पूर्ववर्ती कहा है ।

विक्रम की ग्यारहवीं शती के तृतीय चरण के विद्वान अमितगति के 'पंचसंग्रह' व अमृतचन्द्राचार्य के 'तत्त्वार्थसार' के अनेक श्लोक छाया-प्रतिच्छाया रूप में उपलब्ध होते हैं । जैसे, तत्त्वार्थसार का ५०वाँ व पंचसंग्रह का १४३वाँ श्लोक क्रमशः द्रष्टव्य है :—

यवनालिमसूरातिमुक्तेन्द्वर्धसमाः क्रमात् ।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युःस्पर्शनं नैकसंस्थितिः ।।५०।। त.सा.
यवनालिमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभाः ।
श्रोताक्षिघ्राण जिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधाकृतिः ।।१४३।। पं.सं.

इसीप्रकार तत्त्वार्थसार का ५३वाँ व पंचसंग्रह का १४७वाँ, तत्त्वार्थसार का ५४वाँ व पंचसंग्रह का १४८वाँ तथा तत्त्वार्थसार का ५५वाँ व पंचसंग्रह का १४९वाँ श्लोक भी द्रष्टव्य है ।

यहाँ पर पंचसंग्रहकार के लेखक पर ही तत्त्वार्थसार के लेखक का प्रभाव पड़ा है, यह कहना ही उचित है । इससे विपरीत कथन उचित नहीं, क्योंकि अमितगति द्वारा रचित अमितगति श्रावकाचार में अनेकों श्लोक अमृतचन्द्राचार्य-रचित श्रावकाचार ग्रन्थ पुरुषार्थ-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्ध्युपाय के श्लोकों से अनुप्राणित है – ऐसा तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सिद्ध होता है।

अतः अमृतचन्द्र अमितगति के पूर्ववर्ती हैं, परवर्ती नहीं। अमितगति ने अपना पंचसंग्रह विक्रम संवत् १०७३ में पूर्ण किया था, अतः अमृतचन्द्र इससे पूर्व में हुए होंगे। इन अमितगति के दादागुरु नेमिषेणाचार्य के भी गुरु अमितगति प्रथम ने योगसार की रचना की थी। यह कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृतभाषा-निबद्ध 'समयासार' का एक प्रकार से संस्कृत रूपान्तर है। इसमें पुण्य और पाप में भेदाभेद के वर्णन में तत्त्वार्थसार का अनुकरण किया है।

स्व० पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार ने तत्त्वानुशासन की अपनी प्रस्तावना में पृष्ठ ३४ पर स्वीकार किया है कि अमितगति प्रथम के योगसारप्राभृत पर भी अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं का प्रभाव लक्षित होता है। अमितगति प्रथम का समय अमितगति द्वितीय से कोई ४०-५० वर्ष पूर्व का होगा, अतः अमृतचन्द्र का समय विक्रम की १०वीं शताब्दी का प्रथम चरण अर्थात् ईसा की १०वीं शताब्दी का तृतीय चरण होना चाहिये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ईसा की दसवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुये क्षत्रिय कुलोत्पन्न आचार्य अमृतचन्द्र सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अद्वितीय टीकाकार एवं मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता, गहन तत्त्वचिन्तक एवं अनुभूतिमूलक आचार्य थे।

आचार्य जयसेन (द्वितीय)

समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकायसंग्रह पर आचार्य अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य की सशक्त टीकाओं की उपस्थिति में इन्हीं ग्रन्थों पर स्वतंत्र टीकायें लिखकर आचार्य जयसेन ने सचमुच अद्भुत साहस का परिचय दिया है। अमृतचन्द्र की मानमर्यादा एवं स्थापनाओं को सम्पूर्णतः सुरक्षित रखकर सरल भाषा में बहुत कुछ नया प्रमेय भी उपस्थित किया है। सरलता के साथ गुणस्थान परिपाटी से लिखा जाना भी जयसेन की टीकाओं की एक ऐसी विशेषता है, जो अमृतचन्द्र की टीकाओं में उपलब्ध नहीं है। इन्हीं विशेषताओं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के बल पर ही ये टीकायें अमृतचन्द्र की टीकाओं के होने पर भी टिकी रह सकी हैं।

आपकी तीनों ही टीकाओं का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है।

प्रवचनसार की टीका के अन्त में आठ पद्यों की प्रशस्ति दी गई है, जिनमें आचार्य जयसेन की गुरु-परम्परा बतानेवाले कतिपय पद्य इसप्रकार हैं :-

सूरि श्रीवीरसेनाख्यो मूलसंघेऽपि सत्तपाः।
नैर्ग्रन्थ्यं पदवीं भेजे जातरूपधरोऽपि यः ।। २ ।।

ततः श्री सोमसेनोऽभूदग्रणी गुणगणाश्रयः।
तद्विनेयोऽस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ।। ३ ।।

शीघ्रं बभूव मालु साधुः सदा धर्मरतो वदान्यः।
सूनुस्ततः साधुमहीपतिर्यस्तस्मादयं चारुभटस्तनूजः ।। ४ ।।

यः सततं सर्वविदः सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थ पुष्टात् पितुर्भक्तिविलोपभीरुः ।। ५ ।।[1]

उक्त प्रशस्ति-पद्यों से स्पष्ट है कि आचार्य जयसेन मूलसंघ के विद्वान आचार्य वीरसेन के प्रशिष्य और सोमसेन के शिष्य थे। आपके पितामह मालूसाधु एवं पिता साधु महीपति थे। आपके बाल्यकाल का नाम चारुभट था। दिगम्बर मुनि होने पर आपका नाम जयसेन हो गया। आचार्य जयसेन ने अपने गुरुओं से सर्वज्ञान प्राप्त किया था, इसीलिए उन्होंने अपने पाँचवें पद्य में 'सर्वविदः' कहा है। पिता की भक्ति को विलोप करने से भयभीत आपने प्राभृत नामक ग्रन्थ की टीका की है।

आपने अपनी टीकाओं में चारित्रसार, आचारसार, त्रिलोकसार, द्रव्यसंग्रह, तत्त्वानुशासन और लोकविभाग आदि अनेकों ग्रन्थों का उल्लेख किया है। अतः पूर्ववर्ती ग्रन्थों एवं ग्रन्थकारों के उल्लेखों एवं परवर्ती ग्रन्थकारों के प्रभाव के आधार पर आपका समय निश्चित किया जाता रहा है।

---

१ समयसार : जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति, प्रकाशक – श्री दि० जैन समाज, अजमेर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नयकीर्ति के शिष्य बालचन्द्र ने कुन्दकुन्द के तीनों ग्रन्थों पर कन्नड़ टीका लिखी हैं और उनकी टीकाओं का मूलाधार जयसेनाचार्य की टीकायें हैं।[१] बालचन्द्र की टीकायें १३वीं शताब्दी के प्रथम चरण में रची गयीं।[२] अतः निश्चित है कि आचार्य जयसेन इनसे पूर्व ही हुए होंगे, पश्चात् नहीं।[३]

चारित्रसार के रचयिता चामुण्डराय ने अपना चामुण्डपुराण शक संवत् ९०० (९७८ ई०) में समाप्त किया है।

चामुण्डराय के ही समकालीन आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने त्रिलोकसार की रचना की है। अतः स्वाभाविक है कि चारित्रसार और त्रिलोकसार का उल्लेख करने वाले आचार्य जयसेन ९७८ ई० के पश्चात् ही हुए होंगे, पूर्व नहीं।

जयसेनाचार्य ने पंचास्तिकाय[४] की टीका में वीरनन्दी के आचारसार के दो पद उद्धृत किये हैं।[५] कर्नाटककवि चरिते के अनुसार आचार्य वीरनन्दी ने अपने आचारसार पर एक स्वोपज्ञ कन्नड़ी टीका शक संवत् १०७६ (११५४ ई०) में लिखी है।[६]

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि आचार्य जयसेन द्वितीय १३वीं शती के पूर्व एवं ११५४ ई० के पश्चात् अर्थात् १२वीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान थे।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ नियमसार पर लिखित सर्वप्रथम टीका मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव की ही उपलब्ध है।

---

[१] ती० म० आ०, पृ० १४३

[२] डॉ० ए. एन. उपाध्ये : प्रवचनसार प्रस्तावना, पृ० १०४

[३] तीर्थंकर महावीर, पृ० १४३

[४] पंचास्तिकाय : तात्पर्यवृत्ति पृ० ८

[५] आचारसार : वीरनन्दी, ४/९५-९६

[६] ती० म० आ०, पृ० १४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मलधारी'[1] आपकी उपाधि थी। यह उपाधि अनेक विद्वान आचार्यों के साथ लगी देखी जाती है। जैसे – मलधारी गण्डविमुक्त-देव, मलधारी माधवचन्द्र, मलधारी बालचन्द्र आदि।[2]

नियमसार की संस्कृत टीका की वृत्ति में आपने अपने लिए तीन विशेषणों का प्रयोग किया है – 'सुकविजनपयोजमित्र', 'पंचेन्द्रिय-प्रसारवर्जित' और 'गात्रमात्र परिग्रह'[3]। इन तीन विशेषणों से ज्ञात होता है कि पद्मप्रभ सुकविजनरूप कमलों को विकसित करनेवाले मित्र (सूर्य) थे, पंचेन्द्रिय के प्रसार से रहित (जितेन्द्रिय) थे और शरीरमात्र परिग्रह के धारी (नग्न दिगम्बर) थे।

आप मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय पुस्तकगच्छ और देशीगण के विद्वान वीरनन्दी व्रतीन्द्र के शिष्य थे।[4]

आपने तात्पर्यवृत्ति में यथास्थान अनेक आचार्यों और उनके ग्रन्थों के पद्यों को ग्रन्थकर्ता का नाम लेकर या बिना किसी नामोल्लेख के भी उद्धृत किये हैं, जिनके आधार पर आपके समय का निर्धारण किया जा सकता है।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में 'तथा चोक्तं गुणभद्र-स्वामिभिः'[5] कहकर गुणभद्राचार्य के ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं।

---

१ 'मलधारी' विशेषण शरीर की स्वच्छता के विपरीत मलपरीषह की सहन-शीलता का द्योतक है।

२ जै० सा० इति०, पृ० ४०६

३ इति सुकविपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहः श्रीपद्मप्रभमल-धारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ जीवाधिकारः प्रथम-श्रुतस्कन्धः।
– ऐसा वाक्य प्रत्येक अधिकार के अन्त में दिया गया है।
आचार्य कुन्दकुन्द; नियमसार (तात्पर्यवृत्ति टीकासहित) प्रकाशक – सोनगढ़।

४ 'तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिव्रतीन्द्रम्' – इसीप्रकार इन्होंने परमार्थप्रतिक्रमणा-धिकार के अन्त में भी इन्हें स्मरण किया है, अतः प्रतीत होता है कि ये इनके गुरु थे।

५ आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार; गाथा ६२, ६३, ९०, ११५ एवं १७० की टीका के बाद के श्लोक।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणभद्रस्वामी ने अपना उत्तरपुराण शक संवत् ८२० (८९८ ई०) में समाप्त किया था।

गाथा १०१ के बाद 'उक्तं च श्रीसोमदेवपंडितदेवैः' कहकर 'यशस्तिलकचम्पू' का एक पद्य उद्धृत किया है। यशस्तिलक की रचना शक संवत् ८८१ (९५९ ई०) में हुई थी।

गाथा ७३ के बाद 'तथा चोक्तं वादिराजदेवैः' कहकर उनके ग्रंथ का एक पद्य उद्धृत किया है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र की समाप्ति शक संवत् ९४७ (१०२५ ई०) में की है।

गाथा १६४ के बाद 'श्रुतबिन्दु' ग्रंथ का उद्धरण दिया है। श्रवणबेलगोला के शक संवत् १०५० (११२८ ई०) के शिलालेख में इस ग्रंथ का उल्लेख है।[1]

अतः उक्त अन्तःसाक्ष्यों से स्पष्ट है कि पद्मप्रभमलधारिदेव ११२८ ई० के पश्चात् ही हुए हैं, पूर्व नहीं।

उक्त मत की पुष्टि मद्रास प्रान्त के 'पाटशिवरम्' ग्राम के दक्षिण प्रवेश द्वार पर स्थित एक स्तम्भ के खण्डित शिलालेख से भी होती है। इस शिलालेख में वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य पद्मप्रभ-मलधारिदेव की देहोत्सर्ग की तिथि का उल्लेख है।

'सकवर्षे सप्त खेंदु ११०७ परिमित विश्वावसुप्रान्तफाल्गुण्यक-नच्छूद्रा चतुर्थी तिथियुतभरणी सोमवारार्द्धरात्रा..............।

धिकनाड्येकांव्यदोल्लु निर्म्मलमति मल्लभ्टं नामपद्मप्रभं।
पुस्तकगच्छं मूलसंघं यतिपतिनुतदेसीगणं मुक्तनांद।

अर्थात् शक संवत् ११०७ विश्वावसु, फाल्गुन शुक्ला ४ भरणी, सोमवार को २४ फरवरी, सन ११८५ ई० को सोमवार के दिन पद्मप्रभमलधारिदेव का स्वर्गवास हुआ।[2]

---

[1] विश्वं यश्श्रुतबिन्दुनावरुद्धे भावं कुशाग्रीयया।
..............चन्द्रकीर्ति-गणिनं चन्द्राभकीर्ति बुधाः ॥३२॥
— जै० शि० स०, लेख सं०-५४, पृ० १०६

[2] परमानंद शास्त्री; जै० प्रा० इ०, भाग २, पृ० ३३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार उक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि पद्मप्रभमलधारिदेव १२वीं शताब्दी में विद्यमान थे।

नियमसार की तात्पर्यवृत्ति के प्रारम्भ में[1] और पाँचवें अध्याय के अन्त में[2] वीरनन्दी मुनि की वंदना की गई है। इसके आधार पर पं० नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि ये वीरनन्दी मुनि ही पद्मप्रभमलधारिदेव के गुरु थे, क्योंकि उक्त श्लोकों में वंदना इस रूप में की गई है, जैसे कि वीरनन्दी उनके गुरु हों।[3]

पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार की टीका के अतिरिक्त पार्श्वनाथ-स्तोत्र अप २ नाम लक्ष्मी-स्तोत्र भी लिखा है। इसके अन्तिम पद्य में कवि ने अपने को तर्क, नाटक, व्याकरण और काव्य-कौशल में विख्यात कहा है तथा अन्त में अपना नाम भी दिया है।[4]

इसप्रकार स्पष्ट है कि १२वीं शती के आचार्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने नियमसार ग्रंथ पर अपनी भावपूर्ण टीका लिखी है। आपकी टीका-शैली अमृतचन्द्राचार्य की टीका-शैली का अनुकरण करती है। आप नग्न दिगम्बर भावलिंगी संत थे।

भट्टारक श्रुतसागरसूरि

मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण में हुए श्रुतसागरसूरि ने आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित पाहुडों में से 'षट्पाहुड' पर संस्कृत टीका लिखी है।

आपके नाम के साथ प्रयुक्त 'सूरि' विशेषण अमृतचन्द्रसूरि के समान आचार्य पद का द्योतक नहीं है, न ही यहाँ 'सूरि' से तात्पर्य दिगम्बराचार्य से ही है,[5] क्योंकि आप भट्टारक और देशव्रती थे।

---

१ तद्विद्याढ्यं वीरनन्दिव्रतीन्द्रम्।

२ तस्य प्रतिक्रमणमेव सदा मुमुक्षोर्नास्त्यप्रतिक्रमणमप्यणुमात्रमुच्चैः।
तस्मै नमः सकलसंयमभूषणाय श्रीवीरनन्दिमुनिनामधराय नित्यम्॥

३ जै० सा० इ०, पृ० ४०७

४ श्रीपद्मदेवनिर्मितमिदं स्तोत्रं जगन्मंगलं.................।
— श्री पार्श्वनाथस्तोत्र : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, पद्य ९

५ अष्टपाहुड : श्रुतसागरसूरि कृत संस्कृत टीका, प्रस्तावना, पृ० १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपने स्वयं अपने को देशव्रती श्रुतसागर या ब्रह्म श्रुतसागर लिखा है।[1]

षट्पाहुड की टीका में आप अपने को कलिकाल सर्वज्ञ,[2] कलिकाल गौतम,[3] उभयभाषाकविचक्रवर्ती,[4] परमागमप्रवीण, नवनवतिमहामहावादिविजेता आदि विशेषणों से अलंकृत किया है।

आप अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान थे। आपने अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया था। आप अन्य मतों का खण्डन और विरोध करने में सतर्क रहे हैं। आप तार्किक होते हुए भी असहिष्णु भी प्रतीत होते हैं। इस संदर्भ में प्रेमीजी का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है –

ये कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत थे। अन्य मतों का खण्डन और विरोध तो औरों ने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खंडन के साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्तिपूजा न करनेवाले लोंकागच्छ (ढूढियों) पर किया है। जरूरत, गैर-जरूरत जहाँ भी इनकी इच्छा हुई है, ये उन पर टूट पड़े हैं। इसके लिए इन्होंने प्रसंग की भी परवाह नहीं की। उदाहरण के तौर पर उनकी षट्पाहुड टीका को ले लीजिये। षट्पाहुडो में इस तरह के प्रसंग प्रायः हैं ही नहीं कि उनकी टीका में दूसरों पर आक्रमण किये जा सकें, फिर भी किये गये हैं।[5]

आपने षट्पाहुड की टीका प्रारम्भ करते हुए अपने गुरु का नाम एवं मोक्षपाहुड की समाप्ति पर अपनी गुरु-परम्परा दी है तदनुसार –

आपके गुरु विद्यानन्द थे। दादा गुरु देवेन्द्रकीर्ति के गुरु पद्मनन्दि थे। विद्यानन्दि के पट्ट पर मल्लिभूषण आसीन हुये एवं उन्हीं की प्रेरणा से आपने षट्पाहुड की टीका की है। संक्षेप में आपकी गुरु-परम्परा निम्न चार्ट द्वारा समझी जा सकती है –

---

[1] नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इति०; पृ० ३७१

[2] दर्शनप्राभृत की टीका के प्रारम्भ में।

[3] दर्शनप्राभृत की टीका के अन्त में।

[4] मोक्षप्राभृत की टीका के अन्त में।

[5] नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इति०, पृ० ३७१-३७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पद्मनन्दि > देवेन्द्रकीर्ति > विद्यानन्दि

↓

प्रमुख शिष्य मल्लिभूषण श्रुतसागर

यद्यपि आपने अपने गुरु आदि का नाम अपनी कृतियों में यत्र तत्र दिया है, पर किसी भी ग्रंथ में रचना का समय नहीं दिया है; अतः अन्य उल्लेखों के आधार पर आपके समय का निर्धारण किया जाता है।

पद्मनन्दि के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति का एक अभिलेख देवगढ़ में है, जिस पर संवत् १४९३ अंकित है। ये देवेन्द्रकीर्ति श्रुतसागर के दादा गुरु थे।[1] अतः स्वाभाविक है कि श्रुतसागर १५वीं शती के पूर्ववर्ती किसी भी स्थिति में नहीं हो सकते हैं।

सूरत के एक मूर्ति-अभिलेख[2] में संवत् १४९९ और एक में संवत् १५१३ अंकित है। ये दोनों मूर्तियाँ देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य विद्यानन्दि (श्रुतसागर के गुरु) के उपदेश से प्रतिष्ठित हुई थी। चूँकि विद्यानन्दि आपके गुरु हैं, अतः स्पष्ट ही है कि श्रुतसागरसूरि भी आपके ही समकालीन अर्थात् संवत् १५१३ के आस-पास विद्यमान थे।

पल्यविधान की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि ईडर के राजा रावभाणजी के मंत्री भोजराज की पुत्री पुतली के साथ श्रुतसागर ने गजपंथा और तुंगीगिरि के बड़े संघ के साथ यात्रा की थी और तभी यह कथा लिखी गई। रावभाणजी ने संवत् १५०२ से १५२२ तक राज्य किया है।[3] इससे सिद्ध होता है कि संवत् १५०२ से १५२२ के मध्य श्रुतसागर विद्यमान थे।

जैनधातु-प्रतिमा-लेखसंग्रह (नं० २८६ और ६८०) में सं० १५३५ और १५२६ में भट्टारक विद्यानन्दि के उपदेश से

---

[1] भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ४२५ (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३९३)

[2] भट्टारक सम्प्रदाय, सोलापुर, लेखांक ४२५ (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृ० ३९३)

[3] नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इति०, पृ० ३७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिष्ठित की हुई दो प्रतिमाओं के लेख हैं, और ये ही विद्यानन्दि श्रुतसागर के गुरु हैं।[1]

ब्रह्म नेमिदत्त ने अपने 'आराधना कथाकोश' की प्रशस्ति में विद्यानन्दि के पट्टधर मल्लिभूषण और उनके शिष्य सिंहनन्दि का गुरुरूप में स्मरण करके[2] श्रुतसागर का जयघोष किया है।[3] ब्रह्म नेमिदत्त ने 'श्रीपाल-चरित' की रचना वि० सं० १५८५ (ई० १५२९) में की थी और उसमें श्रुतसागरसूरि द्वारा रचित "श्रीपालचरित्र" का उल्लेख करते हुये इनको पूर्वसूरि तथा उनके द्वारा रचित "श्रीपालचरित्र" को पुरारचित कहा है।[4] इससे स्पष्ट होता है कि श्रुतसागरसूरि द्वारा विक्रम संवत् १५८५ (१५२९ ई०) के पूर्व 'श्रीपालचरित' को रचा जा चुका था। अतः सिद्ध है कि श्रुतसागर १५२९ ई० के पूर्व हो चुके थे।

दूसरी बात, ब्रह्म नेमिदत्त ने गुरुरूप में सिंहनन्दि का एवं दादा-गुरु रूप में मल्लिभूषण का उल्लेख किया है; अतः यदि मल्लिभूषण का समय ब्रह्म नेमिदत्त से २० वर्ष पूर्व भी माना जाए तो उनका समय विक्रम संवत् १५६५ (१५०९ ई०) ठहरता है। श्रुतसागरसूरि ने इन्हीं मल्लिभूषण की प्रेरणा से षट्पाहुड की टीका की है, अतः स्वाभाविक है कि आप तो इसी समय के आस-पास हुये होंगे।

स्व० बाबा दुलीचन्दजी की संवत् १९५४ में लिखी गई ग्रन्थसूची में भी श्रुतसागर का समय विक्रम संवत् १५५० (१४९४ ई०) लिखा हुआ है।[5]

अतः उक्त सभी उल्लेखों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि श्रुतसागर १५वीं शती के उत्तरार्द्ध एवं सोलहवीं शती के प्रारंभ में हुये होंगे।

---

[1] नाथूराम प्रेमी : जै० सा० इति, पृष्ठ ३७५

[2] श्रीभट्टारकमल्लिभूपणगुरुर्भूयात्सतां शर्मणे, पृ० ६९

[3] जीयान्मे सूरिवर्यो व्रतनिश्चयलसत्पुण्यपण्यः श्रुताब्धिः ।।७०।।

[4] ती० म० आ०, पृ० ३९३

[5] जै० सा० इति०, पृ० ३७५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपके द्वारा रचित ३८ रचनायें प्राप्त हैं, जिनमें ८ टीका-ग्रन्थ, २४ कथाग्रन्थ और ६ व्याकरण और काव्यग्रन्थ हैं; जो कि निम्न हैं :–

१. यशस्तिलक चन्द्रिका	२. तत्त्वार्थवृत्ति
३. तत्त्वत्रयप्रकाशिका	४. जिनसहस्रनाम टीका
५. महाभिषेक टीका	६. षट्पाहुड टीका
७. सिद्धभक्ति टीका	८. सिद्धचक्राष्टक टीका
९. ज्येष्ठ जिनवर कथा	१०. रविव्रत कथा
११. सप्त परमस्थान कथा	१२. मुकुटसप्तमी कथा
१३. अक्षयनिधि कथा	१४. षोडशकारण कथा
१५. मेघमाला व्रत कथा	१६. चन्दनषष्ठी कथा
१७. लब्धिविधान कथा	१८. पुरन्दरविधान कथा
१९. दशलक्षणी व्रत कथा	२०. पुष्पांजलि व्रत कथा
२१. आकाशपंचमी व्रत कथा	२२. मुक्तावली व्रत कथा
२३. निर्दुःख सप्तमी कथा	२४. सुगन्धदशमी कथा
२५. श्रावण द्वादशी कथा	२६. रत्नत्रय व्रत कथा
२७. अनन्त व्रत कथा	२८. अशोक रोहिणी कथा
२९. मेरुपंक्ति कथा	३०. विभानपंक्ति कथा
३१. पल्लवविधान कथा	३२. तपोलक्षणपंक्ति कथा
३३. औदार्य चिन्तामणि	३४. श्रीपाल चरित्र
३५. यशोधर चरित्र	३६. श्रुतस्कन्ध पूजा
३७. पार्श्वनाथ स्तवन	३८. शान्तिनाथ स्तवन

उक्त समस्त ऊहापोह के पश्चात् निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व प्रथम शती में हुये आचार्य कुन्दकुन्द द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्य प्रणेता हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय पर ईसा की दशवीं शती में हुये आचार्य अमृतचन्द्र ने सशक्त संस्कृत टीकायें की हैं।

उक्त तीनों ग्रन्थों पर ईसा की १२वीं शती में हुये आचार्य जयसेन ने सरल संस्कृत टीका की है। १२वीं शती में हुये पद्मप्रभ-मलधारिदेव ने नियमसार पर भावपूर्ण टीका की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५वीं शती में हुये भट्टारक श्रुतसागर सूरि ने अष्टपाहुड में से प्रारंभ के षट्पाहुड पर संस्कृत टीका की है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द से लगभग १००० वर्ष पश्चात् की तो अनेंक ग्रन्थों की अनेक टीकायें उपलब्ध हैं, पर उसके पूर्व की नहीं। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र की टीकायें इतनी सशक्त, समर्थ एवं प्रभावशाली रहीं कि पूर्व की समस्त टीकायें काल-कवलित हो गईं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय अध्याय

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन

आचार्य कुन्दकुन्द-रचित उपलब्ध साहित्य इसप्रकार है :-

१. समयसार (समयपाहुड)
२. प्रवचनसार (पवयणसारो)
३. नियमसार (णियमसारो)
४. पंचास्तिकायसंग्रह (पंचात्थिकायसंग्गहो)
५. अष्टपाहुड

इनके अतिरिक्त द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) एवं दश-भक्ति भी आपकी कृतियाँ मानी जाती हैं। इसीप्रकार रयणसार और मूलाचार को भी आपकी रचनायें कहा जाता है। कुछ लोग तो कुरलकाव्य को भी आपकी कृति मानते हैं।

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है।

इसीप्रकार यह भी कहा जाता है कि आपने चौरासी पाहुड लिखे थे, किन्तु आज तक उक्त साहित्य के अतिरिक्त और कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

अष्टपाहुड में निम्नलिखित आठ पाहुड संगृहीत हैं—

(१) दंसण पाहुड (२) सुत्त पाहुड (३) चारित्त पाहुड (४) बोध पाहुड (५) भाव पाहुड (६) मोक्ख पाहुड (७) लिंग पाहुड एवं (८) शील पाहुड।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आपके ग्रन्थ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसकी चर्चा समयसार और उसकी आत्मख्याति टीका के आद्य भाषा-टीकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसप्रकार कहते हैं[1] –

---

१ हिन्दी-जैन-साहित्य के गद्य-पद्य-लेखक विद्वानों में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा का नाम उल्लेखनीय है। आपने स्वयं 'सर्वार्थसिद्धि' की टीका समाप्त करने के पश्चात् अन्तिम प्रशस्ति में अपना परिचय इसप्रकार दिया है –

"काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जनम फागई लयो सुथानि, मोतीराम पिता कैं आनि।।
पायो नाम तहां जयचंद, यह परजाय तणूं मकरंद।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूं जबै, मेरा नाम आतमा फबै।।
गोत छाबड़ा श्रावक धर्म, जामें भली क्रिया शुभ कर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिनमारग की सुधि लही।।
जाय तहां श्रद्धा दृढ़ करी, मिथ्या बुद्धि सबै परिहरी।
निमित्त पाय जयपुर में आय, बड़ी जु सैली देखी भाय।।
गुणी लोक साधर्मी भले, ज्ञानी पण्डित बहुते मिले।
पहले थे वंशीधर नाम, धरे प्रभाव भाव शुभ ठाम।।
टोडरमल पण्डित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।
ताकी महिमा सब जन करै, बांचै पढ़ै बुद्धि विस्तरै।।
दौलतराम गुणी अधिकाय, पण्डित राय राज में जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी।।
रायमल्ल त्यागी गृहवास, महाराम व्रत शील निवास।
मैं हूं इनकी संगति ठानि, बुध सारू जिनवाणी जानि।।"

उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि आपका जन्म जयपुर से डिग्गी मालपुरा रोड पर ३० मील की दूरी पर स्थित 'फागी' नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता का नाम मोतीरामजी एवं गोत्र छाबड़ा था। ११ वर्ष की अल्पवय में ही जैनधर्म की ओर आपकी रुचि हुई। २२ वर्ष की वय में जयपुर आकर रहने लगे। यहाँ पर आपको पण्डित वंशीधरजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित दौलतरामजी एवं ब्र० रायमल्लजी आदि विद्वानों का सत्समागम प्राप्त हुआ।

विक्रम संवत् १८२१ में जयपुर में इन्द्रध्वज पूजा महोत्सव का विशाल आयोजन हुआ था। इस उत्सव में पण्डित टोडरमलजी के आध्यात्मिक प्रवचन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव कृत गाथाबद्ध समयसार नामक ग्रंथ है। उसकी 'आत्मख्याति' नामक श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव कृत संस्कृत टीका है। इस ग्रन्थ की उत्पत्ति का सम्बन्ध इसप्रकार है कि अन्तिम तीर्थंकर देव सर्वज्ञ-वीतराग परमभट्टारक श्री वर्द्धमान स्वामी के निर्वाण जाने के बाद पाँच श्रुतकेवली हुये। उनमें अन्तिम श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी हुए।

वहाँ तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार-निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता रहा, बाद में कालदोष से अंगों के ज्ञान

होते थे। इन प्रवचनों का लाभ लेने को दूर-दूर से व्यक्ति आये थे। जयचंदजी छावड़ा भी इसी अवसर पर जयपुर आये थे एवं जैनधर्म की ओर पूर्णरूप से अनुरक्त होकर यहीं रहने लगे थे एवं सैद्धान्तिक गम्भीर ग्रन्थों के अध्ययन में लीन हो गये थे।

जयचन्दजी स्वभाव से सरल एवं उदार थे। वेशभूषा सादी थी। ये श्रावकोचित क्रियाओं का पालन करते थे। आप विद्याव्यसनी थे। अध्ययनार्थियों की भीड़ आपके पास सदा लगी रहती थी। मन्नालालजी, उदयचन्दजी और माणिकचन्दजी आपके प्रमुख शिष्य थे। आपके पुत्र नन्दलालजी भी सुयोग्य विद्वान थे एवं पठन-पाठनादि कार्यों में आपको सहयोग देते थे। आपके पुत्र की विद्वत्ता के संदर्भ में एक घटना का विवरण मिलता है —

एक बार जयपुर में विदेशी विद्वान के द्वारा जयपुर नगर के अधिकांश विद्वान पराजित हो गये थे; अतः राज्य-कर्मचारियों और विद्वान पंचों ने जयचन्दजी से उक्त विद्वान से शास्त्रार्थ करने की प्रार्थना की; पर उन्होंने कहा कि आप मेरे स्थान पर मेरे पुत्र नन्दलाल को ले जाइये, यही उसे शास्त्रार्थ में पराजित कर देगा। उनका कथन सत्य निकला। नन्दलालजी ने अपनी युक्तियों से उस विद्वान को परास्त कर दिया। इस अवसर पर नन्दलालजी को नगर की ओर से उपाधि भी दी गई। नन्दलालजी ने जयचन्दजी को सभी टीका-ग्रन्थों में सहायता दी है। इसका उल्लेख स्वयं जयचन्दजी सर्वार्थसिद्धि की प्रशस्ति में करते हैं —

"लिख्यो यहै जयचन्द नै, सोधी सुत नन्दलाल।
बुध लखि भूलि जु शुद्ध करी, वांचौ सिखै वो बाल।।
नन्दलाल मेरा सुत गुनी, बालपने तैं विद्या सुनी।
पंडित भयौ बड़ो परवीन, ताहू ने यह प्रेरण कीन।।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की व्युच्छित्ति होती गई और कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुये, जिनमें श्वेताम्बर हुये। उन्होंने शिथिलाचार पोषण करने के लिए अलग से सूत्र बनाये, जिनमें शिथिलाचार-पोषक अनेक कथायें लिख-कर अपना सम्प्रदाय दृढ़ किया। यह सम्प्रदाय अबतक प्रसिद्ध है।

इनके अलावा जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे, उनका आचार यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही, वे दिगम्बर कहलाये। इस सम्प्रदायानुसार श्री वर्द्धमान स्वामी को निर्वाण प्राप्त करने के ६८३ वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहु स्वामी हुये, उनकी परिपाटी में कितने ही वर्ष बाद मुनि हुये, जिन्होंने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

एक तो धरसेन नामक मुनि हुये, उनको अग्रायणी पूर्व के पाँचवें वस्तु अधिकार में महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। उन्होंने यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदन्त नाम के मुनियों को पढ़ाया। उन दोनों मुनियों ने आगामी कालदोष से बुद्धि की मंदता जानकर उस प्राभृत के अनुसार षट्खण्ड सूत्र की रचना करके पुस्तक रूप लिखकर उसका प्रतिपादन किया। उनके बाद जो मुनि (वीरसेन) हुये, उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर विस्तार से टीका करके धवल,

---

आपके द्वारा रचित रचनायें निम्नांकित हैं :-

१. सर्वार्थसिद्धि वचनिका (वि० सं० १८६१, चैत्र शुक्ला पंचमी)
२. तत्त्वार्थसूत्र भाषा
३. प्रमेयरत्नमाला टीका (वि० सं० १८६३, अषाढ़ शुक्ला चतुर्थी, बुधवार)
४. स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका (वि० सं० १८६३, श्रावण कृष्णा तृतीय)
५. द्रव्यसंग्रह टीका और दोहा मय पद्यानुवाद (वि० सं० १८६३, श्रावण कृष्णा चतुर्दशी)
६. समयसार टीका (वि० सं० १८६४, कार्तिक कृष्णा दशमी)
७. देवागम स्तोत्र टीका (वि० सं० १८६६)
८. अष्टपाहुड भाषा (वि० सं० १८६७, भाद्र शुक्ला त्रयोदशी)
९. ज्ञानार्णव भाषा (वि० सं० १८६९)
१०. भक्तामर स्तोत्र टीका (वि० सं० १८७०)
११. पद-संग्रह
१२. चन्द्रप्रभ-चरित्र (न्यायविषयिका) भाषा (वि० सं० १८७४)
१३. धन्यकुमार-चरित्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाधवल, जयधवल आदि सिद्धान्तों की रचना की। उनके बाद उन्हीं टीकाओं को पढ़कर श्री नेमिचन्द्र आदि आचार्यों ने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि शास्त्र बनाये।

इसप्रकार यह प्रथम सिद्धान्त की उत्पत्ति है। इसमें जीव और कर्म के संयोग से उत्पन्न हुई आत्मा की संसार पर्याय के विस्तार का गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि रूप में संक्षेप से वर्णन है। यह कथन तो पर्यायार्थिकनय को मुख्य करके है, इस ही नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक-नय भी कहते हैं तथा इसी को अध्यात्म भाषा में अशुद्ध निश्चयनय व व्यवहारनय भी कहते हैं।

भद्रबाहु स्वामी की परम्परा में ही दूसरे गुणधर नामक मुनि हुये। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था, उनसे उस प्राभृत को नागहस्ति नामक मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामक मुनि ने पढ़कर उसकी चूर्णिका रूप में छः हजार सूत्रों के शास्त्र की रचना की, जिसकी टीका समुद्धरण नामक मुनि ने बारह हजार सूत्र-प्रमाण की।

इसप्रकार आचार्यों की परम्परा से कुन्दकुन्द मुनि उन शास्त्रों के ज्ञाता हुये। इस तरह इस द्वितीय सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई। इसमें ज्ञान को प्रधान करके शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का कथन है। अध्यात्म भाषा में आत्मा का ही अधिकार होने से इसको शुद्ध निश्चय तथा परमार्थ भी कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौण करके व्यवहार कहकर असत्यार्थ कहा है।

इस जीव को जबतक पर्यायबुद्धि रहती है, तबतक संसार रहता है। जब इसे शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि होती है, तथा अपने आत्मा को अनादि-अनन्त, एक, सर्व परद्रव्यों व परभावों के निमित्त से उत्पन्न हुए अपने भावों से भिन्न जानता है और अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करके शुद्धोपयोग में लीन रहता है, तब यह जीव कर्मों का अभाव करके निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

इसप्रकार इस द्वितीय सिद्धान्त की परम्परा में शुद्धनय का उप-देश करनेवाले पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्मप्रकाश आदि शास्त्र हैं; उनमें समयप्राभृत नामक शास्त्र प्राकृत भाषामय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गाथा बद्ध है, उसकी आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका श्री अमृतचन्द्राचार्य ने की है। कालदोष से जीवों की बुद्धि मन्द होती जा रही है। उसके निमित्त से प्राकृत-संस्कृत के जाननेवाले भी विरले रह गये हैं तथा गुरुओं की परम्परा का उपदेश भी विरला हो गया है, अतः मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार अन्य ग्रंथों का अभ्यास करके इस ग्रंथ की देशभाषामय वचनिका करना प्रारम्भ किया है।

जो भव्य जीव इसका वांचन करेंगे, पढ़ेंगे, सुनेंगे तथा उसका तात्पर्य हृदय में धारण करेंगे, उनके मिथ्यात्व का अभाव होगा तथा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी – ऐसा अभिप्राय है, अन्य पण्डिताई तथा मान-लोभादि का अभिप्राय नहीं है।

इसमें कहीं बुद्धि की मंदता तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखा जाय तो बुद्धि के धारक ज्ञानीजन मूल ग्रन्थ देखकर शुद्ध करके वांचन करना, हास्य मत करना; क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुण-ग्रहण करने का ही होता है – यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।[1]"

इसप्रकार हम यह देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ द्वितीय श्रुतस्कन्ध की अमूल्य निधि हैं।

इस अध्याय में उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयवस्तु की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करना अपेक्षित है।

समयसार

आत्मानुभवी सन्त आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति 'समयसार' में शुद्धनय की दृष्टि से नवतत्त्वों का विवेचन किया गया है, जैसा कि अधिकारों के नाम से स्पष्ट है। ४१५ गाथाओं में निबद्ध नवाधिकारों में विभक्त इस कृति का मुख्य उद्देश्य आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है, ग्रन्थ के मूल प्रतिपाद्य को इंगित करते हुए आचार्य स्वयं कहते हैं –

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।[2]

---

[1] समयसार प्रस्तावना

[2] आचार्य कुन्दकुन्द : समयसार, गाथा ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस एकत्व-विभक्त आत्मा को मैं अपने स्ववैभव से दिखाता हूँ।"

स्पष्ट है कि पर से भिन्न, स्व से अभिन्न शुद्धात्मा का दर्शन ही इस कृति का मूल प्रतिपाद्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये इस ग्रन्थ में विभिन्न विषय समाविष्ट किये गये हैं।

इस ग्रन्थ की रचना विस्तार रुचिवाले उत्तम शिष्यों के लिये की गई थी, जैसा कि आचार्य जयसेन के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :–

"अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्य-प्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवनिर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थे[1]....

अब शुद्ध परमात्म तत्त्व के प्रतिपादन को मुख्य लेकर विस्तार में रुचि रखनेवाले शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव-निर्मित समयसार प्राभृत ग्रन्थ में.........."

इस ग्रन्थ के नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए आचार्य जयसेन इसके प्रतिपाद्य को निम्नप्रकार स्पष्ट करते हैं :–

"सम्यक् अयः बोधो यस्य स भवति समय आत्मा। अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः। प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था। समयस्य आत्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं।[2]

जिसके सम्यग्ज्ञान होता है, वह समय अर्थात् आत्मा है। अथवा एकमेक रूप से गमन का नाम समय है। प्राभृत से तात्पर्य सार से है, सार शुद्धावस्था को कहते हैं। अतः आत्मा की शुद्धावस्था का नाम 'समयप्राभृत' है अथवा समय ही प्राभृत है, अतः समयप्राभृत है अथवा प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति प्राभृतम् अर्थात् जो उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ हो, जिसमें पदार्थों का पूर्वा-पर विरोध-रहित सांगोपांग वर्णन हो, उसे 'समयप्राभृत' कहते हैं। इस ग्रन्थ में समय अर्थात् आत्मा अथवा समस्त पदार्थों का सांगोपांग वर्णन है, अतः यह समयप्राभृत है।"

---

[1] समयसार, तात्पर्यवृत्ति टीका का प्रारंभिक अंश

[2] समयसार, गाथा १ की तात्पर्यवृत्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'समय' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :- **समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्ते** अर्थात् जो एक साथ समस्त पदार्थों को जाने वही समय है।[1] अथवा **समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्ते** अर्थात् जो अपने-अपने गुण-पर्यायों के साथ एकीभाव को प्राप्त हो, वह समय है।[2]

उक्त व्युत्पत्तियों से स्पष्ट है कि शुद्धावस्थायुक्त आत्मा का वर्णन ही समयप्राभृत है अथवा आत्मा आदि नव पदार्थों का सर्वांगीण विवेचन ही समयसार है।

उक्त दोनों कथनों में अविरोधपना होने से समयपाहुड़ का प्रचलित नाम 'समयसार' भी उसी अर्थ को घोषित करता है, जिसको कि 'समयपाहुड़'। अतः दोनों ही नाम ग्रन्थ की विषयवस्तु को सूचित करनेवाले होने से सार्थक हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द-रचित इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य शुद्धात्मस्वरूप का प्रतिपादन है। अतः इसमें शुद्धनय की दृष्टि से नवतत्त्वों के कथनपूर्वक मुख्यतः शुद्धात्मा का स्वरूप वर्णित है, क्योंकि स्वरूप की पहिचान होने पर ही उसकी प्राप्ति का उपाय किया जा सकता है।

प्रस्तुत कृति लेखक की स्वयं की कल्पना नहीं, अपितु केवली एवं श्रुतकेवली कथित तत्त्व को प्रस्तुत करनेवाली है। इस संदर्भ में ग्रन्थकर्त्ता आचार्य स्वयं लिखते हैं :-

"**वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं**[3]

श्रुतकेवली कथित समय कहूँगा।"

इस ग्रन्थ पर प्रवचन करते हुए इसकी महिमा से अभिभूत होकर अध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी कहते हैं :-

"यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है। लाखों शास्त्रों का सार इसमें है; जैनशासन का यह स्तम्भ है; साधक की यह

---

[1] समयसार, गाथा २ की आत्मख्याति टीका

[2] समयसार, गाथा ३ की आत्मख्याति टीका

[3] समयसार, गाथा १ का उत्तरार्द्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर एक गाथा छठवें-सातवें गुण-स्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्म-अनुभव में से निकली हुई है। इस शास्त्र के कर्त्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेह क्षेत्र में सर्वज्ञ वीतराग श्री सीमंधर भगवान के समवशरण में गये थे और वहाँ आठ दिन रहे थे – यह बात यथातथ्य है, अक्षरशः सत्य है, प्रमाण-सिद्ध है, इसमें लेशमात्र भी शंका के लिये स्थान नहीं है। उन परम उपकारी आचार्य भगवान द्वारा रचित इस समयसार में तीर्थंकर देव की निरक्षरी ऊंकार-ध्वनि में से निकला हुआ ही उपदेश है।"[1]

आत्मरस में निमग्न रहने वाले आचार्य अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थ पर नाटक के रूप में टीका कर इसे सहज-बोधगम्य एवं सरस बना दिया है। आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा इसे नाटक का बाना पहिनाने के कारण ही कुन्दकुन्दत्रयी 'नाटकत्रयी' के नाम से भी प्रसिद्ध हो गई है।

पूर्वरंग –

पूर्वरंग में मंगलाचरण-पूर्वक ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा करने के साथ-साथ ग्रन्थ के मूल प्रतिपाद्य विषय एवं प्रतिपादन शैली का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

मंगलाचरणोपरान्त कहा गया है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित जीव स्वसमय है और पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव परसमय। एकत्व-निश्चयगत समय ही लोक में सर्वत्र सुन्दर है, यही कारण है कि एकत्व में बंध की बात विसंवाद पैदा करनेवाली है। विसंवादोत्पादक काम, भोग और बन्ध की कथा से तो सम्पूर्ण जगत परिचित है ऐसा कोई नहीं; जिसने उसे न सुना हो, उसका अनुभव न किया हो; किन्तु एकत्व-विभक्त आत्मा की बात न तो आजतक सुनी है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, न उसका अनुभव ही किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि उसी एकत्व-विभक्त आत्मा की बात मैं अपने वैभव से बताऊँगा। हे भव्य जीवो ! उसे तुम प्रमाण करना, कहीं कोई चूक रह जाय तो छल ग्रहण मत करना।

---

[1] समयसार, उपोद्घात, पृ० १४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह एकत्व-विभक्त आत्मा न तो प्रमत्त है, न अप्रमत्त ही; वह तो एक ज्ञायकस्वभावस्वरूप ही है। यद्यपि यह व्यवहार से कहा जाता है कि उसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, तथापि निश्चय से उसके न ज्ञान है, न दर्शन है, न चारित्र ही है। वह तो मात्र ज्ञायकभावरूप ही है।

जिसप्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार बिना परमार्थ का उपदेश अशक्य है। अतः ज्ञायक भाव को भी व्यवहार से भेद करके समझाना पड़ता है।

निश्चय से तो श्रुतज्ञान से मात्र आत्मा को जाननेवाला ही श्रुतकेवली है, पर व्यवहार से सम्पूर्ण श्रुत के जानकार को श्रुतकेवली कहा जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है, भूतार्थ के आश्रय से ही जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। परमभाव में स्थित जीवों को एक निश्चयनय ही ज्ञातव्य है; किन्तु जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, वे जीव व्यवहारनय द्वारा उपदेश देने योग्य हैं।

इसप्रकार १२ गाथायें तो भूमिकारूप हैं। १३वीं गाथा में नव तत्त्वों के नाम बताकर १४वीं गाथा से जीवतत्त्व की चर्चा आरंभ करते हैं।

भूतार्थनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष – ये नव तत्त्व ही सम्यक्त्व हैं। भूतार्थनय को निश्चयनय और शुद्धनय भी कहते हैं। जो आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त जानता है, वह शुद्धनय है। जो अबद्धस्पृष्टादि भावों से युक्त आत्मा को जानता है, वह एक प्रकार से सर्व जिनशासन को ही जानता है, क्योंकि समस्त जिनशासन का सार एक शुद्धात्मा ही है।

प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि साधुपुरुषों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का नित्य सेवन करना चाहिये, क्योंकि वे तीनों निश्चयनय से एक आत्मा ही हैं। जिसप्रकार धनार्थी पुरुष राजा को जानकर उसका श्रद्धान करता है और प्रयत्नपूर्वक फिर उसी का अनुचरण करता है, उसीप्रकार मोक्षार्थी को जीवरूपी राजा को जानना चाहिये, उसका ही श्रद्धान करना चाहिये एवं उसी का अनुचरण करना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म को ग्रात्मामय एवं ग्रात्मा को द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्ममय मानता है, वह ग्रज्ञानी है। ग्रज्ञानी जीव पुद्गलादि परद्रव्य व परभावों में ग्रसद्भूत ग्रात्मविकल्प करता है एवं ज्ञानी वस्तुस्वरूप को जानता हुग्रा परद्रव्य व परभावों में ग्रसद्भूत ग्रात्मविकल्प नहीं करता है।

ग्रज्ञानी को समझाते हुए ग्राचार्य कहते हैं कि उपयोगमय जीव द्रव्य यदि पुद्गल द्रव्यमय हो जाय ग्रथवा पुद्गल द्रव्य जीवत्व को प्राप्त हो तो ही पुद्गल द्रव्य को ग्रपना कहा जा सकता है, किन्तु ऐसा नहीं होता, ग्रतः परद्रव्य में ग्रात्मविकल्प करना छोड़!

उक्त कथन पर ग्रज्ञानी ग्राशंका करता है कि यदि ऐसा है तो फिर तीर्थंकरों एवं ग्राचार्यों की जो स्तुतियाँ हैं, वे सभी मिथ्या हो जाती हैं। यदि ये मिथ्या नहीं हैं तो फिर ग्रात्मा देह ही है—ऐसा हम मानते हैं।

उक्त ग्राशंका का समाधान ग्राचार्य नयविभाग द्वारा करते हुए कहते हैं कि व्यवहारनय से ही जीव ग्रौर शरीर को एक कहा जाता है, निश्चनय से नहीं; ग्रतः पुद्गलमय देह की स्तुति करके जिनदेव की स्तुति मानना व्यवहार कथन है, निश्चय कथन नहीं। निश्चय से शरीर के गुण केवली के नहीं होते, ग्रतः शरीर की स्तुति से केवली की स्तुति नहीं होती, ग्रपितु केवली के स्वद्रव्याश्रित गुणों की स्तुति से ही उसकी वास्तविक स्तुति होती है।

उक्त निर्णय कर जो जीव इन्द्रियों व मोह को जीतकर ग्रन्य द्रव्यों से पृथक् ग्रात्मा को ज्ञानमय जानते हैं, वे 'जितेन्द्रिय' ग्रौर 'जितमोही' कहलाते हैं। जब यही जितमोही साधु मोह को सत्ता में से भी क्षीण कर देता है, तब वह 'क्षीणमोह' कहलाता है।

जैसे लोक में कोई पुरुष परवस्तु को पर जानकर छोड़ देता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों एवं परभावों को पर जानकर छोड़ देते हैं। परवस्तु को पर जानकर उसका ग्रहण न करना ही त्याग है, प्रत्याख्यान है। यही कारण है कि ज्ञानी ग्रपने ग्रतिरिक्त समस्त परभावों को पर जानकर उनका ग्रहण नहीं करते हैं। इसप्रकार स्पष्ट है कि ज्ञान ही त्याग है, प्रत्याख्यान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मोह एवं धर्मादि द्रव्य मेरे कुछ नहीं हैं, मैं एक उपयोगमात्र हूँ' – ऐसा जाननेवाले को 'मोह से निर्ममत्व' एवं 'धर्मादि से निर्ममत्व' कहा जाता है।

ज्ञानी यह जानता है कि निश्चय से परमाणुमात्र परद्रव्य मेरा नहीं है, मैं तो एक शुद्ध, दर्शन-ज्ञानमय, सदा अरूपी हूँ।

इसप्रकार इन ३८ गाथाओं में आचार्य ने शुद्धनय से शुद्ध जीव का स्वरूप बताकर अज्ञानी की मान्यता एवं उस मान्यता का हेतु भी इस प्रकरण में दर्शा दिया है।

जीवाजीवाधिकार

इस अधिकार में परपदार्थों से भिन्न जीव के शुद्धस्वरूप के प्रतिपादन के साथ-साथ जीव से सम्बन्ध रखनेवाले उन सभी पदार्थों को अजीव बतलाया गया है, जो जीव के शुद्ध स्वरूप में नहीं हैं। अतः अजीव द्रव्य तो अजीव ही हैं, साथ ही साथ औपाधिक भाव भी अजीव ही हैं, किन्तु जीव का वास्तविक स्वरूप न जाननेवाले औपाधिक भावों को ही जीव मान लेते हैं। अतः आचार्य अज्ञानी द्वारा जीव माने गये औपाधिक भावों का वर्णन करते हुए उनकी मान्यता को विपरीत सिद्ध करते हैं।

जीव-अजीव – दोनों अनादिकाल से एकक्षेत्रावगाह संयोगरूप से मिले हुए हैं और अनादिकाल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकार सहित अवस्थायें हो रही हैं। परमार्थ दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि जीव अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक, जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। जो परमार्थ को नहीं जानते, वे संयोगज अध्यवसानादि भावों को ही जीव कहते हैं। परन्तु पुद्गल से भिन्न जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है। सर्वज्ञ की परम्परा को आगम से जाना जा सकता है। जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं है, वे अपनी बुद्धि से अनेक प्रकार की कल्पनायें करते हुए कहते हैं कि अध्यवसान ही जीव है, कर्म ही जीव है, नोकर्म ही जीव है, अध्यवसानों में तीव्र-मंद अनुभाग ही जीव है, कर्म का उदय ही जीव है, कर्म का फल जीव है, जीव व कर्म मिले हुए हैं एवं कर्मों के परस्पर संयोग से मिला हुआ जीव है। उक्त समस्त कथन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उचित नहीं है, क्योंकि आठों प्रकार के कर्म दुख के हेतु और पुद्गलमय हैं एवं अध्यवसानादि भाव भी पुद्गल-निष्पन्न होने से पुद्गलस्वरूप हैं, अतः ये जीव नहीं हो सकते हैं। शास्त्रों में इन भावों को व्यवहार से ही आत्मा का कहते हैं, निश्चय से नहीं। निश्चयनय से जीव के स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं हैं; शरीर, संस्थान, संहनन नहीं हैं; राग-द्वेष-मोह नहीं हैं; प्रत्यय, कर्म, नोकर्म नहीं हैं; वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक नहीं हैं; अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदय-स्थान नहीं हैं; मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धि-स्थान, संयमलब्धिस्थान नहीं हैं और न ही जीव के जीवस्थान और गुणस्थान ही हैं, क्योंकि ये पुद्गल के परिणाम हैं।

उक्त वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों का जीव के साथ संयोग सम्बन्ध है, अतः इन्हें व्यवहार से जीव का कहा जाता है, पर निश्चय से ये जीव में नहीं हैं, क्योंकि उक्त समस्त भाव उपयोग गुण से रहित हैं एवं जीव उपयोग गुणमय है।

वर्णादिभावों का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि ये भाव संसारस्थित जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। यदि इनमें तादात्म्य सम्बन्ध मानेंगे तो जीव-अजीव का भेद नहीं रहेगा एवं ऐसी स्थिति में संसार-स्थित जीव रूपित्वमय हो जायगा। रूपित्व पुद्गल का लक्षण है, अतः पुद्गल द्रव्य ही जीव कहलायेगा। ऐसा होने पर मोक्ष भी पुद्गल का ही होगा, जीव का नहीं एवं मोक्ष होने पर पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ कहलायेगा। अतः वर्णादि-भाव का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं है। जीव तो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अनिर्दिष्टसंस्थान, अशब्द, अलिंगग्रहण एवं चेतनामय है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आत्मा से उत्पन्न होनेवाले आत्मा के विभावभावों का अजीवत्व सिद्ध करना ही इस अधिकार का मूल केन्द्रबिन्दु है।

कर्त्ता-कर्म अधिकार

इस अधिकार में जीव-अजीव का स्वरूप ही कर्त्ता-कर्म की मुख्यता से वर्णित है, जिसमें अज्ञानी जीव की कर्त्ता-कर्म संबंधी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ्रान्तियों का निराकरण किया गया है तथा तथा कर्त्ता-कर्म का वास्तविक स्वरूप बताया गया है।

जब तक यह जीव आत्मा और आस्रव के भेद को नहीं जानता है, तभी तक उसकी क्रोधादिक आस्रवों में प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति जीव के कर्मबन्ध का मूल हेतु है। जब यह जीव आत्मा एवं आस्रव के भेद को जानता है, तब उसे बन्ध नहीं होता। इसप्रकार ज्ञान-मात्र से ही बन्ध का निरोध होता है, क्योंकि जब यह जीव आस्रवों को अशुचि, अध्रुव – अनित्य, अशरण, स्वभाव से विपरीत, दुःखरूप एवं दुःख का कारण जानता है, तभी वह उनसे निवृत्त होता है।

मैं तो निश्चय से एक, शुद्ध, निर्मम एवं ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण हूँ, एवं उसी में लीन रहता हुआ सर्व क्रोधादि आस्रवों का क्षय करता हूँ।

जो आत्मा कर्म के परिणाम और नोकर्म के परिणाम को नहीं करता; मात्र जानता है, वह ज्ञानी है। अतः ज्ञानी अनेक प्रकार के पुद्गल कर्म को, पुद्गल कर्म के अनन्त फल को एवं अनेक प्रकार के अपने परिणामों को जानता हुआ निश्चय से परद्रव्य की पर्याय में परिणमित नहीं होता, उसे ग्रहण नहीं करता, उसरूप उत्पन्न नहीं होता; इसीप्रकार पुद्गल द्रव्य भी अपने भावों से परिणमन करते हुए परद्रव्य की पर्यायरूप परिणमित नहीं होते, उसे ग्रहण नहीं करते और उसरूप उत्पन्न नहीं होते। इसप्रकार स्पष्ट है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमित नहीं होता है।

जीव और पुद्गल में कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, इनमें तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, क्योंकि परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम होते हैं। पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमित होते हैं और जीव पुद्गल कर्म से निमित्त से रागादि-रूप परिणमन करता है। जीव कर्म के गुणों को नहीं करता, कर्म जीव के गुणों को नहीं करता, किन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणमन होते हैं। अतः स्पष्ट है कि निश्चयनय से आत्मा पुद्गल कर्म से किये गये समस्त कर्मों का कर्त्ता नहीं है, अपितु अपने भावों का ही कर्त्ता है, भोक्ता है और व्यवहारनय से आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि आत्मा को आत्मा व पुद्गलकर्म – दोनों के भावों का कर्त्ता-भोक्ता माना जावे तो आत्मा दो क्रियाओं से अभिन्न हो, जबकि यह संभव नहीं है।

मिथ्यात्व दो प्रकार का है – जीव मिथ्यात्व और अजीव मिथ्यात्व। इसीप्रकार अज्ञान, अविरति, योग, मोह और कषाय भी दो-दो प्रकार की है – जीव-अज्ञान, अजीव-अज्ञान, जीव-अविरति, अजीव-अविरति, जीव-योग, अजीव-योग, जीव-मोह, अजीव-मोह, जीव-कषाय, अजीव-कषाय।

इनमें जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग अजीवमय हैं, वे पुद्गल कर्मरूप हैं; जो मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग जीवमय है, वे चैतन्य के परिणामरूप उपयोगमय हैं।

निश्चयनय से उपयोग शुद्ध, निरंजन और एक है; किन्तु अनादि से मोहयुक्त होने से मिथ्यात्व, अज्ञान और अविरति – ये तीनों विकार परिणाम अनादि से ही उपयोग के हैं। यह विकारमय उपयोग जिस विकारीभाव को करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है।

आत्मा जिस भाव को करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है। आत्मा के कर्त्ता होने पर पुद्गल द्रव्य अपने आप कर्मरूप परिणमित होता है।

यह तीन प्रकार का उपयोग जब क्रोधादि कषायों में "मैं क्रोध हूँ" – इसप्रकार तथा धर्मादि द्रव्यों में "मैं धर्मद्रव्य हूँ" – इसप्रकार आत्मविकल्प करता है, तब आत्मा उस उपयोगरूप अपने भावों का कर्त्ता होता है। इसप्रकार अज्ञानी अपने अज्ञानभाव से अपने को पररूप और पर को अपनेरूप करता है, अतः वह कर्मों का कर्त्ता है। परन्तु जब जीव अपने को पररूप और पर को अपनेरूप नहीं करता, तब वह कर्मों का अकर्त्ता होता हुआ सर्वकर्तृत्व को छोड़ता है।

व्यवहार से आत्मा को इन्द्रियों का, घट-पट-रथादि वस्तुओं का[१] शरीरादि नोकर्म का और अनेक प्रकार के क्रोधादि द्रव्यकर्मों का

---

[१] समयसार, गाथा ९८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्त्ता कहा जाता है; पर यह उचित नहीं, क्योंकि यदि आत्मा परद्रव्यों का कर्त्ता हो तो वह नियम से तन्मय (परद्रव्यमय) हो जाय, किन्तु वह तन्मय नहीं होता, अतः वह उनका कर्त्ता नहीं हो सकता।

आत्मा पुद्गल कर्म के द्रव्य और गुणों को नहीं करता, अतः वह पुद्गल का कर्त्ता नहीं है। जो द्रव्य जिस द्रव्य और गुण में रहता है, वह अन्य द्रव्य और गुण में संक्रमण को प्राप्त नहीं होता। अन्य द्रव्य और गुण में संक्रमण को प्राप्त न होता हुआ द्रव्य अन्य द्रव्य और गुण में परिणमन कैसे करा सकता है? अतः सिद्ध है कि एक द्रव्य (जीव) अन्य द्रव्य (पुद्गल) के परिणमन का कर्त्ता नहीं है, किन्तु जीव के निमित्तभूत होने पर कर्मबन्ध का परिणाम होता हुआ देखकर 'जीव ने कर्म किया' – ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। व्यवहारनय से ही आत्मा को पुद्गलद्रव्य को उत्पन्न करनेवाला (कर्त्ता),[1] बाँधनेवाला, परिणाम करनेवाला और ग्रहण करनेवाला कहते हैं। व्यवहारनय से ही जीव को पुद्गलद्रव्य के द्रव्य-गुणों को उत्पन्न करनेवाला भी कहा जाता है।

आत्मा तो योग और उपयोग का कर्त्ता है, जो कि परद्रव्यों के कर्तृत्व में निमित्त होते हैं। आत्मा जिस शुभ या अशुभ भाव को करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है, वह उसका कर्म होता है और आत्मा उस भावरूप कर्म का भोक्ता भी होता है।

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग – ये चार प्रकार के प्रत्यय बंध के सामान्य कारण हैं। उनके तेरह प्रकार[2] के भेद हैं, जो कि अचेतन हैं, क्योंकि वे पुद्गल कर्म के उदय से होते हैं। ये 'गुण'[3] नामक प्रत्यय कर्म करते हैं। अतः स्पष्ट है कि 'गुण' ही कर्मों के कर्त्ता हैं। आत्मा उनका कर्त्ता या भोक्ता नहीं।

जीव के उपयोग एवं क्रोधादि अन्य-अन्य हैं, अनन्य नहीं। उपयोग के समान क्रोधादि को भी जीव से अनन्य मानने पर जीव

---

[1] समयसार, गाथा १०७

[2] तेरह गुणस्थान

[3] यहाँ 'गुण' से तात्पर्य गुणस्थानों से है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और अजीव के अनन्यत्व सिद्ध हो जायगा, जिससे जगत में जो जीव है, वही नियम से अजीव सिद्ध होगा, पर यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध ही है।

प्रत्यय, नोकर्म और कर्म का जीव से अनन्यत्व मानने पर भी उक्त दोष आएगा। अतः ये भी क्रोधादि के समान आत्मा से भिन्न हैं।

इसके पश्चात् आचार्य प्रकृति-पुरुष को अपरिणामी माननेवाले सांख्यमत को प्रस्तुत करते हुए उसमें विप्रतिपत्ति का प्रदर्शन करने के पश्चात् पुद्गल द्रव्य का परिणाम-स्वभाव सिद्ध करते हैं।

पुद्गल द्रव्य जीव में स्वयं नहीं बंधा और कर्मभाव से स्वयं नहीं परिणमा – ऐसा मानने पर पुद्गल अपरिणामी सिद्ध होता है एवं कार्माणवर्गणायें कर्मभाव से परिणमित नहीं होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है। इसप्रकार सांख्यमत का प्रसंग आता है। यदि यह माना जाय कि जीव पुद्गल द्रव्यों को कर्मभाव से परिणमाता है तो प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वयं नहीं परिणमती हुई उन वर्गणाओं को चेतन आत्मा कैसे परिणमन करा सकता है? अथवा यदि पुद्गल द्रव्य अपने आप ही कर्मभाव से परिणमन करता है, तो जीव कर्मरूप परिणमन कराता है – यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आचार्य कहते हैं कि चूँकि सर्वद्रव्य परिणमन स्वभाववाले हैं, अतः वे अपने-अपने भाव के स्वयं ही कर्त्ता हैं। इसीलिये कर्मरूप परिणमित पुद्गल द्रव्य का कर्त्ता कर्म ही है – ज्ञानावरणादिरूप परिणमित पुद्गल द्रव्य का कर्त्ता ज्ञानावरणादि ही हैं।

इसप्रकार पुद्गल द्रव्य का परिणामित्व सिद्ध करने के पश्चात् जीव द्रव्य का परिणामित्व सिद्ध करते हुए सांख्य मत को प्रस्तुत करते हैं।

यह जीव कर्म में स्वयं नहीं बँधा है और क्रोधादिभाव से स्वयं नहीं परिणमता है – यदि यह मानें तो जीव अपरिणामी सिद्ध होता है और जीव स्वयं क्रोधादिरूप परिणमता न होने से संसार का अभाव सिद्ध होता है। इसप्रकार सांख्य मत का प्रसंग आता है। यदि ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माना जाय कि पुद्गलकर्मरूप क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है तो स्वयं नहीं परिणमते हुए उस जीव को क्रोध कैसे परिणमन करा सकता है? अथवा यदि आत्मा स्वयं क्रोधभाव से परिणमता है तो क्रोध जीव को क्रोधरूप परिणमन कराता है—यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।

अतः सिद्ध होता है कि क्रोधादि कषाय में उपयुक्त आत्मा क्रोधादि कषायमय ही है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा जिस भाव को करता है, उस भावरूप कर्म का वह कर्त्ता होता है। ज्ञानी के वे भाव ज्ञानमय हैं। ज्ञानमय भाव में से ज्ञानमय भाव ही उत्पन्न होते हैं, इसीलिये ज्ञानियों के समस्त भाव ज्ञानमय ही हैं, वे कर्मों के कर्त्ता नहीं है; किन्तु अज्ञानी के भाव अज्ञानमय हैं। अज्ञानमय भावों में से अज्ञानमय भाव उत्पन्न होते हैं, अतः अज्ञानियों के भाव अज्ञानमय ही होते हैं। अज्ञानी को अज्ञान, मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग के उदय के कारण ही द्रव्यकर्म का बन्ध होता है।

जीवों को वस्तुस्वरूप का ज्ञान न होना ही अज्ञान का उदय, तत्त्व का अश्रद्धान ही मिथ्यात्व का उदय, अत्यागभाव ही असंयम का का उदय, मलिन उपयोग ही कषाय का उदय और शुभ-अशुभ प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप मन-वचन-कायाश्रित चेष्टा का उत्साह ही योग का उदय है।

उक्त उदयों के हेतुभूत होने पर कार्माणवर्गणायें ज्ञानावरणादि रूप से आठ प्रकार परिणमन करती हैं और जब यह कार्माणवर्गणायें वस्तुतः जीव से बँधती हैं, तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञानमय परिणामों का हेतु होता है।

उक्त परिणामों में पुद्गल द्रव्य का परिणाम जीव से भिन्न ही है, क्योंकि यदि पुद्गल द्रव्य का जीव के साथ ही कर्मरूप परिणाम मानें तो पुद्गल और जीव दोनों ही वस्तुतः कर्मरूप परिणमित हो जायें, परन्तु कर्मभावरूप परिणाम तो एक पुद्गल द्रव्य का ही होता है, अतः जीवभावरूप निमित्त से रहित ही कर्म का परिणाम है। इसीप्रकार जीव का परिणाम भी पुद्गल द्रव्य के कर्मोदयरूप निमित्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से भिन्न ही है, क्योंकि यदि जीव के कर्म के साथ ही रागादि परिणाम मानें तो जीव और कर्म दोनों रागादिभाव को प्राप्त हो जायें, किन्तु रागादिभाव से परिणाम तो एक जीव को ही होता है। अतः कर्मोदयरूप निमित्त से रहित ही जीव का परिणाम है।

अन्त में आचार्यदेव अधिकार का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि "जीव कर्मप्रदेशों से बँधा और स्पर्शित है" – यह व्यवहारनय का कथन है, "जीव अबद्ध और अस्पर्शित है" – यह निश्चयनय का कथन है, किन्तु उक्त दोनों ही नयपक्ष हैं। एकमात्र समयसारभूत शुद्धात्मा ही नयपक्ष-रहित है। जो जीव नयपक्ष को किंचित्मात्र भी ग्रहण न कर मात्र उसे जानता हुआ आत्मा में लीन रहता है, वह परिपूर्ण सुख प्राप्त करता है, वही सम्यग्दृष्टि एवं सम्यग्ज्ञानी है।

पुण्य-पाप अधिकार

इस अधिकार में 'कर्म ही बन्ध का कारण है' – यह सिद्ध कर शुभाशुभ दोनों ही कर्मों को बन्ध का हेतु होने से हेय प्रतिपादित करते हुए शुद्ध परिणाम को ही एकमात्र उपादेय बताया है।

अज्ञानी जीव शुभ को सुशील और अशुभ को कुशील (बुरा) मानता है, जबकि उसकी यह मान्यता उचित नहीं है, क्योंकि बंधन की अपेक्षा दोनों ही कर्म समान हैं। जिसप्रकार सोने की और लोहे की – दोनों ही बेड़ियाँ बंध का कारण हैं, उसीप्रकार शुभकर्म और अशुभकर्म दोनों ही बंधन-अपेक्षा समान होने से हेय हैं, दुखरूप और संसार के हेतु हैं।

कर्मबन्धन का मूल हेतु राग है। राग के कारण ही शुभाशुभ कर्मों का बन्धन होता है, अतः कर्मों के साथ राग को छोड़ना चाहिये।

इसप्रकार शुभाशुभ भावों को बन्ध का हेतु जानकर उनके प्रति राग को छोड़कर जो वैराग्यपूर्वक ज्ञानमयी आत्मा में, परमार्थ में स्थित रहता है, वह शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

परमार्थ में स्थित जीव के व्रत-तपादि सार्थक हैं। परमार्थ में अस्थित जीव के व्रत-तपादि तो 'बालव्रत' एवं 'बालतप' कहलाते हैं। इनसे शुभबंध होकर स्वर्गादि की प्राप्ति तो हो सकती है, पर मुक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं। अज्ञानी जीव मोक्ष के वास्तविक कारण को न जानकर संसारगमन के हेतुभूत शुभभावों (पुण्य) को ही मोक्ष का हेतु समझ-कर चाहते हैं और उन्हीं में प्रवृत्ति करते हैं, जिनका फल अनन्त संसार ही है; मोक्ष नहीं।

वस्तुतः जीवादि पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन,जीवादि पदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान एवं रागादि का त्याग सम्यक्चारित्र है – यही मोक्षमार्ग है।

उक्त निश्चय मोक्षमार्ग में स्थित मुनियों के ही कर्मों का नाश होता है। जो निश्चय मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहार में ही प्रवृत्ति करते हैं, उन्हें मोक्ष संभव नहीं।

जिसप्रकार मैल से व्याप्त वस्त्र का श्वेत रंग तिरोभूत हो जाता है, उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी मैल से व्याप्त होने से सम्यक्त्व, अज्ञान-रूपी मैल से व्याप्त होने से ज्ञान, कषायरूपी मैल से व्याप्त होने से चारित्र भी तिरोभूत हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी स्वभाववाला होने पर भी कर्मफल से व्याप्त होता हुआ सब प्रकार से सबको जानता-देखता नहीं है।

मोक्ष के हेतुभूत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप भावों के विरोधी भाव मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, जो कि सम्यक्त्वादि भावों को रोकनेवाले हैं। उनके उदय से जीव क्रमशः मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी एवं अचारित्रवान होता है।

इसप्रकार इस अधिकार में संसार के हेतुभूत शुभाशुभ कर्मों को हेय एवं मोक्ष के हेतुभूत रत्नत्रय को उपादेय बताया है।

आस्रव अधिकार

इस अधिकार में बन्ध के हेतु आस्रवभावों का वर्णन करते हुए ज्ञानी के अबन्धकपने की सिद्धि की है।

आस्रव चार प्रकार का है – मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये आस्रव संज्ञ (जीव) और असंज्ञ (पुद्गल) दोनों प्रकार के हैं। विविध भेदवाले संज्ञ आस्रव जीव में ही उत्पन्न होते हैं और

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वे जीव के ही अनन्य परिणाम हैं। जीवकृत रागादिभाव ही नवीन बन्ध के हेतु हैं। रागादि रहित भाव बंधक नहीं है, वह मात्र ज्ञायक है। जिसप्रकार पेड़ से पके फल के गिरने पर वह पुनः डाली में नहीं जुड़ता, वैसे ही जीव के कर्मभाव खिर जाने पर पुनः जीव के साथ नहीं जुड़ते।

सम्यग्दृष्टि के रागादिरूप भावास्रव का अभाव होने से आस्रव-पूर्वक होनेवाला बन्ध नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीव नवीन कर्मों को नहीं बाँधता हुआ सत्ता में विद्यमान पूर्वबद्ध कर्मों को मात्र जानता ही है। ये पूर्वबद्ध प्रत्यय (द्रव्यास्रव) मात्र कार्माण शरीर के साथ ही बँधे हुये हैं, मिट्टी के ढेले के समान ही परिणामस्वरूप हैं। अतः द्रव्यास्रव तो सदा स्वभाव से ही भिन्न है। ज्ञानी के भावास्रव का भी अभाव होने से ज्ञानी को निरास्रव कहा जाता है।

ज्ञानी निरास्रव कैसे होते हैं – इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि चार प्रकार के द्रव्यास्रव ही ज्ञान-दर्शन गुणों के द्वारा अनेक प्रकार के कर्मबन्ध करते हैं;[1] अतः ज्ञानी अबन्धक है।

ज्ञानगुण का परिणमन बन्ध का कारण कैसे है ? इसे समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा का ज्ञानगुण जबतक जघन्य अवस्था में रहता है, तबतक अन्तर्मुहूर्त्त में निर्विकल्पता से सविकल्पता को प्राप्त करता रहता है। अतः उस समय वह नवीन बन्ध का करनेवाला भी होता है। यही कारण है कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र के जघन्यभाव से परिणमन करते समय ज्ञानी पुद्गल कर्म से बँधता भी है।

जब ज्ञानगुण का जघन्यभाव बन्ध का कारण है तो फिर ज्ञानी निरास्रव कैसे हैं – इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के समस्त पूर्वबद्ध प्रत्यय सत्तारूप में विद्यमान हैं, वे उपयोग के प्रयोगानुसार रागादि के द्वारा नवीन बन्ध करते हैं, जो कि आयु

---

[1] यहाँ ज्ञान-दर्शन गुण से तात्पर्य आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण से नहीं लेना चाहिये, क्योंकि स्वभाव बन्ध का कारण नहीं होता, अपितु उदय में आये हुये मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव आत्मा के ज्ञान-दर्शन गुण को रागादिमय अज्ञानभाव के रूप में परिणमा देते हैं। उस समय वह अज्ञानभाव में परिणत ज्ञान-दर्शन ही बन्ध का कारण कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अलावा ज्ञानावरणादि सात कर्मों का तथा आयु सहित आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध करनेवाले होते हैं। सत्ता अवस्था में ये कर्म निरुपभोग्य हैं। जैसे बालस्त्री पुरुष के लिये निरुपभोग्य है एवं वही तरुणावस्था में उपभोग योग्य होने पर पुरुष के रागानुसार उसे बाँध लेती है, उसीप्रकार पूर्वबद्ध कर्म उपभोग योग्य होने पर जीव के रागानुसार बन्ध के कारण होते हैं।

आस्रवभाव के अभाव में प्रत्ययों को बन्धक नहीं कहा है, चूँकि राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव सम्यग्दृष्टि के नहीं होते हैं, अतः सम्यग्दृष्टि के द्रव्य प्रत्यय कर्मबन्ध के कारण नहीं होते हैं, इसीलिये ज्ञानी को अबन्धक कहा है। जब ज्ञानी शुद्धनय से च्युत होता है, तब पूर्वबद्ध द्रव्य प्रत्यय जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर नवीन कर्म का बन्ध करते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में आचार्य ने बन्ध का मूल कारण भावास्रव को कहा है, जिसके सद्भाव में अज्ञानी बँधता हैं एवं जिसके अभाव होने पर द्रव्यास्रव के विद्यमान होने पर भी ज्ञानी को नवीन कर्मबन्ध न होने से अबंधक कहा जाता है।

संवर अधिकार

इस अधिकार में बताया है कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। उसके होने पर यह जीव मिथ्यात्व और रागादि विकारभाव नहीं करता। अतः इसके नूतन कर्मों का संवर हो जाता है।

निश्चय से उपयोग उपयोग में है, क्रोधादि में उपयोग नहीं है और क्रोध क्रोध में ही है, उपयोग में क्रोध नहीं है। इसीप्रकार आठ प्रकार के कर्म और नोकर्म में भी उपयोग नहीं है और उपयोग में भी कर्म-नोकर्म नहीं है, क्योंकि उपयोग चैतन्य का परिणमन होने से ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म तथा शरीरादि नोकर्म सभी पुद्गल के परिणाम होने से जड़ हैं। अतः उपयोग और क्रोधादि में प्रदेशभिन्नता होने से अत्यन्त भेद है। इसप्रकार उनके पारमार्थिक आधार-आधेय सम्बन्ध नहीं है – ऐसा ज्ञान ही भेदविज्ञान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब जीव को उक्त भेदविज्ञान हो जाता है, तब वह उपयोगमय जीव, उपयोग के अतिरिक्त अन्य भाव को नहीं करता है। भेदविज्ञान के द्वारा अपना शुद्धस्वरूप जानने के पश्चात् ज्ञानी कर्मों के द्वारा सताया जाने पर भी अपने ज्ञानित्व को नहीं छोड़ता एवं निरन्तर शुद्धात्मा का ही अनुभव करता रहता है, अतः उसे शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। किन्तु भेदविज्ञान-रहित अज्ञानी आत्मा के स्वभाव को न जानता हुआ राग को ही आत्मा मानता है, अतः रागी द्वेषी-मोही होता हुआ अशुद्धात्मा का अनुभव करता है और वह अशुद्धात्मा को ही प्राप्त करता है। अतः सिद्ध है कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। शुद्धात्मा की उपलब्धि होने से राग-द्वेष-मोह-रूपी आस्रव का अभाव होने पर नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता है।

संवर के क्रम को बताते हुए आचार्य कहते हैं कि मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योग का अभाव होने से ज्ञानियों के आस्रव का निरोध होता है। आस्रव-निरोध से कर्मों का निरोध, कर्मों के निरोध से नोकर्म का निरोध और नोकर्म के निरोध से संसार का अभाव होता है।

अतः स्पष्ट है कि भावास्रव-रहित भेदविज्ञानी जीव के संवर का सद्भाव होने से संसार का भी अभाव शीघ्र होता है।

इसप्रकार जो भेदविज्ञानी जीव शुभाशुभ योगों को रोककर, दर्शन-ज्ञान में स्थित होकर, इच्छा से विरत, सर्वसंग से रहित होता हुआ, कर्म-नोकर्म का ध्यान नहीं करता हुआ आत्मा को आत्मा द्वारा ही ध्याता है, एकत्व का ही चिन्तवन करता है, वह दर्शन-ज्ञानमय एवं अनन्यमय होता हुआ अल्पकाल में ही कर्मों से रहित आत्मा को प्राप्त करता है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि इस अधिकार में आचार्य ने मिथ्यात्वादि को आस्रव का मूल हेतु बताकर, शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि करने के लिये संवर का मूल कारण भेदविज्ञान कहा है और उसे ही भाने की प्रेरणा देते हुए अधिकार की समाप्ति की है।

निर्जरा अधिकार

इस अधिकार में द्रव्यनिर्जरा, भावनिर्जरा, ज्ञानशक्ति और वैराग्यशक्ति का सामान्य एवं विशेष वर्णन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दृष्टि इन्द्रियों द्वारा चेतन तथा अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है, वह सब निर्जरा का निमित्त है। यद्यपि रागादि के सद्भाव से यही उपभोग मिथ्यादृष्टि को बंध का निमित्त होता है, तथापि रागादि के अभाव से आगामी बन्ध न होने के कारण ही ज्ञानी को वह द्रव्यनिर्जरा का निमित्त है।

परद्रव्य भोगने में आने पर कर्मोदय के निमित्त से जीव के सुख-रूप अथवा दुखरूप भाव नियम से उत्पन्न होता है। मिथ्यादृष्टि के रागादि के कारण वह भाव आगामी बन्ध करके निर्जरित होता है, अतः उसे निर्जरित नहीं कहा जाता। मिथ्यादृष्टि को परद्रव्य को भोगते हुए बन्ध ही होता है एवं सम्यग्दृष्टि के रागादिक न होने से आगामी बन्ध किये बिना ही भाव निर्जरित हो जाता है, अतः उसे निर्जरित कहा जाता है। इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के भावनिर्जरा होती है, इसलिए यह कहा जाता है कि सम्यग्दृष्टि के परद्रव्य भोगने में आने पर भी निर्जरा ही होती है। जिसप्रकार वैद्य विष को खाता हुआ भी मरता नहीं है एवं अरतिभाव से मद्यपान करते हुए भी पुरुष मतवाला नहीं होता है, उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष भी पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ एवं अरतिभाव से द्रव्य का उपभोग करता हुआ भी बँधता नहीं है।

अतः स्पष्ट है कि ज्ञान एवं वैराग्य की सामर्थ्य से ज्ञानी-विरागी जीव इन्द्रियों के विषयों का सेवन करता हुआ भी उनका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता, क्योंकि विषयसेवन के फलस्वरूप होनेवाले रागपरिणाम का बन्ध ज्ञानी को नहीं होता है।

ज्ञानी जीव विचार करता है कि मैं एक ज्ञायकभाव हूँ एवं अनेकप्रकार का कर्मोदय का विपाक मेरा स्वभाव नहीं है। यह तो रागादि पुद्गलकर्म के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। अतः वह रागादि पुद्गलकर्मजन्य उदय विपाक को छोड़कर तत्त्व को यथार्थ जानता हुआ ज्ञायकस्वभाव को जानता है। इसप्रकार जो स्व-पर को जानता है, वही सम्यग्दृष्टि है; जो स्व-पर को नहीं जानता, वह भले ही सर्वागम को भी जानता हो, फिर भी सम्यग्दृष्टि नहीं है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके बाद आचार्य आश्रयभूत पद को प्राप्त करने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि आत्मा को सदा अपदभूत[1] परद्रव्यों एवं उनके भावों को छोड़कर स्थिर, निश्चित, एक स्वभाव का ही अनुभव करना चाहिये।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान – ये सब एक ही पद हैं, क्योंकि ज्ञान के समस्त भेद ज्ञान ही हैं। ज्ञान सामान्य ही परमार्थ है, जिसे प्राप्त करके आत्मा निर्वाण प्राप्त करता है। ज्ञान में लीन होने से ही परमसुख की प्राप्ति होती है, अतः ज्ञान में ही रत रहते हुए उसी में संतुष्ट रहना चाहिए।

उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञानगुण से रहित जन अनेक प्रकार के कर्म करते हुए भी ज्ञानस्वरूप पद को प्राप्त नहीं करते हैं। अतः हे भव्य ! यदि तू कर्मों से सदा मुक्ति चाहता हो तो ज्ञान को ही ग्रहण कर, इस ज्ञान में नित्य ही रत रह, संतुष्ट हो, तृप्त हो ! तुझे अवश्य ही उत्तम सुख प्राप्त होगा।

ज्ञानी के परद्रव्यरूप परिग्रह नहीं है। ज्ञानी जीव तो स्व को ही स्वपरिग्रह मानता है। परद्रव्य को तो वह अपना परिग्रह मानता ही नहीं। ज्ञानी विचार करता है कि यदि परद्रव्य मेरा परिग्रह हो तो उसके साथ-साथ मैं भी अजीवत्व को प्राप्त हो जाऊँ, पर मैं तो ज्ञाता ही हूँ, अतः परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है। यही कारण है कि ज्ञानी को परद्रव्य के टूटने-फूटने या अपहरण होने में विषाद नहीं होता एवं मिलने पर हर्ष नहीं होता।

अनिच्छक ही अपरिग्रही है। चूंकि ज्ञानी के खान-पान, धर्म-अधर्म[2] इत्यादि किसी भी प्रकार के भावों की इच्छा न होने से उसे इनमें से किसी का भी परिग्रह नहीं है। अतः ज्ञानी उक्त सभी भावों को न चाहता हुआ मात्र ज्ञायक ही रहता है।

---

[1] ज्ञान ही आत्मा का पद है, शेष वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त के भाव अपद हैं।

[2] यहाँ पुण्य-पाप के अर्थ में धर्म-अधर्म का प्रयोग किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानी वर्तमान काल के उदय का भोग वियोग बुद्धि से करता हुआ आगामी उदय की वांछा नहीं करता, क्योंकि वे वेदकभाव[1] और वेद्यभाव[2] दोनों ही प्रति समय पर नष्ट हो जाते हैं। ज्ञानी को तो बन्ध और उपभोग के निमित्तभूत संसार संबंधी और देह संबंधी अध्यवसानों[3] के उदय में भी राग नहीं है, अतः वह कर्मों के मध्य में रहते हुए भी कर्मों से लिप्त नहीं होता, किन्तु अज्ञानी रागवश कर्मों से लिप्त हो जाता है।

ज्ञानी सचित्त-अचित्त-मिश्रादि पदार्थों को भोगते हुए अज्ञानी नहीं होता; अपितु वह ज्ञानस्वभाव को छोड़कर अज्ञानरूप परिणमित होता है, तब अज्ञानता को प्राप्त होता है।

ज्ञानी की समस्त व्रत-तपादि क्रियायें वांछारहित हैं, अतः वह उनके फल को प्राप्त नहीं करता है; जबकि अज्ञानी समस्त क्रियाओं को विषयसुख की इच्छा से करता है, अतः वह फल को प्राप्त करता है, रागादि परिणाम उत्पन्न करनेवाले आगामी भोगों की उपलब्धि उसे होती है।

इसके पश्चात् २२८ से २३६ तक ६ गाथाओं में ज्ञानी (सम्यग्-दृष्टि) के आठ गुणों (अंगों) का वर्णन किया गया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में सर्वत्र ही ज्ञानगुण की महिमा बताई गई है एवं वांछारहित ज्ञानी को निर्जरा होती है— यह उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है।

बंध अधिकार

राग-द्वेष-मोह ही बंध के कारण हैं— इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव रागादि से युक्त है, अतः अनेक प्रकार की क्रियायें करता हुआ वह बन्ध को प्राप्त होता है, किन्तु रागादि रहित सम्यग्दृष्टि जीव उन्हीं क्रियाओं को करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता है; अतः कर्मबन्ध का मूल कारण रागादि ही है।

---

[1] जो भाव वेदन करता है, वह वेदक भाव है।

[2] जो भाव वेदन किया जाता है, वह वेद्य भाव है।

[3] मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग — ये अध्यवसान हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यादृष्टि जीव मानता है कि मैं पर को मारता हूँ, जिलाता हूँ, दुखी-सुखी करता हूँ और पर भी मुझे मारते हैं, जिलाते हैं, दुखी-सुखी करते हैं; परन्तु ये सभी मान्यतायें निरर्थक होने से मिथ्या हैं, क्योंकि सभी जीव आयुकर्म के क्षय से मरते हैं, आयु कर्म के उदय से जीते हैं और इसीप्रकार कर्म के उदय से ही सुखी-दुखी होते हैं। यदि हम पर का आयुकर्म हर सकें या पर हमारा आयुकर्म हर सके तो हम पर को व पर हमें मार सकता है, इसीप्रकार यदि हम पर को आयुकर्म दे सकें और पर हमें आयुकर्म दे सके तो हम पर को व पर हमें जिला सकता है। इसीप्रकार दुख-सुख के बारे में है। और जब हम आयुकर्म न दे सकते हैं, न ले सकते हैं तो हमारी मान्यता मिथ्या ही है। अतः 'मैंने मारा, मैंने जिलाया' – ऐसा मात्र अज्ञानी ही मानता है, ज्ञानी तो वस्तुस्वरूप को सही समझते हुए यही मानता है कि वस्तुतः जीव कर्म के उदय से मरता है, जीता है, दुखी-सुखी होता है, मैं न तो किसी को मार सकता हूँ, न जिला सकता हूँ, न दुखी-सुखी कर सकता हूँ, न ही पर मुझमें कुछ कर सकते हैं।

अज्ञानी जीव की 'मैं पर को दुखी-सुखी कर सकता हूँ' – यही मान्यता बन्ध का कारण है। इन अध्यवसानों के कारण ही पाप-पुण्य का बन्ध होता है, किसीप्रकार की क्रिया से नहीं। अतः यदि अध्यवसान हैं तो जीव को मारो या न मारो, बन्ध निश्चित होगा। इसीप्रकार हिंसा के समान ही झूठ, चोरी, कुशील एवं परिग्रह में भी जो अध्यवसान है, उससे पाप का बन्ध होता है और अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह में जो अध्यवसान है, वह पुण्य-बन्ध का कारण है।

यद्यपि उक्त अध्यवसान वस्तु के अवलम्बन से होता है, तदपि वस्तु से बन्ध नहीं होता, अध्यवसान से ही बन्ध होता है। जब अध्यवसान ही कर्मबन्ध का कारण है एवं अध्यवसान के निमित्त से ही मोक्षमार्ग में स्थित जीव कर्म से छूटते हैं तो फिर 'मैं बाँधता हूँ, मैं छोड़ता हूँ' – यह हमारी मान्यता सहज ही मिथ्या सिद्ध होती है।

अध्यवसान भाव के द्वारा ही यह जीव तिर्यंच, नारक, देव, मनुष्य सभी पर्यायों को, अनेक प्रकार के पुण्य-पाप को और धर्म-अधर्म, जीव-अजीव, लोक-अलोक – इन सब रूप अपने को करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार जीव बन्ध को प्राप्त होता है। जिसमें अध्यवसान नहीं है, वह मुनि अशुभ-शुभकर्म से लिप्त नहीं होता।

बुद्धि, व्यवसाय, मति, विज्ञान, चित्त, परिणाम और अध्यवसान– ये सभी एकार्थवाची हैं।

मोक्ष की श्रद्धा न करनेवाले अज्ञानी अभव्य की भोग के निमित्त से की गई अनेक प्रकार की व्रत, समिति, गुप्ति, शील, तपरूप क्रियायें एवं अनेक शास्त्रों का ज्ञान सभी कर्मबन्ध की ही निमित्त हैं, कर्मक्षय की नहीं। अतः उक्त क्रियायें करता हुआ भी वह अज्ञानी है। निश्चयनय के आश्रित मुनि निर्वाण प्राप्त करते हैं। निश्चयनय से आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, संवर है, योग है और प्रत्याख्यान है एवं व्यवहारनय से आचारांगादि शास्त्र ज्ञान हैं[1] जीवादि तत्त्व दर्शन हैं[2] और छहजीवनिकाय चारित्र हैं।[3]

यद्यपि आत्मा परिणमन स्वभाववाला है, तदपि शुद्धस्वभावत्व के कारण अपने आप ही रागादिरूप नहीं परिणमता। आत्मा परद्रव्य के निमित्त होने पर ही शुद्धभाव से च्युत हुआ रागादिरूप परिणमित होता है। अज्ञानी कर्मोदय से होनेवाले भावों को अपना समझकर राग-द्वेष और कषाय रूप परिणमता है, अतः उनका कर्त्ता होता हुआ बार-बार आगामी कर्मों को बाँधता है एवं ज्ञानी राग-द्वेष और कषाय कर्मोदय से होनेवाले भावों को स्वयं नहीं करता, न ही उनरूप परिणमित होता है। अतः वह उन भावों का कर्त्ता नहीं होता। तत्फलस्वरूप उसे बन्ध भी नहीं होता है।

अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो-दो प्रकार के हैं – द्रव्यसंबंधी अप्रतिक्रमण, भावसंबंधी अप्रतिक्रमण। द्रव्यसंबंधी अप्रत्याख्यान और भावसंबंधी अप्रत्याख्यान।

जबतक आत्मा इन द्रव्य और भाव का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान करता है, तबतक ही वह कर्त्ता होता है तथा जब द्रव्य

---

[1] आचारांगादि शास्त्रों का पढ़ना ज्ञान है।

[2] जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान दर्शन है।

[3] छह कायों के जीवों की रक्षा करना चारित्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भाव का अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान नहीं करता, तब वह कर्मों का अकर्त्ता होता है।

अधःकर्म[1] और उद्देशिक[2] नित्य अचेतन एवं पुद्‌गलद्रव्य के दोष हैं, अतः मैं (ज्ञानी) इनका कर्त्ता नहीं हूँ।

इसप्रकार आचार्य ने अधिकार के अन्त में परद्रव्य और आत्मा की निमित्त-नैमित्तिकता बताकर निमित्त का आश्रय छुड़ाकर स्वभावभूत आत्मा का आश्रय करने की प्रेरणा दी है।

मोक्ष अधिकार

अनादिकाल से यह जीव कर्मबन्धन से बँधा हुआ है। यह बन्धन प्रकृति-प्रदेश-स्थिति-अनुभाग को जानने से या कर्मों के विचारमात्र से नहीं छूटता, किन्तु जब बंधनबद्ध पुरुष बन्धों के स्वभाव एवं आत्मा के स्वभाव को जानकर बन्धों के प्रति विरक्त होकर रागादि को दूर करके बन्धों का छेद करता है, तभी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

जीव और बंध के स्वभाव को जानकर जीव निश्चित करता है कि बंध छेदने योग्य है एवं शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है।

शुद्धात्मा का ग्रहण प्रज्ञा के द्वारा होता है। प्रज्ञा के द्वारा आत्मा निश्चित करता है कि मैं एक हूँ, चेतन हूँ, ज्ञाता-दृष्टा हूँ, अन्य शेष भाव मुझ से पर हैं। इसप्रकार ज्ञानी समस्त परभावों को पर जानता हुआ, परद्रव्य को स्व माननेरूप अपराध से रहित होकर अपने को एकमात्र शुद्ध जानता हुआ 'मैं नहीं बँधूगा' — इसप्रकार बन्धन के प्रति निशंक होकर घूमता है एवं 'जो शुद्धात्मा है, वही मैं हूँ' — ऐसा जानता हुआ आराधना से युक्त रहता है।

संसिद्धि, राध, सिद्ध, साधित, आराधित — ये सब निरपराध दशा के सूचक पर्यायवाची शब्द हैं एवं जो आत्मा अपगत राध अर्थात्

---

[1] जिस पापकर्म से आहार उत्पन्न हो, उसे अधःकर्म कहते हैं, तथा उस आहार को भी अधःकर्म कहते हैं।

[2] जो आहार ग्रहण करनेवालें के उद्देश्य से ही बनाया गया है, उसे उद्देशिक कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निरपराध दशा से रहित है, वह आत्मा 'अपराध' है। अपराधी आत्मा निशंक नहीं होता, अपितु निरपराध ही निशंक होता है।

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि – ये आठ प्रकार के विषकुम्भ हैं, क्योंकि इनमें कर्तृत्व की बुद्धि सम्भवित है एवं अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि – ये अमृतकुंभ हैं, क्योंकि इनमें कर्तृत्व का निषेध है; अतः बंन्ध नहीं होता।[1]

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

नवतत्त्वों का भूतार्थनय की मुख्यता से व्याख्यान करने के उपरान्त अब इस अधिकार में मुक्तिमार्ग के आधारभूत सर्वविशुद्धज्ञान का वर्णन किया गया है।

आत्मा परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित है – इसके समर्थन में कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायों से अनन्य होता है। अतः जीव और अजीव के जो परिणाम[2] होते है, वे परिणाम जीव और अजीव से अनन्य हैं। यही कारण है कि आत्मा अपने ही गुण-पर्यायों का कर्त्ता है, कर्मों का कर्त्ता नहीं। कर्मों का कर्त्ता पुद्‌गलद्रव्य है, क्योंकि ज्ञानावरणादिरूप परिणमन पुद्‌गलद्रव्य में हो रहा है। इसीप्रकार रागादि का कर्त्ता आत्मा ही है, परद्रव्य नहीं; क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है।

सभी द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। अतः सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं एवं परिणाम उन द्रव्यों के कर्म हैं।

---

[1] निश्चय की प्रधानता से ही ग्रन्थकर्त्ता आचार्य ने उक्त कथन किया है। व्यवहारनय की प्रधानता से तो प्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ और अप्रतिक्रमणादि विषकुम्भ कहे जाते हैं। उक्त अंतर को गाथा ३०६-३०७ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने सुस्पष्ट किया है, जो मूलतः पठनीय है।

[2] सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में समागत ३०८ से ३११ गाथा और इनकी आत्मख्याति टीका में क्रमबद्धपर्याय के बीज विद्यमान हैं। इन गाथाओं पर प्रवचन करते हुए पूज्य श्री कानजी स्वामी ने इसका विस्तृत विवेचन किया है, जो ज्ञेयस्वभाव-ज्ञानस्वभाव नाम से प्रकाशित हुआ है। उक्त संदर्भ में डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की 'क्रमबद्धपर्याय' नामक कृति भी द्रष्टव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय से किसी द्रव्य का किसी द्रव्य के साथ कर्त्ता-कर्म संबंध नहीं है। अतः जीव-अजीव भी अपने परिणामों के ही कर्त्ता हैं एवं वे परिणाम उनके कर्म हैं। इसप्रकार निश्चय से आत्मा के व कर्मों की प्रकृतियों के कर्त्ता-कर्म भाव का अभाव है, तथापि अज्ञानी अज्ञान के कारण अपने को पर का कर्त्ता मानता है। अतः बन्ध को प्राप्त होता हुआ कर्मों को करता एवं कर्मफल को भोगता है, जबकि ज्ञानी भेदज्ञान के बल से उन्हें मात्र जानता है, करता या भोगता नहीं। अतः वैराग्य को प्राप्त ज्ञानी को अकारक एवं अवेदक कहा जाता है।

आत्मा के कर्तृत्व का स्पष्टरूप से खण्डन करते हुए आचार्य कहते हैं कि आत्मा को कर्त्ता माननेवाले मुनि होकर भी लौकिकजन के समान ही हैं, क्योंकि लोक ईश्वर को कर्त्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को कर्त्ता माना है। अतः दोनों मान्यताएँ समान ही हुईं। इसप्रकार कर्तृत्व की मान्यता से युक्त लौकिकजन और मुनि दोनों को ही मुक्ति संभव नहीं है।

मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता निश्चय से कौन है – इस पर विचार करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि मिथ्यात्व नाम की पुद्गल द्रव्यमय मोहकर्म की प्रकृति ही आत्मा को मिथ्यादृष्टि बनाती है तो अचेतन प्रकृति मिथ्यात्वभाव की कर्त्ता हो गई, अतः मिथ्यात्वभाव अचेतन हुआ। अथवा यह माना जाय कि जीव ही पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को करता है तो फिर पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा, जीव नहीं। यदि यह माना जाय कि जीव और प्रकृति दोनों ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वरूप करती हैं तो उसके फल को भी दोनों ही भोगेंगे। अथवा यदि ऐसा माना जाय कि पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वभावरूप न तो प्रकृति ही करती है न जीव, तो पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वरूप सिद्ध होगा, पर ऐसा तो होता नहीं है। अतः सिद्ध है कि जीव में मिथ्यात्वभाव का कर्त्ता जीव ही है और उसी के निमित्त से पुद्गल परमाणु पिण्ड में मिथ्यात्व कर्मरूप बनने की शक्ति आ जाती है।

इसके पश्चात् १३ गाथाओं में 'कर्म ही कर्म का कर्त्ता है, आत्मा तो अकारक है' – इसे विवेचित करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि जीव कर्मों द्वारा ही ज्ञानी-अज्ञानी किया जाता है, सुलाया-जगाया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है, दुखी-सुखी होता है, मिथ्यात्वी-असंयमी होता है, ऊर्ध्व-अधो-मध्यलोक में भ्रमण करता है एवं जो कुछ भी शुभाशुभ हो रहा है, वह सभी कर्मों के द्वारा ही हो रहा है, कर्म ही कर्त्ता-हर्त्ता है, तो जीव अकारक सिद्ध होते हैं। इसीप्रकार पुरुषवेद स्त्री का अभिलाषी है, स्त्रीवेद पुरुष का अभिलाषी है तो आपके मत में कोई भी अब्रह्मचारी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कर्म ही कर्म को चाहता है–ऐसा शास्त्र में कहा है। इसीप्रकार पर को मारना, पर के द्वारा मारा जाना, परघात नामक प्रकृति के कारण होता है, अतः जीव उपघातक नहीं है, क्योंकि कर्म ही ने कर्म को मारा है–इसप्रकार जो श्रमण सांख्यमत के समान मानता है तो उसके मत में जीव अकारक सिद्ध होता है, फलस्वरूप जीव को कर्मों का अभाव सिद्ध होता है, कर्मों का अभाव होने पर संसार का अभाव होता है, जो कि प्रत्यक्षविरुद्ध है। अतः उक्त मान्यता उचित नहीं है।

आत्मा को आत्मद्रव्य का कर्त्ता मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आत्मा में क्या करना, आत्मा तो नित्य असंख्यातप्रदेशी द्रव्य है, उसमें कुछ हीनाधिक नहीं हो सकता, अतः उसमें कुछ करने की कल्पना करना मिथ्या है अथवा यह कहा जाय कि ज्ञायकभाव तो अपने ज्ञानस्वभाव से स्थित रहता है तो इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मा स्वयं अपने आत्मा को नहीं करता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आत्मा को कर्म का सर्वथा अकर्त्ता एवं कर्म को कर्म का सर्वथा कर्त्ता मानना उचित नहीं, क्योंकि अज्ञानदशा में अपने अज्ञानभावरूप कर्म का कर्त्ता आत्मा है।

अब क्षणिकवाद का निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो भोगता है, वही करता है, अथवा दूसरा ही करता है अथवा जो करता है, वही भोगता है, अथवा दूसरा ही भोगता है। अथवा जो करता है, वह नहीं भोगता, अथवा दूसरा करता है, दूसरा भोगता है। इसप्रकार एकान्त मानना उचित नहीं है, क्योंकि जीव कितनी ही पर्यायों से नष्ट होता है और कितनी ही पर्यायों से नष्ट नहीं होता है। अतः उक्त सभी में स्याद्वाद घटेगा। पर्यायदृष्टि से एक पर्याय करती है, अन्य पर्याय भोगती है, क्योंकि पर्याय क्षणिक है और द्रव्यदृष्टि से जो करता है, वही भोगता है, क्योंकि द्रव्य नित्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारनय से जीव पुद्गल कर्मों को करता है, पुद्गल कर्मों के फल को भोगता है, मन-वचन-कायरूप करणों को ग्रहण करता है एवं उनके द्वारा कर्म करता है, पर किसी से तन्मय नहीं होता ।

निश्चयनय से जीव अपने परिणामरूप कर्म को करता है और परिणामरूप कर्म के फल को भोगता है । इन परिणामों से जीव अनन्य है ।

इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यवहार से तो कर्त्ता-कर्म का भेद है, पर निश्चय से जो कर्त्ता है, वही कर्म है । निश्चयनय से परद्रव्यों का और आत्मा का ज्ञेय-ज्ञायक, दृश्य-दर्शक, त्याज्य-त्याजक आदि संबंध नहीं है । जिसप्रकार निश्चय से सेटिका (कलई) पर (दीवाल) की नहीं है, सेटिका तो सेटिका ही है, उसीप्रकार ज्ञायक परद्रव्य का नहीं, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है, दर्शक परद्रव्य का नहीं, दर्शक तो दर्शक ही है, संयत पर का नहीं, संयत तो संयत ही है, और दर्शन भी पर का नहीं, दर्शन तो दर्शन ही है तथा जिसप्रकार व्यवहारनय से सेटिका अपने-अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है, उसीप्रकार ज्ञाता भी परद्रव्य को अपने स्वभाव से जानता है, जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है, ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को छोड़ता है और सम्यग्दृष्टि भी अपने स्वभाव से परद्रव्य का श्रद्धान करता है ।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शुद्धनय से आत्मा चेतनामात्र है, जानना-देखना, श्रद्धान करना, निवृत्त होना उसके परिणाम हैं । निश्चयनय से आत्मा को परद्रव्य का ज्ञायक, दर्शक, श्रद्धान करनेवाला नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि निश्चयनय से परद्रव्य का आत्मा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, पर व्यवहार से उक्त सभी कथन किये जाते हैं, क्योंकि परद्रव्य और आत्मा के निमित्त-नैमित्तिक भाव है ।

आत्मा के अज्ञानमय परिणामरूप राग-द्वेष-मोह होने पर आत्मा के दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि गुणों का घात होता है, किन्तु गुणों के घात होने पर भी अचेतन पुद्गलद्रव्य का घात नहीं होता और पुद्गलद्रव्य के घात होने पर दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि का घात नहीं होता । इसप्रकार जीव का कोई भी गुण पुद्गलद्रव्य में नहीं है — ऐसा जानते हुए सम्यग्दृष्टि को अचेतन विषयों में रागादि नहीं होते ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग-द्वेष-मोह पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं, वे जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं, जब अज्ञान का अभाव हो जाता है, अर्थात् आत्मा सम्यग्दृष्टि होता है, तब राग-द्वेषादि उत्पन्न नहीं होते हैं।

इसप्रकार राग-द्वेष-मोह न तो पुद्गल में ही है, न ही सम्यग्दृष्टि के ही। शुद्ध द्रव्यदृष्टि से देखने पर वे हैं ही नहीं और पर्यायदृष्टि से देखने पर वे जीव की अज्ञान अवस्था में हैं।

परद्रव्य जीव को रागादि उत्पन्न नहीं करा सकते, क्योंकि एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य के गुणों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। सर्वद्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं, अतः आत्मा के रागादि परिणाम आत्मा के ही अशुद्ध परिणाम हैं, अन्य द्रव्य तो उसमें निमित्तमात्र हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। वे स्वयं आत्मा से नहीं कहते कि 'तू' हमें जान और आत्मा भी अपने स्थान से च्युत होकर उन्हें ग्रहण करने के लिए उनकी ओर नहीं जाता। जैसे जब शब्दादिक समीप न हों, तब भी आत्मा अपने स्वरूप से ही जानता है और जब समीप हों, तब भी अपने स्वरूप से ही जानता है। इसप्रकार अपने स्वरूप में ही जाननेवाले आत्मा को अपने-अपने स्वभाव से ही परिणमित होते हुए शब्दादिक किंचित् भी विकार नहीं करते – यह वस्तुस्वभाव है, तदपि जीव शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गंध को सूँघकर, रस को आस्वादकर, स्पर्श को छूकर, गुण-द्रव्य को जानकर उन्हें अच्छा-बुरा मानता है – यही अज्ञान है।

भूतकाल के दोषों का त्याग प्रतिक्रमण है, भविष्य में कर्म बँधे – ऐसे दोषों का त्याग प्रत्याख्यान है, वर्तमान के दोषों का परिहार आलोचना है – इन तीनों में प्रवर्तमान आत्मा चारित्र है। निश्चय से जो आत्मा अपने को त्रिकाल कर्मों से भिन्न जानता है, श्रद्धा करता है, अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, प्रत्याख्यान है, आलोचना है। इसप्रकार प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचनास्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव ही निश्चय चारित्र है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयचारित्र ही ज्ञानचेतना (ज्ञान का अनुभव) है। अज्ञान चेतना दो प्रकार की है :– कर्मचेतना और कर्मफलचेतना।

जब ज़ीव कर्म व कर्मफल को निजरूप करता हुआ 'कर्मफल को मैंने किया' इत्यादि प्रकार से कर्त्तृत्व की मान्यता से सुखी-दुखी होता है, तब वह दुख के हेतुभूत आठ प्रकार के कर्मों से बँधता है।

ज्ञान को स्पष्टतया अन्य वस्तुओं से भिन्न बताते हुए आचार्य कहते हैं कि शास्त्र, शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश और अध्यवसान आदि कुछ भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि ये अचेतन हैं। ज्ञान उक्त सभी से भिन्न है और चैतन्यमय जीव से अभिन्न है, अनन्य है। ज्ञान और ज्ञानी में कोई भेद नहीं है। ज्ञानी जीव ज्ञान को ही सम्यग्दर्शन, संयम, अंगपूर्वगतसूत्र, धर्म-अधर्म (पुण्य-पाप) और दीक्षा मानते हैं।

ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक और अनाहारक है। आहार तो कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलमय मूर्तिक हैं। अतः निश्चय से आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है।

आत्मा प्रायोगिक[1] और वैस्रसिक[2] गुण के कारण परद्रव्य का ग्रहण-त्याग कभी नहीं कर सकता, वह तो अपने ही परिणाम का ग्रहण-त्याग करता है।

इसप्रकार ज्ञान को समस्त परद्रव्यों से भिन्न और अपनी पर्यायों से अभिन्न बताने के पश्चात् आचार्य वास्तविक मोक्षमार्ग को बताते हुए कहते हैं कि लिंग[3] मोक्षमार्ग नहीं, क्योंकि लिंग देहमय है। देह पुद्गल द्रव्यमय है। अतः आत्मा के लिए लिंग मोक्षमार्ग नहीं, अपितु दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मपरिणाम ही निश्चय से मोक्षमार्ग है। आचार्य प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि मुनि व गृहस्थ के लिंग मोक्षमार्ग नहीं, अपितु दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है। अतः सागारों और अनागारों द्वारा गृहीत लिंगों को छोड़कर तू आत्मा को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में ही लगा, वही मोक्षमार्ग है।

---

[1] परनिमित्त से उत्पन्न

[2] स्वाभाविक

[3] यहाँ लिंग से तात्पर्य द्रव्यलिंग से है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त मोक्षमार्ग का ही ध्यान करना चाहिये, उसी में आत्मा को लगाना चाहिए, उसी का अनुभव करना चाहिए। जो बहुत प्रकार के मुनिलिंगों अथवा गृहस्थलिंगों में ममत्व करते हैं, वे समयसार (शुद्धात्मा) को नहीं जानते, अतः उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं होती।

यद्यपि व्यवहारनय दोनों लिंगों को मोक्षमार्ग कहता है, तथापि निश्चयनय सभी लिंगों का निषेध करता है।

ग्रन्थान्त में आचार्य कहते हैं कि जो आत्मा इस समयपाहुड़ को पढ़कर अर्थ और तत्त्व को अच्छी तरह जानकर समरूपी अर्थ में स्थित होगा, वह उत्तम सौख्यस्वरूप होगा।

प्रवचनसार

ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरणानुयोगसूचक चूलिका – इन तीन महाधिकारों में विभक्त 'प्रवचनसार' आचार्य कुन्दकुन्द की एक ऐसी प्रौढ़तम कृति है, जिसमें प्रमाण-व्यवस्था और प्रमेय-व्यवस्था का गहराई से विवेचन किया गया है। ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन में सर्वज्ञता का स्वरूप और ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का स्वरूप जिस रूप में स्पष्ट किया गया है, वह अपने आप में अद्भुत एवं मूलतः पठनीय है। चरणानुयोगसूचक चूलिका में चारित्र के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

इसकी रचना आसन्नभव्य शिवकुमार महाराज आदि मध्यम रुचिवाले, संसारदुःखों से भयभीत किंचित् अभ्यासी शिष्य के लिये की गई थी।[1]

---

[1] (अ) अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्य-गौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिर्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च........

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ० २

(ब) अथ कश्चिदासन्नभव्यः शिवकुमारनामा स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतविपरीतचतुर्गतिसंसारदुखभयभीतः, समुत्पन्नपरमभेदविज्ञानप्रकाशातिशयः, समस्तदुर्नयैकान्तनिराकृतदुराग्रहः, परित्यक्त समस्त शत्रुमित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्यः सारभूतामत्यान्तात्महितामविनश्वरां पंचपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्नां मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाणः........

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका, पृ० ३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस ग्रन्थ के स्पष्ट रूप से दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में दो और द्वितीय खण्ड में एक महाधिकार है, जिन्हें आचार्य अमृतचन्द्र श्रुत-स्कन्ध नाम से अभिहित करते हैं, जैसा कि तीनों महाधिकारों की उपसंहारात्मक पंक्तियों से स्पष्ट है।[1]

उक्त दोनों खण्ड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतंत्र ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतंत्र मंगलाचरण किये गये हैं। प्रथम खण्ड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसतरह कर दिया गया है कि जैसे ग्रन्थ समाप्त ही हो गया हो। दूसरा खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानो ग्रन्थ का ही आरम्भ हो रहा हो।

आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वदीपिका टीका के तृतीय महाधिकार में प्रथम गाथा की टीका प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी संधि करने के लिये ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन अधिकार की मंगलाचरण की तीन गाथायें लिखी हैं।[2] इस संदर्भ में चारित्र अधिकार के प्रारंभ में कथित आचार्य जयसेन का निम्न कथन द्रष्टव्य है :–

'कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थसमाप्त इति ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत्। 'उवसंपयामि सम्मं' इति प्रतिज्ञासमाप्तेः।'

आचार्य कुन्दकुन्द मूलतः जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं और उनके समग्र कर्तृत्व का प्रयोजन दुखी जीवों को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करना है। अतः उनकी कृतियों में आध्यात्मिक पुट तो सर्वत्र पाया ही जाता है तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का निरूपण भी होता ही है। यही कारण है कि आचार्य जयसेन प्रवचनसार की विषयवस्तु को तीन महाधिकारों में विभक्त करते हैं, जिन्हें वे क्रमशः सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार एवं सम्यक्चारित्राधिकार कहते हैं।

---

[1] (अ) इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्वप्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः।

(ब) इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

(स) इति तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोगसूचकचूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

[2] प्रवचनसार गाथा १,२,३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रथम महाधिकार – ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन

इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक अधिकार में चार अवान्तर अधिकार हैं :– १. शुद्धोपयोग अधिकार २. ज्ञान अधिकार ३. सुख अधिकार ४. शुभपरिणाम अधिकार।

ग्रन्थ के आरंभ में होनेवाले मंगलाचरणोपरान्त आचार्यदेव सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन-ज्ञान-प्रधान वीतरागचारित्र के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं।

वे कहते हैं – मोह (दर्शन मोह, मिथ्यात्व)–क्षोभ (चारित्र-मोह, राग, द्वेष) रहित आत्मा का परिणाम ही साम्य है, वही धर्म है और वही वास्तव में चारित्र है। चारित्रभाव से परिणत आत्मा स्वयं ही चारित्र है; क्योंकि द्रव्य जिस समय, जिस भावरूप से परिणमन करता है, उस समय उससे तन्मय होता है।

परिणाम के बिना वस्तु का अस्तित्व नहीं होता तथा वस्तु के बिना परिणाम नहीं है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय वस्तु द्रव्य-गुण-पर्याय में रहनेवाली है। जीव भी द्रव्य होने से परिणामस्वभावी है। जब जीव शुभ, अशुभ या शुद्धभावरूप परिणमन करता है; तब वह स्वयं ही शुभ, अशुभ या शुद्धभावरूप होता है। शुद्धोपयोगमय परिणत आत्मा मोक्षसुख, शुभोपयोगरूप परिणत आत्मा स्वर्गसुख और अशुभोपयोगरूप परिणत आत्मा नरकादि के दुख भोगता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि भूमिकारूप इन आरंभिक १२ गाथाओं में मंगलाचरणोपरान्त यह स्पष्ट किया गया है कि चारित्र ही धर्म है और सम्यक्चारित्ररूप से परिणत आत्मा ही धर्मात्मा है।

चारित्र दो प्रकार का है – निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र। निश्चयचारित्र को शुद्धोपयोग या वीतरागचारित्र भी कहते हैं। इसीप्रकार व्यवहारचारित्र को शुभोपयोग या सरागचारित्र भी कहते हैं।

इन्हीं की विस्तृत चर्चा करते हुए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होने से सर्वप्रथम निश्चय (वीतराग) चारित्र का प्रतिपादन करने के लिये शुद्धोपयोग अधिकार लिखते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके बाद शुद्धोपयोग के फलस्वरूप होनेवाले अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये क्रमशः ज्ञानाधिकार एवं सुखाधिकार का वर्णन करते हैं।

चूँकि इन्द्रियसुख और अतीन्द्रियसुख के भेद से सुख दो प्रकार का होता है। अतीन्द्रियसुख के कारणरूप शुद्धोपयोग (निश्चय चारित्र) का वर्णन तो हो चुका है। अतः अन्त में इन्द्रियसुख के कारणभूत शुभ परिणाम अधिकार का वर्णन करते हैं।

इसप्रकार इस ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक महाधिकार में चार अवान्तर अधिकार हो जाते हैं।

(क) शुद्धोपयोग अधिकार :–

अब सर्वप्रथम शुद्धोपयोग अधिकार आरंभ करते हैं :–

इस अधिकार में यह बताया गया है कि शुद्धोपयोग से प्राप्त होनेवाला आनन्द आत्मोत्पन्न, अतीन्द्रिय, अनुपम, अटूट और अविनाशी होता है। जिनसूत्रों के मर्मज्ञ सुख-दुख में समबुद्धिवाले वीतरागी श्रमण ही शुद्धोपयोगी होते हैं। ऐसे परम वीतरागी श्रमण ही ज्ञेयों के पार को प्राप्त करनेवाली सर्वज्ञता प्राप्त करते हैं और वे सर्वज्ञ ही स्वयंभू[1] कहलाते हैं।

यह स्वयंभू आत्मा मोह-राग-द्वेष परिणति का ऐसा विनाश करता है कि जिसका कभी उत्पाद नहीं होता और अतीन्द्रिय आनन्द का ऐसा उत्पाद करता है कि जिसका कभी विनाश नहीं होता।

(ख) ज्ञानाधिकार :–

इस अधिकार में सर्वज्ञता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान में भूत, भविष्य और वर्तमान की समस्त पर्यायें वर्तमानवत् ही प्रत्यक्ष हैं; उनके लिये कुछ भी परोक्ष नहीं है।

आत्मा ज्ञानप्रमाण है और ज्ञान ज्ञेयप्रमाण है। चूंकि ज्ञेय तो सम्पूर्ण लोकालोक ही है, अतः ज्ञान सर्वगत है।

---

[1] अपने परिणमन में पूर्ण स्वतंत्र होने से स्वयंभू कहलाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान सर्वगत होने से ज्ञानमय जिनवर भी सर्वगत हैं ।

यद्यपि जिसप्रकार चक्षु रूप को स्पर्श किये बिना ही जानती है, उसीप्रकार आत्मा भी परपदार्थों को उनमें प्रवेश किये बिना ही जानता है, तथापि व्यवहार से उसे पर में प्रवेश करनेवाला भी कहा जाता है । इस संदर्भ में गाथा २९ का भावार्थ द्रष्टव्य है, जिसमें सम्पूर्ण बात स्पष्ट कर दी गई है :–

"यद्यपि आँखें अपने प्रदेशों से रूपी पदार्थों को स्पर्श नहीं करती, इसलिए वह निश्चय से ज्ञेयों में अप्रविष्ट है; तथापि वह रूपीपदार्थों को जानती-देखती है, इसलिये व्यवहार से यह कहा जाता है कि मेरी आँख बहुत से पदार्थों में जा पहुँचती है । इसीप्रकार यद्यपि केवलज्ञान-प्राप्त आत्मा अपने प्रदेशों के द्वारा ज्ञेयपदार्थों का स्पर्श नहीं करता, इसलिये वह निश्चय से तो ज्ञेयों में अप्रविष्ट है; तथापि ज्ञायक-दर्शक शक्ति की किसी परम अद्भुत विचित्रता के कारण (निश्चय से दूर रहकर भी) वह समस्त ज्ञेयाकारों को जानता-देखता है, इसीलिये व्यवहार से यह कहा जाता है कि आत्मा सर्व द्रव्य-पर्यायों में प्रविष्ट हो जाता है । इसप्रकार व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में आत्मा का प्रवेश सिद्ध होता है ।"

सर्वज्ञ के ज्ञान का पदार्थों में प्रवेश दूध में पड़े हुये इन्द्रनीलमणि की प्रभा के समान है । यदि जगत के सम्पूर्ण पदार्थ सर्वज्ञ-ज्ञान में न हों, तो ज्ञान को सर्वगत नहीं माना जा सकता है । अतः यदि ज्ञान सर्वगत है तो जगत के पदार्थ ज्ञानगत क्यों नहीं ?

इसप्रकार यह सहज सिद्ध है कि ज्ञान सर्वगत है और सर्व पदार्थ ज्ञानगत हैं ।

उक्त स्थिति होने पर भी केवली भगवान जगत को मात्र देखते-जानते ही हैं; पर को ग्रहण नहीं करते, छोड़ते नहीं, पररूप परिणमित नहीं होते; अतः बँधते नहीं हैं ।

ज्ञान, ज्ञेयपदार्थरूप परिणमित नहीं होता, न ही ज्ञेयार्थ परिणमनरूप क्रिया ज्ञान में से उत्पन्न होती है । अपितु मोह के उदय से ही ज्ञेयार्थ परिणमनरूप क्रिया व क्रियाफल होता है, इसीलिये ज्ञेयार्थ परिणमनरूप क्रिया व क्रियाफल का अनुभव रागी-द्वेषी-मोही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव के होता है। ये भाव ही वंध के कारण हैं, मात्र देहादि नहीं। अतः वीतरागी केवली की क्रियायें[1] बँध का हेतु नहीं है।

ज्ञप्ति-अपेक्षा केवली और श्रुतकेवली की एकता स्थापित करते हुए आचार्य कहते हैं कि शुद्धात्मा का अनुभव करनेवाले केवली और श्रुतकेवली में कोई भेद नहीं है, क्योंकि श्रुत की ज्ञप्ति ही श्रुतज्ञान है, अतः श्रुतज्ञान भी ज्ञान ही है। श्रुतरूप उपाधि के कारण ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। उपाधि होने से श्रुत उपादेय नहीं है। ज्ञप्ति, केवली और श्रुतकेवली के आत्मानुभव में समान ही है। अतः ज्ञप्ति-अपेक्षा दोनों में कोई भेद नहीं है। इनमें भेद मात्र इतना ही है कि केवली के ज्ञान में चैतन्य के समस्त विशेष एक ही साथ ज्ञात होते हैं, जबकि श्रुतकेवली में चैतन्य के कुछ विशेष क्रमशः ज्ञात होते हैं। ज्ञान एवं आत्मा में भेद नहीं है। जो ज्ञायक है, वही ज्ञान है। ज्ञान द्वारा आत्मा ज्ञायक नहीं, अपितु आत्मा ज्ञानरूप से स्वयं परिणमित होकर स्वतंत्रतया ही जानता है, इसलिये आत्मा ही ज्ञान है।

ज्ञान समस्त ज्ञेय द्रव्यों को जाननेवाला स्व-पर-ज्ञायक है। केवलज्ञान समस्त द्रव्यों की अतीत, अनागत और वर्तमान की समस्त अनुत्पन्न-विनष्ट अप्रदेश-सप्रदेश, मूर्त-अमूर्त्त पर्यायों को एकसाथ जानने से ही अतीन्द्रिय एवं दिव्य है।

इन्द्रिय ज्ञान ईहादिक द्वारा होने से अनुत्पन्न-विनष्टादि पर्यायों को जानने में समर्थ नहीं है। जो आत्मा का ज्ञान पदार्थों का अवलम्बन लेकर उत्पन्न होता है, वह ज्ञान नित्य नहीं, सर्वगत नहीं, क्षायिक भी नहीं है। क्षायिक ज्ञान तो एक साथ सर्व आत्मप्रदेशों से सर्वक्षेत्र के त्रैकालिक समस्त पदार्थों को जानता है।

(ग) सुख अधिकार :–

इस अधिकार में यह बताया गया है कि जिसप्रकार इन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियज्ञान के भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है, उसीप्रकार इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के भेद से सुख भी दो प्रकार का होता है। तथा जिसप्रकार इन्द्रियज्ञान हेय और अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है,

---

[1] खड़े रहना, बैठना, विहार करना, धर्मोपदेशादि शारीरिक क्रियायें औदयिकी क्रियायें हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उसीप्रकार इन्द्रियसुख हेय और अतीन्द्रियसुख उपादेय है, क्योंकि अतीन्द्रियसुख ही पारमार्थिक सुख है।

केवलज्ञान ही अतीन्द्रियज्ञान है। उसके साथ उत्पन्न होनेवाला सुख ही अतीन्द्रियसुख है। अतः यह कहा जा सकता है कि केवलज्ञान ही पारमार्थिक सुखस्वरूप है।

केवलज्ञानी को घातिया कर्म के क्षय होने से खेद का अभाव है, एवं सर्व इष्ट की प्राप्ति हो जाने से उसका सुख उत्कृष्ट सुख होता है। आचार्य कहते हैं कि जो उसे स्वीकार करते हैं, वे भव्य हैं एवं जो स्वीकार नहीं करते हैं, वे अभव्य हैं।

इन्द्रादिक के भी पारमार्थिक सुख नहीं हैं, क्योंकि दुःख सहन न कर पाने के कारण ही वे रम्य विषयों में प्रवृत्ति करते हैं। जिनके विषयों में रति है, उन्हें दुखी ही जानो; अन्यथा विषयों में व्यापार देखने में नहीं आता। इन्द्रियसुख का साधन शरीर भी नहीं है, क्योंकि स्वर्ग में भी शरीर शरीरी (जीव) को सुख नहीं देता, आत्मा ही विषयों के वश होकर सुख-दुःखरूप परिणमित होता है।

शरीर के समान पंचेन्द्रिय के विषय भी सुख के साधन नहीं हैं, जिसप्रकार तिमिरनाशक दृष्टिवालों को दीपक की आवश्यकता नहीं रहती, उसीप्रकार स्वयं सुखरूप परिणमित जीव को विषयों की क्या आवश्यकता है?

जिसप्रकार आकाश में सूर्य स्वयं ही उष्ण, तेजस्वी और देव है, उसीप्रकार सिद्ध भगवान भी स्वयं से ही ज्ञानी, सुखी और देव हैं।

अतः सुखाभिलाषी जीवों को विषयावलम्बी भाव को छोड़कर निरावलम्बी परमानन्द स्वभावरूप परिणमन करना चाहिये।

(घ) शुभपरिणाम अधिकार :-

इस अधिकार में इन्द्रियसुख के साधनभूत शुभपरिणामों का कथन किया गया है, उनकी हेयोपादेयता पर विचार किया गया है।

देव-शास्त्र-गुरु की पूजन-भक्ति, दान-उपवासादि में लीन आत्मा शुभपरिणामवाले हैं। शुभपरिणामों से इन्द्रियसुख प्राप्त करते हैं। इनमें सर्वाधिक अनुकूलता प्राप्त करनेवाले देवों को भी स्वाभाविक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अतीन्द्रिय) सुख नहीं है, क्योंकि वे भी देह की वेदना के कारण ही विषयों में रमण करते हैं। यदि वेदना न होती तो वे पापबंध के हेतु विषयों में रमण ही क्यों करते ? अतः सिद्ध है कि वे भी दुखी ही हैं। जब शुभ परिणामवाले भी दुखी है और अशुभ परिणामवाले भी दुखी हैं, तो फिर इनमें भेद मानने से क्या लाभ है ?

पुण्यभावों की सत्ता तो अवश्य है, क्योंकि पुण्य से प्राप्त होने वाले भोगों को इन्द्र, चक्रवर्ती आदि भोगते हैं, पर ये भोग देवों में भी तृष्णा ही पैदा करते हैं और वे उस तृष्णा से दुखी होते हैं एवं मरणपर्यन्त संतप्त रहते हुए उन्हें ही भोगते हैं।

इन्द्रियों से प्राप्त सुख परसंबंधयुक्त, बाधासहित, विच्छिन्न, विषम और बन्ध का कारण होने से दुःख ही है। अतः स्पष्ट है कि शुभोपयोगजन्य पुण्यफलरूप देवादिक संपदा, पापफलस्वरूप नारकादि आपदा परमार्थ से आपदा ही है, क्योंकि वे दोनों दुखरूप ही हैं, अतः हेय हैं। आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि जो व्यक्ति 'पुण्य और पाप में भेद नहीं है' – ऐसा नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ अपार घोर संसार में परिभ्रमण करता है।

मोहक्षय का उपाय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है, उसी का मोह नष्ट होता है। जिसका मोह नष्ट हो जाता है, वह राग-द्वेष को छोड़कर शुद्धात्मा की परिपूर्ण दशा को प्राप्त हो जाता है। सभी अरहंत भगवान भी इसीप्रकार सभी कर्मांशों का क्षय करके मोक्ष गए हैं।

द्रव्य-गुण-पर्याय संबंधी मूढ़भाव ही मोह है। मोहयुक्त जीव रागी-द्वेषी होता हुआ विविधप्रकार के बन्ध करता है, अतः वे सम्पूर्णतः क्षय करने योग्य हैं।

पदार्थों का अयथार्थ ग्रहण, तिर्यंच मनुष्यों के प्रति करुणाभाव, इष्ट विषयों में प्रीति, अनिष्ट विषयों में अप्रीति – ये सभी मोह के लक्षण हैं।

समस्त मोह के क्षय करने के उपायों की जानकारी के लिये आचार्य आगम के अध्ययन की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि जो स्व-पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को निज-निज द्रव्य से संयुक्त जानता है एवं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थों को जानकर द्रव्यों में राग-द्वेष नहीं करता, वह मोहादि का क्षय करता हुआ अल्पकाल में सर्व दुखों से मुक्त होता है। अतः शास्त्रों का सम्यक् प्रकार से अध्ययन करना चाहिये।

आगे वे कहते हैं कि जो जीव अपनी निर्मोहता चाहते हों, उन्हें स्व-पर-विवेक (भेदविज्ञान) अवश्य करना चाहिये, क्योंकि स्व-पर-विवेक से ही मोह नष्ट किया जा सकता है।

अंत में वे कहते हैं कि जो जिनकथित अर्थों का श्रद्धान नहीं करता अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन नहीं, वह श्रमण नहीं, उसे धर्म का उद्भव नहीं; किन्तु जो आगम मे कुशल हैं, मोहदृष्टि जिनकी समाप्त हो गई है, जो वीतरागचारित्र में आरूढ़ हैं, वे महात्मा श्रमण स्वयं धर्मरूप है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने गाथा ८ में कथित 'धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' को सहेतुक प्रस्तुत किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि इस महाधिकार में आचार्यदेव ने निर्वाण सुख के साधनभूत शुद्धोपयोग का, शुद्धोपयोग से उत्पन्न होनेवाले अतीन्द्रियज्ञान व अतीन्द्रियसुख का तथा इन्द्रियसुख एवं उनके कारणभूत शुभभावों का सम्यक् विवेचन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय महाधिकार – ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन

'ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन' नामक महाधिकार में मूलरूप से दो अवान्तर अधिकार हैं – द्रव्यसामान्य-अधिकार और द्रव्यविशेष-अधिकार। एक तीसरा प्रकरण भी है, जो ज्ञानज्ञेयविभाग-अधिकार के नाम से जाना जाता है। यद्यपि यह ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में ही समाहित है, तथापि यह ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व में विभाग करनेवाला होने से दोनों महाधिकारों का उपसंहार-सा ही है। जिसप्रकार आरम्भिक १२ गाथाओं की भूमिका व मंगलाचरण पृथक् होने पर भी ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार में शामिल कर लिये गये हैं, उसीप्रकार दोनों महाधिकारों का यह उपसंहारात्मक अंश ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में ही सम्मिलित कर लिया गया है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन में तीन अवान्तर अधिकार है। यह ज्ञानज्ञेयविभाग अधिकार भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अधिकार है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय के बीच भेदविज्ञान करना ही जिनागम का मूल प्रयोजन है।

(क) द्रव्यसामान्य अधिकार :–

द्रव्यसामान्य अर्थात् वस्तुव्यवस्था का सामान्य परिचय देते हुए आचार्य कहते हैं कि द्रव्य का लक्षण सत् है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। इस सत् को ही सत्ता या अस्तित्व कहते हैं। यह अस्तित्व दो प्रकार का है – सादृश्य-अस्तित्व और स्वरूप-अस्तित्व। सादृश्य-अस्तित्व को महासत्ता और स्वरूप-अस्तित्व को अवान्तरसत्ता भी कहते हैं।

गुण, पर्याय और द्रव्य का अस्तित्व भिन्न-भिन्न नहीं है, क्योंकि वे परस्पर एक-दूसरे से ही निष्पन्न होते हैं। इसीप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से ही निष्पन्न होते हैं और द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से ही निष्पन्न है। अतः गुण-पर्यायों से और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से द्रव्य का अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव ही है।

अस्तित्व के और द्रव्य के प्रदेशभेद नहीं है। अतः द्रव्य, अस्तित्व से पृथक् पदार्थ नहीं है। इसीलिये सादृश्य-अस्तित्व की अपेक्षा से द्रव्य का सर्वगत लक्षण 'सत्' कहा है।

ऐसा होने पर भी स्वरूप-अस्तित्व की अपेक्षा से द्रव्यों में अनेकत्व है, क्योंकि छहों प्रकारों के प्रत्येक द्रव्य का अपना-अपना स्वरूप-अस्तित्व भिन्न-भिन्न है, किन्तु सादृश्य-अस्तित्व की अपेक्षा से सर्वद्रव्यों में एकत्व है, क्योंकि सत् लक्षण सर्वद्रव्यों में सामान्य है।

उत्पाद, व्यय-रहित नहीं होता, व्यय, उत्पाद-रहित नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय ध्रौव्य पदार्थ के बिना नहीं होते। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य में अविनाभावी हैं, ये द्रव्य से पृथक् नहीं हैं, क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायों का आलम्बन करते हैं। अतः सब एक ही द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं। इसीलिये स्पष्ट है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों का समुदाय द्रव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य की एक पर्याय उत्पन्न होती है, दूसरी नष्ट होती है, किन्तु द्रव्य न तो उत्पन्न ही होता है, न नष्ट, वह तो ध्रुव ही रहता है। द्रव्य स्वयं ही एक गुण-पर्याय में से अन्य गुण-पर्यायरूप परिणमित होता है। अतः गुण-पर्यायें भी द्रव्य कही गई हैं।

भिन्नता दो प्रकार की होती है—पृथक्त्वलक्षण और अन्यत्व-लक्षण। विभक्तप्रदेशत्व[१] पृथक्त्व है। यह तो सत्ता और द्रव्य में संभवनहीं है, क्योंकि गुण-गुणी में विभक्तप्रदेशत्व का अभाव होता है। अतद्भाव अन्यत्व[२] का लक्षण है। यह सत्ता और द्रव्य के है ही, क्योंकि गुण-गुणी में तद्भाव का अभाव होता है। सर्वथा अभाव अतद्भाव नहीं है, अपितु कथंचित् अभाव अतद्भाव है। अतः स्वरूप-अपेक्षा से जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है और जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है। द्रव्य और सत्ता में अतद्भाव है, क्योंकि कथंचित् सत्ता द्रव्यरूप नहीं है, द्रव्य कथंचित् सत्तारूप नहीं है। इसप्रकार स्पष्ट है कि जो द्रव्य का स्वभावभूत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम है, वह सत् से अवशिष्ट—सत्ता से अभिन्न गुण है, अतः स्वभाव में समवस्थित होने से द्रव्य सत् है। सत् और द्रव्य के गुण-गुणी संबंध हैं। गुण-गुणी में पृथक्त्व नहीं होता। गुण और पर्याय, गुणी (द्रव्य) से पृथक् नहीं होते। इसलिये अभेदनय से द्रव्य स्वयंमेव सत्ता है।

द्रव्य के द्रव्यार्थिकनय से सत्-उत्पाद[३] और पर्यायार्थिकनय से असत्-उत्पाद[४] है। जब पर्यायों को गौण करके मुख्यतया द्रव्य का कथन किया जाता है, तब जो पर्याय शक्तिरूप से द्रव्य में विद्यमान थी, वही उत्पन्न होती है, क्योंकि द्रव्य तो तीनों कालों में विद्यमान है; अतः द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य को सत्-उत्पाद है। उदाहरण के लिये, जीव द्रव्य मनुष्यादि सर्व पर्यायों में अनन्य है, वह का वही रहता है, द्रव्यत्व को नहीं छोड़ता है; अतः उसके सत् उत्पाद है।

---

[१] जिन वस्तुओं के प्रदेश भिन्न-भिन्न होते हैं, उन्हें विभक्तप्रदेशत्व कहते हैं।

[२] जिनके प्रदेश भिन्न न हों, किन्तु जिनमें स्वरूप-भिन्नता (भाव-भिन्नता) हो, उसे अतद्भाव कहते हैं।

[३] जो पहले विद्यमान हो, उसकी उत्पत्ति को सत्-उत्पाद कहते हैं।

[४] जो पहले विद्यमान न हो, उसकी उत्पत्ति को असत्-उत्पाद कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब द्रव्य को गौण करके मुख्यतया पर्यायों का कथन किया जाता है, तब जो पर्याय व्यक्त रूप से द्रव्य में विद्यमान नहीं थी, वह उत्पन्न होती है, क्योंकि वर्तमान पर्याय भूतकाल में उत्पन्न नहीं थी। उदाहरण के लिये, मनुष्य, वह देव या तिर्यंच नहीं है और देव, वह मनुष्य या तिर्यंच नहीं है। अतः पर्याय-अपेक्षा से उसके असत् उत्पाद है।

प्रत्येक द्रव्य सामान्य-विशेषात्मक है। अतः प्रत्येक द्रव्य वही का वही रहता है और बदलता भी है। द्रव्य का स्वरूप ही ऐसा होने से द्रव्य के अनन्यत्व और अन्यत्व में विरोध नहीं है। द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य सामान्य ही होता है, अतः द्रव्य अनन्य है। पर्यायार्थिकनय से द्रव्य के पर्यायरूप विशेष ज्ञात होते हैं, अतः द्रव्य अन्य-अन्य भासित होता है। इसप्रकार दोनों नयों से एकसाथ देखने पर द्रव्यसामान्य और द्रव्यविशेष दोनों ज्ञात होते हैं। इसीलिये द्रव्य अनन्यरूप एवं अन्य-अन्यरूप भासित होते हैं। ये जो विरोध प्रतिभासित होते हैं, वे सप्तभंगी न्याय से सहज ही स्पष्ट हो जाते हैं। वे सप्तभंगी इसप्रकार है–

द्रव्य किसी पर्याय से अस्ति, किसी पर्याय से नास्ति, किसी पर्याय से अवक्तव्य, किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति, किसी पर्याय से अस्ति-अवक्तव्य, किसी पर्याय से नास्ति-अवक्तव्य और किसी पर्याय से अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य है।

नारकादि पर्यायें शाश्वत नहीं हैं। जब जीव राग-द्वेषभाव करता है, तब उसके कर्मबन्ध होता है। कर्मबन्ध से जीव के स्वभाव का पराभव होता है, जिससे नारकादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं, विनष्ट होती हैं।

वस्तुतः तो प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशवाले इस जीवलोक में न तो कोई उत्पन्न होता है, न ही नष्ट; क्योंकि जो उत्पाद है, वही विनाश है। तथा उत्पाद और विनाश अन्य-अन्य (भिन्न-भिन्न) भी हैं, क्योंकि उत्पाद और विनाश का अनन्यपना और अन्यपना है। जब उत्पाद और विनाश के अनन्यपने की अपेक्षा ली जाये तो पूर्वपक्ष फलित होता है अर्थात् न कोई उत्पन्न होता है, न नष्ट; जब उत्पाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और विनाश के अन्यपने की अपेक्षा ली जाय, तब उत्तरपक्ष फलित होता है अर्थात् उत्पाद अन्य है और विनाश अन्य है।

जीव, द्रव्यरूप से अवस्थित होने पर भी पर्याय से अनवस्थित (अस्थिर) है। संसरणशील (परिणमनशील) इस जगत में स्वभाव से अवस्थित कोई नहीं है, क्योंकि संसार तो संसरण करते हुए द्रव्य की क्रिया है।

इस जीव के संसार का कारण द्रव्यकर्म है एवं द्रव्यकर्म का कारण कर्म से मलिन आत्मा के परिणाम हैं।[1] यह परिणाम ही कर्म है, इससे ही जीव को संसार में पुद्गल का संबंध होता है।

परिणाम स्वयं आत्मा है। परिणाम जीवमय क्रिया है और क्रिया को कर्म माना गया है, अतः आत्मा परिणामरूप भावकर्म का ही कर्त्ता है, पुद्गल परिणामरूप द्रव्यकर्म का नहीं। उसका कर्त्ता तो स्वयं पुद्गल ही है। इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा पुद्गलरूप से परिणमित नहीं होता, आत्मस्वरूप (चेतना) से ही परिणमित होता है।

चेतना तीन प्रकार की है – ज्ञानसंबंधी, कर्मसंबंधी और कर्मफल-संबंधी। ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्मपरिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है।

अर्थविकल्प 'ज्ञान' है। जीवों के द्वारा किया जानेवाला भाव 'कर्म' है। कर्म द्वारा उत्पन्न होनेवाला सुख-दुःख 'कर्मफल' है।

ये तीनों वास्तव में आत्मा ही हैं, क्योंकि आत्मा परिणाम-स्वरूप है, परिणाम चेतनास्वरूप है; ज्ञान, कर्म और कर्मफल चेतना-मय हैं। अतः ज्ञान, कर्म व कर्मफल आत्मा ही हैं।

जो व्यक्ति इसप्रकार से निर्णय करके जब परद्रव्यरूप परि-णमित नहीं होता, तब वह शुद्धात्मा को प्राप्त करता है।

---

[1] यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं है, क्योंकि नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है और अशुद्ध आत्मपरिणाम का कारण वही द्रव्यकर्म नही, अपितु पूर्व का द्रव्यकर्म है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) द्रव्यविशेष अधिकार :–

इस अधिकार में आचार्यदेव जीवादि छह द्रव्यों का विशेष वर्णन करते हैं। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन छह द्रव्यों को कई युग्मों में विभाजित करके समझाते हैं। जैसे :– जीव-अजीव, मूर्त-अमूर्त, लोक-अलोक, क्रियावान-भाववान, सप्रदेशी-अप्रदेशी आदि।

उपयोगमयी चेतन जीवद्रव्य है और शेष पुद्गलादि पाँच द्रव्य अचेतन होने से अजीव हैं। आकाश के जिस प्रदेश में जीवादि छहों द्रव्य रहते हैं, वह लोक है, शेष सब अलोक है। भाववान (परिवर्तन-शील) तो छहों द्रव्य हैं, पर जीव और पुद्गल क्रियावान (गमनशील) भी हैं। पुद्गल मूर्त है, शेष द्रव्य अमूर्त हैं। कालद्रव्य एकप्रदेशी है, शेष द्रव्य बहुप्रदेशी हैं।

गुणों से द्रव्य पहिचाने जाते हैं, क्योंकि मूर्त द्रव्यों के गुण मूर्त होते हैं और अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त होते हैं। इन्द्रियग्राह्य गुणों को मूर्त कहते हैं और जो इन्द्रियग्राह्य न हो, वे गुण अमूर्त जानने चाहिये।

वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, गुण सर्व पुद्गलों के होते हैं। शब्द पुद्गल की पर्याय है, गुण नहीं।

आकाश का गुण अवगाहनहेतुत्व, धर्मद्रव्य का गुण गमनहेतुत्व, अधर्म द्रव्य का गुण स्थितिहेतुत्व, काल का गुण वर्तना हेतुत्व एवं आत्मा का गुण उपयोग है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश प्रदेशवाले हैं एवं काल अप्रदेशी है[1]। यद्यपि परमाणु भी अप्रदेशी है, पर उसे प्रदेशोद्भव होता है, अतः उसे भी प्रदेशी ही माना जाता है। किन्तु काल को तो पुद्गल परमाणु की तरह शक्ति-अपेक्षा (पर्याय से) भी अनेक-प्रदेशीपना नहीं है, अतः वह अप्रदेशी ही है।

जिसप्रकार आकाश के प्रदेश हैं, उसीप्रकार शेष द्रव्यों के भी प्रदेश हैं, जो कि आकाश के समान ही परमाणुरूपी गज से नापे जाते हैं; किन्तु काल अप्रदेशी है।

---

[1] यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि काल के प्रदेश ही नहीं होते, वह तो एक-प्रदेशी है। अनेक-प्रदेशी न होने से ही उसे यहाँ अप्रदेशी कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं, जिनके एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु स्थित है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्ष गुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, पुद्‌गल परमाणुओं की भाँति परस्पर मिलते नहीं हैं।

परमाणु को एक आकाशप्रदेश से दूसरे अनन्तर आकाशप्रदेश पर मन्दगति से जाने में जितना काल लगता है, उसे 'समय' कहते हैं। यह कालद्रव्य की सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय है। कालद्रव्य नित्य है, समय (व्यवहार काल) उत्पन्न-प्रध्वंसी है। समय, प्रदेश की भांति निरंश है।

आकाश का एक परमाणु से व्याप्त अंश आकाशप्रदेश है तथा यह आकाशप्रदेश समस्त परमाणुओं को अवकाश देने में समर्थ है।

आकाशद्रव्य अवस्थित (स्थिर) तथा अनन्तप्रदेशी है। धम और अधर्मद्रव्य अवस्थित तथा असंख्यात प्रदेशी एवं जीवद्रव्य अनवस्थित (अस्थिर) तथा असंख्यप्रदेशी है। पुद्‌गलद्रव्य (परमाणु) अनेकप्रदेशीपने की शक्ति से युक्त एक प्रदेशवाला है तथा पर्याय (स्कन्ध) की अपेक्षा से संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशवाला है। अतः इन सभी द्रव्यों के तिर्यक्प्रचय[1] हैं, किन्तु काल के तिर्यक्प्रचय नहीं है, क्योंकि वह शक्ति एवं व्यक्ति दोनों ही अपेक्षा से एक प्रदेशवाला ही है।

ऊर्ध्वप्रचय[2] तो सभी द्रव्यों के होता ही है, क्योंकि द्रव्यों की वृत्ति भूत-वर्तमान-भविष्य तीनों कालों का स्पर्श करती है। अन्तर यह है कि समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय तो पुद्‌गलादि द्रव्यों का ऊर्ध्वप्रचय है और समयों का प्रचय ही कालद्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है, क्योंकि शेष द्रव्यों की वृत्ति समय से अर्थान्तरभूत होने से समयविशिष्ट है और कालद्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समय-स्वरूप है, अतः वह समय विशिष्ट नहीं है।

कालपदार्थ के प्रत्येक वृत्यंश में उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं। समय कालपदार्थ का वृत्यंश (सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय) है,

---

[1] प्रदेशों का समूह तिर्यक्प्रचय कहा जाता है।

[2] समयविशिष्ट वृत्तियों का समूह ऊर्ध्वप्रचय कहा जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उस वृत्यंश में अवश्य उत्पाद और विनाश संभवित है, क्योंकि परमाणु के अतिक्रम के द्वारा समयरूपी वृत्यंश उत्पन्न होता है, इसलिये कारणपूर्वक है। परमाणु के द्वारा एक आकाशप्रदेश का मंदगति से उल्लंघन करना कारण है और समयरूपी वृत्यंश उस कारण का कार्य है, इसलिये उसमें किसी पदार्थ के उत्पाद और विनाश होते रहना चाहिये। अतः स्पष्ट है कि कारणपूर्वक होनेवाले कालपदार्थ के वृत्यंश में उत्पाद और विनाश युगपत् होते हैं, क्योंकि जिस वृत्तिमान के जिस वृत्यंश में उस वृत्यंश की अपेक्षा से उत्पाद है, वही उत्पाद उसी वृत्तिमान के उसी वृत्यंश के पूर्व वृत्यंश की अपेक्षा विनाश है, अर्थात् कालपदार्थ के जिस वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है, वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है। इसप्रकार उत्पाद और विनाश काल के एक वृत्यंश में भी संभवित है, अतः वह खण्डित नहीं, स्वभावतः ध्रुव है।

जिसप्रकार काल के एक वृत्यंश में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं, उसीप्रकार वे काल के सभी वृत्यंशों में भी होते हैं; इसी से कालाणु की सिद्धि होती है। कालाणु के सिद्ध होने से उसके प्रदेशवानपने की सिद्धि भी स्वतः ही है, क्योंकि जिस पदार्थ के प्रदेश या एक प्रदेश ज्ञात नहीं होते, वह शून्य है, उसका कोई अस्तित्व नहीं।

यहाँ विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि पहले तो आचार्यदेव ने कहा था कि "समओ दु अप्पदेशो"[1] समय अप्रदेशी है एवं यहाँ यह कह रहे हैं कि "जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादु"[2] जिसमें पदार्थ के प्रदेश अथवा एक प्रदेश ज्ञात नहीं होते, वह वास्तव में होता ही नहीं है।

उक्त कथन में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि एक प्रदेश को अप्रदेशी भी कहा जाता है।

(ग) ज्ञान-ज्ञेयविभाग अधिकार :–

इस अधिकार में ज्ञानतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व का निरूपण इसप्रकार किया गया है कि जिससे भेदज्ञान की उत्पत्ति हो। ज्ञान (जीव)

---

[1] प्रवचनसार, गाथा १३८
[2] प्रवचनसार, गाथा १४४ पूर्वार्द्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और ज्ञेय (शरीरादि) का संबंध अनादिकाल से किसप्रकार हो रहा है और वह कैसे छूटे, मुक्तिमार्ग में अत्यन्त उपयोगी यह विषय इस अधिकार में सरलता से स्पष्ट किया गया है।

समस्त ज्ञेयपदार्थों को जाननेवाला ज्ञायकस्वभावी आत्मा अनादि काल से इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणों से युक्त है। अतः संसारी जीव का स्वरूप भी इसप्रकार जाना जाता है कि जो इन चार प्राणों से जीता है, जीता था और जीवेगा, वह जीव है। ऐसा होने पर भी ये प्राण पुद्गलद्रव्य से निष्पन्न हैं, जीवद्रव्य से नहीं।

मोहादिक जड़कर्मों से निबद्ध जीव इन प्राणों को धारण करता है और प्राणों से कर्मफल को भोगता हुआ मोह-राग-द्वेष को प्राप्त होता है। मोहादिभावों से स्व-पर के द्रव्य-भाव प्राणों को बाधा पहुँचाता हुआ ज्ञानावरणादि जड़कर्मों से बँधता है।

जबतक यह आत्मा देहादि विषयों में ममत्व नहीं छोड़ता है, तबतक यह दुष्चक्र चलता ही रहता है। जो आत्मा जितेन्द्रिय होकर ज्ञानस्वभावी आत्मा का ध्यान करता है, वह कर्मों से रंजित न होने के कारण प्राणों को भी धारण नहीं करता अर्थात् मुक्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि देहरूप व्यवहारप्राण आत्मा से अत्यन्त भिन्न होने से उक्त विधि से उच्छेद करने योग्य हैं।

इसी बात को विस्तार देते हुए आचार्यदेव आगे कहते हैं कि स्व-पर के विभाग बिना अनादिकाल से यह प्राणी मनुष्य, तिर्यंच, नारक और देव पर्यायों को धारणकर चतुर्गति में परिभ्रमण कर रहा है। ज्ञान-दर्शनस्वभावी यह आत्मा जब शुभभावरूप परिणमित होता है, तब पुण्य का बंध करता है और जब अशुभभावरूप परिणमित होता है, तब पाप का बंध करता है। जब शुभ और अशुभ दोनों भावों का अभाव कर वीतरागभावरूप परिणमित होता है, तब कर्मबन्ध नहीं होता है।

जो परिणाम (उपयोग) अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु – इन पञ्च परमेष्ठी को जानता है, उनकी श्रद्धा करता है और प्राणियों के प्रति दयावान होता है, वह परिणाम शुभोपयोग कहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जाता है। इसीप्रकार विषयकषाय में मग्न, कुमति, कुविचार और कुसंगति में लग्न, उग्र और उन्मार्ग में संलग्न उपयोग अशुभोपयोग है।

बंधन के कारण उक्त दोनों उपयोगों के त्याग की प्रेरणा देते हुए – भावना करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि अन्य द्रव्य में मध्यस्थ होता हुआ, अशुभोपयोग से रहित एवं शुभोपयोग में उपयुक्त न होता हुआ मैं ज्ञानात्मक आत्मा को ध्याता हूँ, क्योंकि मैं तो न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी ही हूँ, इनका कारण भी नहीं हूँ, कर्त्ता भी नहीं हूँ, करानेवाला भी नहीं हूँ और कर्त्ता का अनुमोदक भी नहीं हूँ।

'देह, मन, वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं' – ऐसा वीतरागदेव ने कहा है। चूँकि मैं पुद्गलद्रव्यमय नहीं हूँ और न वे पुद्गल मेरे द्वारा पिण्डरूप ही किये गये हैं, अतः मैं देह नहीं हूँ और देह का कर्त्ता भी नहीं हूँ। देह के परमाणु स्निग्धता और रूक्षता के कारण स्वयं ही पिण्डरूप परिणमित होते हैं।

इसके बाद आचार्यदेव पुद्गल परमाणुओं की बंधन-प्रक्रिया का वर्णन करते हैं, जो मूलतः पठनीय है। उक्त प्रक्रिया का वर्णन करने के बाद आचार्यदेव समझाते हैं कि यह लोक कर्म के योग्य पुद्गलों से परिपूर्ण है। वे पुद्गल-स्कंध जीव की शुभाशुभ परिणति का निमित्त पाकर स्वयं कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, जीव उनमें कुछ नहीं करता। औदारिकादि सभी शरीर पुद्गलजन्य ही हैं तथा आत्मा उनसे सर्वथा भिन्न ही है।

अतः जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंग-ग्रहण, अनिर्दिष्टसंस्थान और चेतनागुण से युक्त जानो।

मूर्त्त पुद्गल के साथ अमूर्त्त आत्मा के बंध का स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि जिसप्रकार अरूपी जीव रूपी द्रव्यों और उनके गुणों को देखकर जानता है, उसीप्रकार उनके साथ बन्ध को भी प्राप्त होता है। विविध विषयों को प्राप्त कर उनसे मोह, राग और बंध करनेवाला जीव उनसे बंध को प्राप्त होता है। स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बंध, रागादि के साथ जीव का बंध और अन्योन्य अवगाह जीव-पुद्गलात्मक बन्ध कहा गया है। असंख्यप्रदेशी आत्मा के प्रदेशों में पुद्गलसमूह प्रवेश करते हैं, रहते हैं, जाते हैं और बँधते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी हैं। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि रागी आत्मा कर्म बाँधता है और रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है।

मोह-राग-द्वेष परिणामों से बंध होता है। मोह और द्वेष परिणाम तो अशुभ ही होते हैं, राग शुभ भी होता है और अशुभ भी। पर के प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है; परन्तु जो परिणाम पर के प्रति प्रवर्तमान नहीं है – ऐसा स्वभावसन्मुख परिणाम शुद्ध होने से दुःखक्षय का कारण है।

स्वद्रव्य में प्रवृत्ति एवं परद्रव्य से निवृत्ति कराने के लिये आचार्यदेव स्व-पर का विभाग और भी विशेष स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

त्रस, स्थावर आदि भेदों से भी जीव भिन्न ही है। इस तथ्य से अपरिचित लोग पर में एकत्वबुद्धि करते हैं, पर आत्मा तो मात्र अपने भावों का ही कर्त्ता है, पुद्गलद्रव्यमय परभावों का नहीं। पुद्गलों के मध्य रहता हुआ भी जीव न तो पुद्गल कर्मों को करता है, न ग्रहण करता और न छोड़ता ही है। जीव रागादि स्वपरिणामों का कर्त्ता होता हुआ कर्मरज को ग्रहण करता है, छोड़ता भी है। निश्चय से बन्ध का यही स्वरूप है, व्यवहार से अन्यरूप भी कहा जाता है।

अतः जो श्रमण देह व धनादिक में ममता को नहीं छोड़ता है, वह उन्मार्गगामी ही है। 'मैं पर का नहीं हूँ, पर मेरा नहीं है, मैं तो एक ज्ञानरूप ही हूँ' – इसप्रकार ध्यान करनेवाला ही सच्चा श्रमण है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं तो आत्मा को ज्ञानात्मक, दर्शनभूत, ध्रुव, अचल, शुद्ध निरावलम्बी और अतीन्द्रिय महापदार्थ मानता हूँ।

शरीर, धन, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र कुछ भी ध्रुव नहीं हैं, ध्रुव तो एक उपयोगात्मक आत्मा ही है – जो विशुद्धात्मा इसप्रकार परम आत्मा का ध्यान करता है, वह ही मोह दुर्ग्रन्थि का नाश करता है, मोह-राग-द्वेष का क्षय करनेवाला श्रमण ही अक्षय सुख को प्राप्त करता है।

अन्त में आचार्यदेव उन सभी जिन, जिनेन्द्र-श्रमणों को नमस्कार करते हैं, जो उक्त मार्ग पर आरूढ़ होकर सिद्ध हुये हैं। उक्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्ग को भी नमस्कार करते हुए अन्त में स्वयं के निर्ममत्व होने की भी घोषणा करते हैं।

तृतीय महाधिकार – चरणानुयोगसूचक चूलिका

'चरणानुयोगसूचक चूलिका' नामक इस चारित्र महाधिकार में चार अवान्तर अधिकार हैं, जिनके नाम क्रमशः इसप्रकार हैं :–

(क) आचरण-प्रज्ञापन अधिकार (ख) मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन अधिकार
(ग) शुभोपयोग-प्रज्ञापन अधिकार (घ) पंचरत्न-प्रज्ञापन अधिकार

(क) आचरण-प्रज्ञापन अधिकार

मंगलाचरणोपरान्त चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हुए आचार्य लिखते हैं कि यदि दुःखों से मुक्ति चाहते हो तो श्रामण्य को स्वीकार करो। श्रामण्य को अंगीकार करने की विधि बताते हुए कहते हैं कि माता-पिता, पत्नी-पुत्र और बन्धुवर्ग से अनुमति लेकर पंचाचरण के धारी, श्रेष्ठ श्रमणोत्तम आचार्य के पास जाकर दीक्षा लेने की भावना प्रगट करे और भावना भावे कि न तो मैं किसी का हूँ, न कोई जगत में मेरा है। इसप्रकार यथाजात नग्न दिगम्बर रूप को धारण करे।

श्रमणलिंग, हिंसादि, शृंगारादि, मूर्च्छा और आरम्भ से रहित, उपयोग और योग की शुद्धि से सहित होता है। दाढ़ी-मूँछ के लोंच से सहित यह यथाजात लिंग जिनेन्द्रदेव ने पर की अपेक्षा से रहित कहा है। यही साक्षात् मोक्ष का कारण है।

इसप्रकार परमगुरु के द्वारा प्रदत्त अंतर्बाह्य दिगम्बर श्रामण्य को धारणकर श्रमण आत्मस्थ होता है। अचेलपना, अस्नान, भूमि-शयन, अदंतधावन, खड़े-खड़े भोजन, एकबार आहार श्रमणों के मूलगुण हैं। इन मूलगुणों में प्रमत्त होनेवाला श्रमण छेदोपस्थापक होता है।

संयम के छेद दो प्रकार के होते हैं – बहिरंग और अंतरंग।

कायचेष्टा संबंधी छेद बहिरंग छेद है। उपयोग संबंधी छेद अंतरंग छेद है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब श्रमण के प्रयत्नपूर्वक की जानेवाली कायचेष्टा में कथंचित् बहिरंग छेद होता है, तो उसे आलोचनापूर्वक[1] क्रिया करनी चाहिये। जब उपयोग संबंधी छेद हुआ तो उसे व्यवहारज्ञ एवं प्रायश्चित्त-कुशल श्रमण के पास जाकर अपने दोष का निवेदन करके जैसा वे उपदेश दें वैसा करना चाहिये।

सभी परद्रव्य श्रामण्य के छेद के आयतन हैं। संयोग के निमित्त-भूत आगमोक्त आहार, अनशन, गुफादि-निवास, विहार, देहमात्र परिग्रह अन्य मुनियों का परिचय और धार्मिक चर्चा-वार्ता के प्रति भी रागादि करना उचित नहीं, क्योंकि इनसे भी संयम का छेद होता है। अतः जो परद्रव्य के प्रति ममत्व को छोड़कर छेदविहीन होकर गुरु के पास या अन्य स्थल पर रहता हुआ ज्ञान-दर्शन और मूलगुणों[2] में प्रयत्नपूर्वक विचरण करता है, वह परिपूर्ण श्रमण है।

श्रमण की उक्त आहार-विहारादि अप्रयतचर्या नित्य हिंसा है, क्योंकि वहाँ नियम से अशुद्धोपयोग तो होता ही है; अतः अप्रयत आचरणवाले से जीव मरें या न मरें, पर अंतरंग हिंसा निश्चित ही होती है। अप्रयत आचरणवाले को तो शास्त्रों में छहकाय संबंधी वध का करनेवाला कहा है। जबकि प्रमत्त समितिवान को बाह्य हिंसा होने पर भी हिंसा मात्र मे बन्ध नहीं होता। अतः अंतरंग छेद सर्वथा निषेध्य है।

इसप्रकार कायचेष्टापूर्वक जीव के मरने पर तो कभी बन्ध होता है, कभी नहीं; किन्तु उपधि (परिग्रह) से तो निश्चित ही बन्ध होता है; क्योंकि उपधि अन्तरंग छेद है। उसके रहने पर भावों में विशुद्धि नहीं होती तथा मूर्च्छा, आरंभ और असंयम का सद्भाव रहता है। अतः परिग्रह के सद्भाव में श्रमण आत्मा को नहीं साध सकता, न ही उसे कर्म का क्षय संभव है।

---

[1] सूक्ष्मता से देख लेना; सूक्ष्मता मे विचारपूर्वक क्रिया आलोचना होती है।

[2] यहाँ मूलगुण से तात्पर्य निश्चय मूलगुण अथवा निश्चय मूलगुण के आधार-भूत परमात्मद्रव्य मे है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि श्रमण को समस्त उपधि का त्याग करना चाहिये। यही सामान्य नियम है, तदपि विशिष्ट क्षेत्र-काल के वश श्रमण अनिषिद्ध[1] उपधि ग्रहण कर सकता है, क्योंकि उस उपधि से छेद नहीं होता। जैसे – आहार-निहारादि के लिये अनिषिद्ध आवश्यक उपधि का ग्रहण करना।

जिनेन्द्र ने तो देह को भी परिग्रह कहा है, उसके भी संस्कार न करने का उपदेश दिया है, तो फिर अन्य की तो बात ही क्या है? अतः यदि सामर्थ्य हो तो सर्वपरिग्रह का ही त्याग करना चाहिये। अरहन्तों ने भी यही किया है, क्योंकि उत्सर्ग ही वस्तु धर्म है, अपवाद नहीं।

इनमें अनिषिद्ध उपधि अपवाद है। जो श्रामण्य के सहकारी कारण के रूप में उपकार करनेवाला होने से उपकरण है।

यथाजात रूप,[2] गुरु के वचन,[3] सूत्रों का अध्ययन[4] और विनय[5] को उपकरण कहा गया है।

अपवाद उपकरणभूत इस उपधि का निषेध नहीं है, तथापि यह वस्तु धर्म न होने से उत्सर्गमार्ग नहीं है।

श्रमण शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि के साधकभूत श्रामण्य पर्याय के पालन के लिये युक्ताहार-विहारी होता है, न कि वर्तमान या भावी दिव्य शरीर के अनुराग से; अतः युक्ताहारी साक्षात् अनाहारी व अविहारी ही है। चूंकि वह देह में ममत्वपूर्वक अनुचित आहार ग्रहण नहीं करता, अतः वह श्रमण युक्ताहारी है। आहार आत्मा का

---

[1] अनिन्दित, असंयत जनों के द्वारा अप्रार्थनीय, मूर्च्छादि के उत्पादन रहित उपधि अनिषिद्ध उपधि है।

[2] जिस श्रमण की श्रामण्य पर्याय की सहकारी कारणभूत, सर्व कृत्रिमताओं से रहित यथाजातरूप के सम्मुख वृत्ति जाय, उसे काय का परिग्रह है।

[3] जिस श्रमण की गुरु के उपदेश-श्रवण में वृत्ति रुके, उसे वचन पुद्गलों का परिग्रह है।

[4] जिस श्रमण की सूत्राध्ययन में वृत्ति रुके, उसे सूत्र-पुद्गलों का परिग्रह है।

[5] जिस श्रमण के योग्य विनयरूप परिणाम हों, उसे मन के पुद्गलों का परिग्रह है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभाव नहीं है – ऐसा परिणाम योगश्रमण के होने से वह योगी है, इसलिये उसका आहार युक्ताहार (योगी का आहार) है।

युक्ताहार भिक्षाचरण से, दिन में एक बार, यथालब्ध, रस की अपेक्षा से रहित एवं मधु-मांस-रहित होता है।

इसप्रकार आचार्यदेव ने श्रमण के द्रव्यलिंग और भावलिंग का स्वरूप बताते हुए कहा है कि केवल नग्नतारूप द्रव्यलिंग, भावलिंग के बिना व्यर्थ है, भाव्यलिंगधारी श्रमण को ही सच्चे सुख की प्राप्ति होती है। अतः बाल, वृद्ध, परिश्रमी, रोगी को भी अपने योग्य अति कठोर आचरण ही करना चाहिये[१] – यह उत्सर्ग मार्ग है। एवं अपवाद मार्ग में बाल, वृद्ध, श्रांत, ग्लान श्रमण को संयम का छेद जैसे न हो, ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण ही करना चाहिये।

इसप्रकार जो श्रमण आहार-विहार में देश, काल, श्रम, क्षमता तथा उपधि को जानकर आचरण करता है, वह अल्पलेपी होता है।

जबतक शुद्धोपयोग में लीनता न होवे, तबतक ही श्रमण को आचरण की सुस्थिति के लिये उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री साधनी चाहिये। उसे अपनी निर्बलता का लक्ष्य रखे बिना मात्र उत्सर्ग का आग्रह – केवल अति कर्कश आचरण का हठ नहीं करना चाहिये तथा उत्सर्ग रूप ध्येय को चूककर मात्र अपवाद के आश्रय से केवल मृदु आचरणरूप शिथिलता का सेवन भी नहीं करना चाहिये; किन्तु ऐसा व्यवहार करना चाहिये, जिसमें हठ भी न हो और शिथिलता का भी सेवन न हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य कुन्दकुन्द जितने शिथिलाचार के विरोधी थे, उतने ही शक्ति के बाहर अति कठोर आचरण के भी। वे अपनी शक्ति-अनुसार पद की मर्यादा के भीतर यथासंभव मृदु-कठोर आचरण के समर्थक थे। जिसप्रकार उन्होंने मृदु आचरण के नाम पर आई हुई शिथिलता के विरुद्ध कठोर रुख अपनाया है, उसीप्रकार शक्ति के बाहर अति कठोर आचरण का भी खुलकर निषेध किया है।

[१] स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः—गाथा २३० की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस अधिकार में आचार्य ने संयम-भंग के अन्तरंग और बहिरंग स्वरूप, कारण, संयमभंग से बचने की विधि, आलोचना, उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग का स्वरूप तथा उपादेयता, श्रमण के २८ मूलगुण आदि समस्त श्रमण से सम्बद्ध विषयों पर प्रकाश डाला है, जिससे श्रमण के स्वरूप का बिम्ब हमारे नेत्रपटल के सामने प्रतिबिम्बित होता है।

(ख) मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन अधिकार

इस अधिकार में मोक्षमार्ग के निरूपक आगम के अध्ययन पर अत्यधिक बल दिया गया है और अन्त में दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को ही मोक्षमार्ग सिद्ध किया गया है।

आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं होता, पदार्थों के निश्चय के बिना एकाग्रता नहीं होती, एकाग्रता के बिना शुद्धात्म-प्रवृत्ति न होने से मुनिपना नहीं होता। आगम के बिना स्व-पर का भेदज्ञान नहीं होता और भेदज्ञान न होने से कर्मों का क्षय नहीं होता। अतः आगमचेष्टा ही ज्येष्ठ है अर्थात् आगम का गहरा अध्ययन ही मुख्य है; क्योंकि आगमहीन श्रमण न तो अपने को ही जानता है, न पर को। अपने और पर के ज्ञान से शून्य श्रमण कर्मों का नाश किस-प्रकार कर सकता है?

सामान्यजन इन्द्रिय-चक्षु होते हैं, देव अवधि-चक्षु होते हैं, साधु आगम-चक्षु होते हैं और सिद्ध भगवान सर्वतःचक्षु होते हैं। आगमचक्षु होने से साधु सभी कुछ आगमरूपी नेत्रों से ही देखते हैं। जिस श्रमण को दृष्टि आगमानुसार नहीं है, वह श्रमण संयमी नहीं है, अतः उसकी मुक्ति भी संभव नहीं है।

जो कर्म अज्ञानी लक्ष्यकोटि भवों में नष्ट करता है, वह ज्ञानी मन-वचन-काय की एकाग्रता से उच्छ्वासमात्र में नष्ट कर देता है। किन्तु यदि श्रमण को शरीरादि के प्रति परमाणुमात्र भी मूर्च्छा हो तो वह सर्वागम का धारी होने पर भी सिद्धि को प्राप्त नहीं होता।

जो श्रमण पाँच इन्द्रियों से विरक्त, कषायों को जीतनेवाला, पाँच समिति, तीन गुप्ति से युक्त, दर्शन-ज्ञान से परिपूर्ण है, वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रमण शत्रु-मित्र, सुख-दुःख, जीवन-मरण, मिट्टी-सोना में साम्यभाव रखता है।

इसप्रकार जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र में युगपद् आरूढ़ है, वह ही वास्तविक श्रमण है।

(ग) शुभोपयोग-प्रज्ञापन अधिकार

यद्यपि वास्तविक मुनिधर्म तो शुद्धोपयोग ही है, तथापि मुनिराजों के शुभोपयोग भी पाया जाता है। मुनिराजों की भूमिका के योग्य शुभोपयोग कैसा होता है – इस बात का विस्तृत विवेचन इस अधिकार में किया गया है। अरहन्तादि के प्रति भक्ति एवं प्रवचनरत जीवों के प्रति वात्सल्य श्रमणों की शुभचर्या है। श्रमणों के प्रति वन्दन-वैयावृत्यादि रागचर्या भी शुभोपयोगी श्रमणों में निषेध्य नहीं है। इसीप्रकार तत्त्वोपदेश, शिष्यों का ग्रहण-पोषण भी सरागी श्रमणों की चर्या है। यदि वैयावृत्ति के लिये उद्यत श्रमण छहकाय के जीवों को पीड़ित करता है, तो वह श्रमण नहीं, गृहस्थ है; क्योंकि ऐसी वैयावृत्ति श्रावकों का कार्य है।

रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणों को रोग से, क्षुधा से, तृषा से तथा श्रम से त्रस्त देखकर उनकी अपनी शक्ति के अनुसार वैयावृत्यादि करनी चाहिये एवं उनके निमित्त से गृहस्थों के साथ की गई शुभोपयोग-युक्त बातचीत भी निन्दित नहीं है।

ये सभी क्रियायें श्रमणों के गौण और गृहस्थों के मुख्य होती हैं।

प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग समान होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल विपरीत होता है। कारण की विपरीतता से अविपरीत फल की प्राप्ति नहीं हो सकती; इसलिये विषय-कषायों में लीन पुरुषों के प्रति सेवा, उपकार, दान आदि से हीन पुण्य की प्राप्ति होती है।

इसीप्रकार अविपरीत कारण से अविपरीत फल की उत्पत्ति होती है। जिसके पाप रुक गया है, जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान है और गुण-समुदाय का सेवन करनेवाले अशुभोपयोग-रहित, शुद्धोपयोग या शुभोपयोग से युक्त श्रमण के प्रति भक्तिवान जीव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रशस्त पुण्य को प्राप्त करते हैं। ऐसे गुणों में अधिक श्रमणों के प्रति अन्य श्रमणों को अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, विनय आदि क्रिया अवश्य करना चाहिये। जो श्रमण गुणों में अधिक श्रमण का उक्त क्रियाओं से सम्मान नहीं करता, उन्हें देखकर द्वेष करता है, उनका अपवाद करता है; उसका चारित्र नष्ट होता है। स्वयं गुणों में हीन है एवं गुणाधिक श्रमण से अपनी विनय करवाना चाहता है तथा स्वयं गुणों में अधिक है, किन्तु हीन गुणवालों के प्रति वंदनीय क्रिया करता है – ये दोनों ही चारित्र से भ्रष्ट हैं एवं अनन्त संसार में भ्रमण करते हैं। जो शासनस्थ श्रमण को देखकर द्वेष से उनका अपवाद करता है एवं सत्कारादि क्रिया नहीं करता, उसका भी चारित्र नष्ट होता है।

जो जीव सूत्र-अर्थ-पदों का ज्ञाता होने पर भी लौकिक जनों का साथ नहीं छोड़ता, वह संयत नहीं है; क्योंकि लौकिकजनों के सम्पर्क से संयत भी असंयत हो जाता है।

निर्ग्रन्थरूप से दीक्षित हो, संयम-तप से युक्त हो, वह भी यदि ऐहिक कार्यों को करता हो तो 'लौकिक' कहलाता है।

प्रेरणा देते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि श्रमण दुःखों से मुक्त होना चाहता हो तो वह समान गुणवाले या अधिक गुणवाले श्रमण के साथ सदा रहे, क्योंकि इससे सदा गुणों में वृद्धि होती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि शुभोपयोगी श्रमणों का अन्य श्रमणों, श्रावकों एवं लौकिजनों से कैसा व्यवहार होता है या होना चाहिये – इस बात को यहाँ व्यावहारिकरूप से अत्यन्त स्पष्ट किया गया है।

(घ) पंचरत्न-प्रज्ञापन अधिकार –

पाँच गाथाओं वाले इस अधिकार में भ्रष्ट श्रमणों को संसार-तत्त्व और वीतरागी सन्तों को मोक्ष व मोक्ष का साधनतत्त्व कहा गया है और अन्त में शुद्धोपयोगरूप चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है। वस्तुस्वरूप को अयथार्थ ग्रहण करनेवाले श्रमणाभासी अनन्तकाल तक संसार में रहनेवाले होने से संसारतत्त्व हैं और वस्तुस्वरूप के सम्यक्ज्ञाता आत्मानुभवी प्रशान्त शुद्धोपयोगी श्रमण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही साक्षात् मोक्षतत्त्व हैं। मोक्ष के मार्ग में विचरण करनेवाले होने से वे ही मोक्षमार्गरूप मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व हैं।

अन्त में उन शुद्धोपयोगी सन्तों को नमस्कार करते हुए, इस ग्रन्थ के अध्ययन का फल बताते हुए आचार्य कहते हैं कि इसे जाननेवाला अल्पकाल में ही शुद्धात्मा की प्राप्ति करता है, क्योंकि इसमें जिनेन्द्र भगवान के प्रवचन का सार संगृहीत है।

इसप्रकार यह मूल ग्रन्थ समाप्त होता है।

इसके अन्त में परिशिष्ट के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने ४७ नयों की चर्चा की है, जिनकी चर्चा यथास्थान की ही जायेगी।

पंचास्तिकायसंग्रह

जिनागम में प्रतिपादित- द्रव्य एवं पदार्थ-व्यवस्था की सम्यक् जानकारी बिना जिन-सिद्धान्त और जिन-अध्यात्म में प्रवेश पाना संभव नहीं है, अतः आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकायसंग्रह नामक इस ग्रन्थ में जिनागम में प्रतिपादित द्रव्यव्यवस्था एवं पदार्थ-व्यवस्था का संक्षेप में परिचय दिया है।

इसकी रचना भी शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले प्राथमिक शिष्यों के लिये ही की गई है। जैसा कि तात्पर्यवृत्तिकार ने कहा है –

"अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पंचास्तिकायप्राभृतशास्त्रे……………………[1]

अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिये रचित पंचास्तिकायप्राभृत शास्त्र में………… ।"

इस ग्रन्थ के स्पष्टरूप से दो खण्ड हैं, जिन्हें 'समयव्याख्या' नामक टीका में आचार्य अमृतचन्द्र 'श्रुतस्कन्ध' नाम से अभिहित करते हैं, जैसाकि दोनों खण्डों की अन्तिम पंक्तियों से स्पष्ट है।[2]

---

[1] जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका का प्रारंभिक अंश।

[2] (अ) इति समयव्याख्यायामंतर्नीतषड्द्रव्यपंचास्तिकायवर्णनः प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।
(ब) इति समयव्याख्यायां नवपदार्थपुरस्सरमोक्षमार्गप्रपंचवर्णनो द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त दोनों खण्ड इतने विभक्त हैं कि दो स्वतंत्र ग्रन्थ से प्रतीत होते हैं। दोनों के एक जैसे स्वतन्त्र मंगलाचरण किये गये हैं। प्रथम खण्ड समाप्त करते हुए उपसंहार भी इसप्रकार कर दिया गया है कि जैसे ग्रन्थ समाप्त ही हो गया हो। प्रथम खण्ड की समाप्ति पर ग्रन्थ के अध्ययन का फल भी निर्दिष्ट कर दिया गया है। द्वितीय खण्ड इसप्रकार आरम्भ किया गया है, मानो ग्रंथ का ही आरम्भ हो रहा है।

आचार्य जयसेन ने प्रथम खण्ड में एक महाधिकार एवं द्वितीय खण्ड में दो महाधिकार माने हैं, जिन पर विस्तार से चर्चा यथास्थान की जायेगी।

प्रथम खण्ड में षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय का वर्णन है और द्वितीय खण्ड में नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्ग का निरूपण है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयव्याख्या' नामक टीका के मंगलाचरण के साथ ही तीन श्लोकों द्वारा पंचास्तिकायसंग्रह के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया है, जो कि इसप्रकार है—

"पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम्॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा॥

प्रथम खण्ड में सूत्रकर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने मूलपदार्थों का पंचास्तिकाय एवं षड्द्रव्य के रूप में निरूपण किया है। दूसरे खण्ड में जीव और अजीव द्रव्य पर्यायोंरूप नवपदार्थों का विभिन्न प्रकार से कथन किया है। दूसरे खण्ड के अन्त में चूलिका के रूप में तत्त्वों के परिज्ञानपूर्वक (पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य एवं नवपदार्थों के यथार्थ ज्ञानपूर्वक) त्रयात्मक मार्ग से (सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र की एकता से) कल्याणस्वरूप उत्तम मोक्षप्राप्ति कही है।"

प्रथम श्रुतस्कन्ध

इस महाधिकार में सर्वप्रथम छब्बीस गाथाओं का मंगलाचरण एवं ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा के उपरान्त षड्द्रव्य एवं पंचास्तिकाय के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका दी गई है । इसके बाद प्रत्येक द्रव्य का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है ।

(क) षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय के सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका

इस पीठिका में पाँच अस्तिकायों का अस्तित्व और कायत्व जिस सुन्दरता के साथ बताया गया है, वह मूलतः पठनीय है ।

आचार्यदेव सर्वप्रथम समय के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पाँच अस्तिकायों का सम्यक् बोध अथवा समूह ही समय है । समय तीन प्रकार का होता है – शब्दसमय, ज्ञानसमय और अर्थसमय। शब्दागम शब्दसमय[१] है, ज्ञानागम ज्ञानसमय[२] है एवं सर्वपदार्थसमूह अर्थसमय[३] है । अर्थसमय दो प्रकार का है – लोक और अलोक । पंचास्तिकाय का समूह ही लोक है । लोक से आगे अनन्त अलोक है ।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश पंचास्तिकाय हैं । ये अस्तित्व से नियत व अनन्यमय[४] तथा अणुमहान[५] हैं । ये पाँचों द्रव्य

---

[१] पाँच अस्तिकायों का मौखिक या शास्त्रारूढ़ निरूपण ही शब्दसमय है ।

[२] मिथ्यादर्शन के उदय का नाश होने पर पंचास्तिकाय का सम्यक् अवाय (ज्ञान) ही ज्ञानसमय है ।

[३] कथन के निमित्त से ज्ञात हुये पंचास्तिकाय का ही वस्तुरूप में समवाय अर्थसमय है ।

[४] पर्यायार्थिकनय से अपने से कथंचित् भिन्न होने के कारण वे अस्तित्व से नियत हैं और द्रव्यार्थिकनय से स्वयं सत् होने के कारण वे अस्तित्व से अनन्यमय हैं ।

[५] अणुमहान कहकर यहाँ आचार्य ने जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल की स्कन्ध और परमाणुरूप पर्याय में अणुमहान की सिद्धि की है ।

(अ) अणुभिः महन्तः अणुमहन्तः अर्थात् दो या दो से अधिक प्रदेशों द्वारा बड़े जीव, धर्म व अधर्म असंख्यप्रदेशीय होने से अणुमहान हैं, आकाश अनन्तप्रदेशी होने से अणुमहान है ।

(ब) अणुभ्याम् महन्तः अर्थात् दो अणुओं (दो प्रदेशों) द्वारा महान हों – ऐसे द्वयणुक आदि स्कन्ध अणुमहान हैं ।

(स) अणवश्च महन्तश्च अणुमहन्तः अर्थात् व्यक्ति-अपेक्षा एवं शक्ति-अपेक्षा, अणु तथा महान होने से परमाणु भी अणुमहान है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अणुमहान होने से कायत्वयुक्त हैं, किन्तु कालाणु को किसी प्रकार भी (व्यक्ति-अपेक्षा, शक्ति-अपेक्षा) कायत्व नहीं है।

ये पाँचों अस्तिकाय कालसहित छह द्रव्य कहलाते हैं। छहों द्रव्य एक-दूसरे को अवकाश देते हैं। एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, परस्पर मिल जाते हैं, इसप्रकार इनमें अत्यन्त संकर होने पर भी ये अपने-अपने स्वरूप को नहीं छोड़ते हैं।

इसके पश्चात् अस्तित्व, द्रव्य का स्वरूप एवं उनकी अनन्यता सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं कि सत्ता (सत्) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक, एक, सर्वपदार्थस्थित, सविश्वरूप, अनन्तपर्यायमय और सप्रतिपक्ष है।

यह सत्ता द्रव्य से भिन्न नहीं है, अपितु तन्मय है, क्योंकि इन पर्यायों से जो द्रवित होता है, प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। द्रव्य सत् है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है एवं गुणों और पर्यायों का आश्रय है।

द्रव्य का न तो उत्पाद है, न ही विनाश, वह तो सत्स्वभाव वाला है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवता पर्यायें करती हैं।

द्रव्य के बिना पर्यायें नहीं होतीं और पर्यायों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसीप्रकार द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इसप्रकार वे अनन्य ही हैं।

विवक्षा के भेद से द्रव्य सात भंगवाला है। सत् का नाश और असत् का उत्पाद नहीं होता, सम्पूर्ण पदार्थ अपने गुण-पर्यायों में ही उत्पाद-विनाश करते हैं।

जीवादि पदार्थों को भाव कहते हैं। जीव के गुण चेतना और उपयोग हैं तथा जीव की पर्यायें मनुष्य, देव, तिर्यंच और नारकरूप अनेक हैं।

जब जीव की मनुष्यपर्याय का व्यय होकर देवपर्याय का उत्पाद होता है, तब जीवभाव नष्ट नहीं होता और न अन्य जीवभाव का उत्पाद ही होता है। वही जन्म लेता है, वही मरता है; फिर भी वह उत्पन्न नहीं होता, नष्ट नहीं होता; देवादि पर्यायें ही नष्ट होती हैं,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्पन्न होती हैं। इसीप्रकार जीव में सत् का नाश और असत् का उत्पाद नहीं है।

ज्ञानावरणादिभाव जीव के साथ अनुबद्ध हैं। उनका अभाव करके अभूतपूर्व सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता है।

इसप्रकार गुणपर्यायों-सहित जीव भाव, अभाव, भावाभाव और अभावाभाव को करता है।

इसप्रकार षड्द्रव्य का सामान्य कथन करने के पश्चात् सम्पूर्ण विषय को संक्षेप में कहते हैं :–

पाँच द्रव्य प्रदेश-प्रचयात्मक होने से 'पंचास्तिकाय' हैं, काल को प्रदेश प्रचयात्मकपने का अभाव होने से वह अस्तिकाय नहीं है। अस्तिकाय अकृत, अस्तित्वमय और लोक के कारणभूत हैं।

काल की सत्ता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि जीव और पुद्गलों में परिवर्तन काल के अभाव में संभव नहीं है। निश्चय कालद्रव्य पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गंध और आठ स्पर्शों से रहित, अगुरुलघुत्वगुण वाला, अमूर्त और वर्तनालक्षण-सहित है। समय, निमेष, काष्ठा, कला, घड़ी, ऋतु, अयन और वर्ष व्यवहार काल के अन्तर्गत आते हैं। चूँकि चिर, क्षिप्र आदि व्यवहार, परिमाण बिना नहीं होता एवं परिमाण पुद्गल द्रव्य के बिना नहीं होता, अतः व्यवहार काल पराश्रित है।

(ख) जीवद्रव्यास्तिकाय

२७वीं गाथा से ७३वीं गाथा तक जीव द्रव्यास्तिकाय का वर्णन है। अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने से ही यह सर्वाधिक स्थान लिये हुये है। इस अधिकार में जीव की संसारी और सिद्ध पर्यायों का जीवत्वादि विशेषणों द्वारा विवेचन किया गया है।

संसारी आत्मा जीव है, देहप्रमाण है, चेतयिता है, उपयोगमय है, कर्त्ता है, भोक्ता है, प्रभु है, कर्मसंयुक्त एवं अमूर्त है। कर्ममुक्त आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अमूर्त, अतीन्द्रिय, अव्याबाध, अनन्त सुख को प्राप्तकर लोकाग्र में स्थित हो जाता है।

जो इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास – इन चार प्राणों से जीता है, जियेगा और पूर्वकाल में जीता था, वह जीव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्यादर्शन, कषाय एवं योग-सहित जीव संसारी होते हैं एवं इनसे रहित जीव सिद्ध होते हैं।

जीव देह में रहता हुआ स्वदेहप्रमाण ही स्वप्रदेशों द्वारा उसमें व्याप्त होता है एवं कर्म से मलिन होने के कारण देह से देहान्तर को धारण करता हुआ संसार में भ्रमण करता है। इसप्रकार शरीर में रहता हुआ भी शरीर के साथ एकत्व को प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि सिद्धात्मा को कर्म द्वारा उत्पन्न द्रव्यप्राण-धारणरूप जीवत्व नहीं है, तथापि शुद्ध चेतना भावरूप प्राणों से युक्त होने के कारण उसका सर्वथा अभाव भी नहीं है।

देहरहित, वचनगोचरातीत सिद्धभगवान किसी कारण से उत्पन्न नहीं होते हैं, अत: कार्य नहीं है और किसी को उत्पन्न भी नहीं करते, अत: कारण भी नहीं हैं। वे तो द्रव्यकर्म-भावकर्मरूप दोनों कर्मों का क्षय करके अपने को सिद्धरूप से उत्पन्न करते हैं।

मोक्ष में जीव का सद्भाव है – इसे सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं कि यदि मोक्ष में जीव का सद्भाव न हो तो शाश्वत-नाशवंत, भव्य-अभव्य, शून्य-अशून्य, विज्ञान-अविज्ञान जीवद्रव्य में घटित नहीं हो सकते; अत: मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता।

त्रिविध चेतकभाव द्वारा एक जीवराशि कर्मों के फल को, एक जीवराशि कर्म को और एक जीवराशि ज्ञान को वेदती है।[१] उदाहरणार्थ पाँच प्रकार के स्थावर जीव अव्यक्त सुख-दु:खानुभवरूप कर्मफल को वेदते हैं, द्वीन्द्रियादि त्रस जीव उसी कर्मफल को इच्छापूर्वक इष्टानिष्ट विकल्परूप (कर्मफल को) कार्यसहित वेदते हैं एवं जो प्राणों का अतिक्रम कर गये हैं, ऐसे परिपूर्ण ज्ञानवंत सिद्ध ज्ञान को वेदते हैं।

---

१ 'चेतयंतेऽनुभवन्ति उपलंभते विदंतीत्येकार्थाश्चेतनानुभूत्युपलब्धिवेदनानामेकार्थत्वात्' अर्थात् चेतता है, अनुभव करता है, वेदता है – ये एकार्थ हैं, क्योंकि चेतना, अनुभूति, उपलब्धि और वेदना का एक अर्थ है।
(गाथा ३९ की टीका)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव के साथ सर्वकाल अनन्यरूप से विद्यमान परिणाम उपयोग है। यह दो प्रकार का है – ज्ञानोपयोग[1] और दर्शनोपयोग[2]।

ज्ञानोपयोग आठ प्रकार का है :–

१. आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान)[3] २. श्रुतज्ञान
३. अवधिज्ञान ४. मनःपर्ययज्ञान
५. केवलज्ञान ६. कुमतिज्ञान
७. कुश्रुतज्ञान ८. विभंगज्ञान (कुअवधिज्ञान)[4]

दर्शनोपयोग चार प्रकार का है :–

१. चक्षुदर्शन २. अचक्षुदर्शन
३. अवधिदर्शन ४. केवलदर्शन

ज्ञान से ज्ञानी का भेद नहीं किया जाता[5], तथापि ज्ञान के अनेक भेद हैं, अतः उक्त अभिनिबोधक आदि ज्ञान एक ज्ञानी आत्मा में संभव हैं, क्योंकि द्रव्य सहवर्ती और क्रमवर्ती अनन्त गुणों तथा पर्यायों का आधार होने के कारण अनन्तरूपवाला होने से, एक होने पर भी विश्वरूप (अनेकरूप) कहा जाता है।

यदि ज्ञानी को ज्ञान से भिन्न मानेंगे तो द्रव्य गुणों से और गुण द्रव्यों से भिन्न-भिन्न मानने होंगे, जबकि ऐसा मानना संभव नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से या तो द्रव्य की अनन्तता हो जायेगी या द्रव्य का अभाव ही हो जायेगा।[6]

अतः द्रव्य और गुणों को विभक्तपने अन्यपना और अनन्यपना न होकर अविभक्तपने अनन्यपना है।

---

[1] विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है।

[2] सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन है।

[3-4] मतिज्ञान और कुअवधिज्ञान प्रचलित नाम है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इनके लिये क्रमशः आभिनिवोधिकज्ञान और विभंगज्ञान का प्रयोग किया है।

[5] द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक होने से ज्ञानी (आत्मा) ज्ञान से पृथक् नहीं है।

[6] गाथा ४४ की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य और गुणों में व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय की अपेक्षा भेद होते हुये भी वे द्रव्य और गुणों में अन्यपना सिद्ध नहीं कर सकते, क्योंकि ये जिसप्रकार द्रव्य, गुणों के अन्यपना में संभव है, उसीप्रकार अनन्यपने में भी हो सकते हैं। अतः इनसे भी द्रव्य और गुणों में वस्तुरूप से भेद सिद्ध नहीं होता, फिर भी यदि ज्ञानी और ज्ञान को भिन्न कहें तो ज्ञानी और ज्ञान दोनों ही अचेतन ठहरेंगे।

ज्ञान के समवाय से भी आत्मा ज्ञानी नहीं है; अपितु आत्मा और ज्ञान का एकत्व है, अभिन्नता है, पृथक्त्व नहीं।

अथवा यदि समवाय से भी ज्ञानी मानें तो 'समवर्तीपना'[१] ही समवाय है, अतः समवर्तित्वस्वरूप समवायवाले द्रव्य और गुणों में एकत्व है, पृथक्त्व नहीं।

यहाँ आचार्य ने न्यायदर्शन के 'समवाय संबंध' का खण्डन किया है, अतः उस (समवाय) से तो आत्मा ज्ञानी नहीं है, किन्तु समवाय की उन्होंने स्वयं जो परिभाषा दी है, उससे अवश्य ही आत्मा ज्ञानी है।

जिसप्रकार वर्ण, रस, गंध, स्पर्श परमाणु से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी संज्ञादि व्यपदेश के कारणभूत विशेषों द्वारा अन्यत्व को प्रकाशित करते हैं, उसीप्रकार ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्य से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादिव्यपदेश के कारणभूत विशेषों द्वारा पृथक्पने को प्राप्त होते हैं, परन्तु स्वभाव से सदैव अपृथक्पने को ही धारण करते हैं।

जीव में पाँच गुण (भाव) प्रधानता से हैं:- पारिणामिक, क्षायिक, औदयिक, औपशमिक और क्षयोपशमिक।

पारिणामिक भाव से जीव अनादि-अनंत है, क्षायिकभाव से सादि-अनन्त है एवं शेष तीन भावों से सादि-सान्त है।

---

१ "समवत्ती समवाओ" गाथा ५० पूर्वार्द्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यद्यपि अनादि-अनन्त और सादि-सान्त विरुद्ध प्रतिभासित होते हैं, तदपि उनमें विरोध नहीं है, क्योंकि पर्याय-अपेक्षा से जीव सादि-सान्त है और द्रव्य-अपेक्षा से अनादि-अनन्त है।

पारिणामिक भाव स्वभाव-भाव है। कर्म के बिना जीव को उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम भाव नहीं होते हैं, अतः ये कर्मकृत हैं।

कर्म को वेदता हुआ जो जीव जैसे भाव करता है, उस भाव का वह कर्त्ता होता है।[1] जीवभाव का कर्म और कर्म का जीव निमित्त है, तथापि वे एक-दूसरे के कर्त्ता नहीं हैं, अपितु अपने-अपने भाव के कर्त्ता हैं। दूसरे शब्दों में कर्म निश्चय से अपना कर्त्ता है, व्यवहार से जीवभाव का कर्त्ता है, जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्त्ता है, व्यवहार से कर्म का कर्त्ता है।

अपने-अपने भाव का कर्त्ता होने पर भी जीव कर्मकृत सुख-दुःख, इष्टानिष्ट का भोक्ता है; क्योंकि जब जीव मोह-राग-द्वेष भाव करता है, तब वहाँ रहनेवाले पुद्गल[2] अपने भावों से जीव में अन्योन्य अवगाह रूप से प्रविष्ट होकर कर्मभाव को प्राप्त होते हैं। अतः जीव पुद्गल अन्योन्य अवगाह के ग्रहण द्वारा परस्पर बद्ध हैं। कर्म सुख-दुःख देते हैं, जीव उन्हें भोगते हैं। कर्म मात्र कर्त्ता है, भोक्ता नहीं एवं जीव कर्त्ता और भोक्ता दोनों ही है, क्योंकि वह चेतन है।

अपनी प्रभुत्व शक्ति के द्वारा ही जीव निश्चय से भावकर्मों का और व्यवहार से द्रव्यकर्मों का कर्त्ता-भोक्ता होता हुआ सान्त अथवा अनन्त संसार में भ्रमण करता है।

जब यहाँ आत्मा कर्मों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम करता हुआ सम्यग्ज्ञान द्वारा प्रभुत्व शक्तिवान होता हुआ ज्ञान का ही अनुसरण करनेवाले मार्ग में विचरता है, तब आत्मतत्व को प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करता है।

---

[1] यहाँ आत्मा को भाव का कर्त्ता कहा है, कर्म का नहीं।

[2] कार्माणवर्गणारूप पुद्गलस्कन्ध समस्त लोक में व्याप्त हैं, अतः जहाँ आत्मा है, वहाँ वे बिना लाये ही स्थित हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्ध से सर्वथा मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन करता है, शेष जीव भवान्तर में जाते हुए विदिशायें छोड़कर षट्अपक्रमस्वरूप (कर्म-निमित्तक) अनुश्रेणी गमन करते हैं।

अन्त में जीवद्रव्य के भेदों को बताते हुए कहा है कि वह जीव एक है, दो[1] भेद वाला, तीन[2] लक्षण वाला चार[3] लक्षण वाला पाँच[4] मुख्य गुणों से प्रधानता वाला छह[5] उपक्रमसहित सात[6] भंगपूर्वक सद्भाववान् आठ[7] आश्रयरूप नौ[8] अर्थरूप और दश[9] स्थानगत है।

(ख) पुद्गलद्रव्यास्तिकाय

७४ से ८२वीं गाथा तक ९ गाथाओं में पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का वर्णन है। पुद्गलद्रव्यास्तिकाय चार प्रकार का है:—स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश एवं परमाणु।

पुद्गलपिण्डात्मक सम्पूर्ण वस्तु अर्थात् अनन्तानन्त पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड स्कन्ध है, उसका आधा स्कन्धदेश है, उसका भी आधा अर्थात् आधे का आधा स्कन्धप्रदेश है और अन्तिम अंश अर्थात् अविभागी को परमाणु कहते हैं। बादर-बादर, बादर, बादर-सूक्ष्म, सूक्ष्म-बादर, सूक्ष्म और सूक्ष्म-सूक्ष्म — इन छह भेदोंवाले पुद्गलों से सम्पूर्ण लोक निर्मित है।

सर्व स्कन्धों का अन्तिम भाग परमाणु है। वह परमाणु एक, अविभागी, शाश्वत, मूर्तिक और अशब्द होता है। पृथ्वी आदि धातुओं का कारण यही परमाणु है।

---

[1] ज्ञान-दर्शन।
[2] कर्मफलचेतना, कार्यचेतना और ज्ञानचेतना।
[3] चार गतियाँ — देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारकी।
[4] पारिणामिक, औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक, क्षायिक।
[5] चार दिशायें और ऊँचे-नीचे।
[6] अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति-अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।
[7] आठ कर्म अथवा सम्यक्त्वादि आठ गुण।
[8] नवपदार्थ—जीव,अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप।
[9] पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमाणुओं का संघात स्कन्ध है। शब्द स्कन्ध से उत्पन्न होता है। स्कन्धों के टकराने से शब्द उत्पन्न होता है।

परमाणु न तो अनवकाश[1] ही है, न ही सावकाश[2]। यह स्कन्धों का कर्त्ता भी है और भेदन करनेवाला भी तथा काल और संख्या को विभाजित करनेवाला भी है। यह एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला है। स्कन्ध के भीतर होने पर भी परमाणु परिपूर्ण स्वतंत्र द्रव्य है।

इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म और अन्य जो कुछ मूर्त है, वह सभी पुद्गल है।

(ग-घ) धर्मद्रव्यास्तिकाय और अधर्मद्रव्यास्तिकाय

८३ से ८९ गाथा तक ७ गाथाओं में धर्मद्रव्यास्तिकाय व अधर्मद्रव्यास्तिकाय का वर्णन है। धर्मद्रव्य अस्पर्श, अरस, अगंध, अवर्ण, अमूर्त[3], अशब्द[4], लोकव्यापक[5], अखण्ड[6], विशाल[7] और असंख्यात प्रदेशी[8] है।

धर्मद्रव्य गतिक्रिया-परिणत जीव और पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से गतिक्रिया में कारणभूत है। जिसप्रकार पानी मछलियों को गमन में उदासीन निमित्त है, उसीप्रकार धर्मद्रव्य भी जीव-पुद्गलों को गमन में उदासीन निमित्त है।

अधर्मद्रव्य स्थितिक्रिया-युक्त जीव और पुद्गलों को उदासीन अविनाभावी सहायमात्र होने से स्थितिक्रिया में कारणभूत है। जिस-

---

[1] एक प्रदेश द्वारा उस प्रदेश से अभिन्न अस्तित्ववाले स्पर्शादि गुणों को अवकाश देता है, अतः अनवकाश नहीं है।

[2] निरंश होने के कारण सावकाश नहीं है।

[3] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से अमूर्त स्वभाववाला है।

[4] स्पर्श, रस, गंध, वर्ण का अत्यन्त अभाव होने से अशब्द है।

[5] समस्त लोकाकाश में व्यापक होने से लोकव्यापक है।

[6] अयुतसिद्ध प्रदेशवाला होने से अखण्ड है।

[7] स्वभाव से ही सर्वतः विस्तृत होने से विशाल है।

[8] निश्चयनय से अविभाज्य एकप्रदेशी होने पर भी व्यवहारनय से असंख्यात प्रदेशी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकार पृथ्वी अश्वादिक को स्थिति में उदासीन निमित्त है, उसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी जीव-पुद्गलों की स्थिति में उदासीन निमित्त है।

धर्म-अधर्मद्रव्य गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, अपितु उदासीन हेतु हैं। यदि उन्हें मुख्य हेतु माना जाय तो जिन्हें गति होती है, उन्हें गति ही होती रहे, स्थिति न हो; जिन्हें स्थिति होती है, उन्हें स्थिति ही रहे, गति न हो। परन्तु यह प्रत्यक्ष बाधित है, क्योंकि जिन्हें गति होती है, उन्हें ही स्थिति देखने में आती है, अत: धर्म-अधर्म गति-स्थिति के मुख्य हेतु नहीं हो सकते, उदासीन हेतुत्व ही उनमें संभव है।

धर्म-अधर्म लोकाकाश पर्यन्त ही गति-स्थिति के निमित्त हैं, अलोक में इनकी पहुँच नहीं, अत: इन्हीं के कारण लोकालोक का विभाग होता है। ये असंख्यात प्रदेशी हैं। ये दोनों यद्यपि पृथक् अस्तित्व होने से विभक्त हैं, तथापि एकक्षेत्रावगाही होने से अविभक्त भी हैं।

(ङ) आकाशद्रव्यास्तिकाय

९० से ९६ तक ७ गाथाओं में आकाशद्रव्यास्तिकाय का कथन किया है। आकाश समस्त द्रव्यों को अवकाश में निमित्त है। यह गति-स्थिति का निमित्त कारण नहीं हो सकता, क्योंकि यदि इसे अवकाश के साथ-साथ गति-स्थिति का भी निमित्त माना जाय तो ऊर्ध्वगति से परिणत सिद्ध भगवन्त आकाश में कैसे स्थित रहेंगे? दूसरे, ऐसा मानने पर अलोक की हानि और लोक के अन्त की वृद्धि का प्रसंग आयेगा, क्योंकि लोकालोक का विभाग धर्म-अधर्म द्रव्य से ही होता है। अत: स्पष्ट है कि गति-स्थिति का हेतु धर्म व अधर्म द्रव्य ही है, आकाश नहीं। आकाश तो अवकाश (अवगाहन) का हेतु है।

यद्यपि लोक में धर्म-अधर्म और लोकाकाश का एकक्षेत्रावगाह की अपेक्षा से एकत्व है, तथापि वस्तुरूप से उनमें अन्यत्व ही है; क्योंकि उनके लक्षण भी भिन्न-भिन्न हैं और प्रदेश भी भिन्न-भिन्न हैं।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल लोक से अनन्य हैं, किन्तु अन्तरहित अनन्त आकाश तो लोक से अनन्य भी है और अन्य भी है।

(च) चूलिका

जीव द्रव्य चेतन है, शेष द्रव्य अचेतन हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य कारण-सहित जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। जो पदार्थ जीवों के इन्द्रिय-ग्राह्य हैं, वे मूर्त हैं, शेष अमूर्त; अतः पुद्गल द्रव्य मूर्त है, शेष अमूर्त हैं। चित्त दोनों को ग्रहण करता है।

(छ) कालद्रव्य

काल परिणाम से उत्पन्न होता है, परिणाम द्रव्यकाल से उत्पन्न होता है – यह दोनों का स्वभाव है।[1] 'समय' नाम की क्रमिक पर्याय व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल का आधारभूत द्रव्य निश्चयकाल है।

व्यवहारकाल क्षणभंगुर है, क्योंकि यह उत्पन्न होते ही नष्ट होनेवाला है। यह प्रवाह-अपेक्षा से दीर्घ स्थिति का भी कहा जाता है। निश्चयकाल द्रव्य होने से नित्य है। जीवादि छहों द्रव्य है, इनमें से काल को छोड़कर शेष को 'अस्तिकायपना' भी है।

जो जीव शुद्धात्मा को जानकर उसका अनुसरण करता हुआ उद्यम करता है, वह मोह को नष्टकर, राग-द्वेष को समाप्त कर पूर्वापर बंध का नाश करता हुआ दुःखों से मुक्त होता है।

अन्त में आचार्य प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि दुःखों से मुक्त होने के लिये प्रवचन के सारभूत इस 'पंचास्तिकायसंग्रह' को जानकर राग-द्वेष छोड़ना चाहिये।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध

इस खण्ड में दो अधिकार है। प्रथम में नवपदार्थों का और दूसरे में मोक्षमार्ग (रत्नत्रय) का निरूपण किया गया है।

(i) नवपदार्थ अधिकार

आचार्यदेव मंगलाचरणोपरान्त नवपदार्थ और मोक्षमार्ग के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-सहित, राग-द्वेष-रहित

---

[1] व्यवहारकाल निश्चयकाल की पर्याय होने पर भी जीव और पुद्गलों के परिणाम से ज्ञात होने के कारण जीव-पुद्गलों से उत्पन्न होनेवाला कहलाता है और जीव-पुद्गलों के परिणाम बहिरंग निमित्तभूत द्रव्यकाल के सद्भाव में उत्पन्न होने के कारण द्रव्यकाल से उत्पन्न होनेवाले कहलाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चारित्र ही मोक्षमार्ग है। नवपदार्थों का सम्यक् श्रद्धान सम्यग्दर्शन एवं उन्हीं का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा विषयों से निवृत्त और निज-प्रवृत्त समभाव ही चारित्र है।

जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष – ये नव पदार्थ हैं। इनमें जीव और अजीव दो भाव (मूल पदार्थ) हैं। अजीव के अन्तर्गत पुद्गलास्तिक, धर्मास्तिक, अधर्मास्तिक, आकाशास्तिक और कालद्रव्य आ जाते हैं।

(क) जीवपदार्थ

उपयोगलक्षण चेतनास्वभावी जीव संसारी और सिद्ध के भेद से दो प्रकार के हैं। संसारी जीव देह-सहित हैं और सिद्ध देह-रहित।

संसारी जीव इन्द्रियों की अपेक्षा पाँच प्रकार के हैं :–

एकेन्द्रिय :– पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय – ये पाँचों मन-परिणाम-रहित एकेन्द्रिय हैं, अत्यन्त मोह से संयुक्त हैं। इन्हें मात्र स्पर्श का ही ज्ञान होता है। पृथ्वीकायिक, अपकायिक एवं वनस्पतिकायिक जीव स्थावर शरीर के संयोगवाले हैं, शेष दोनों – अग्निकायिक एवं वायुकायिक – शरीर-संयोगवाले हैं।[1]

द्वीन्द्रिय :– स्पर्श और रस को जाननेवाले शंबुक, मातृवाह, शंख, सीप और पग-रहित कृमि द्वीन्द्रिय जीव हैं।

त्रीन्द्रिय :– स्पर्श, रस और गंध को जाननेवाले जूँ, खटमल, चींटी, बिच्छू आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं।

चतुरिन्द्रिय :– स्पर्श, रस, गंध और रूप को जाननेवाले डांस, मच्छर, मक्खी, भ्रमर, पतंगे आदि चतुरिन्द्रिय जीव हैं।

पंचेन्द्रिय :– स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द को जाननेवाले जलचर, स्थलचर, खेचर, देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव

---

१ वायुकायिक और अग्निकायिक जीवों को चलन-क्रिया देखकर व्यवहार से त्रस कहा जाता है, निश्चय से तो वे स्थावर नामकर्म के कारण स्थावर ही हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं।[1] इनमें से देव चार प्रकार के[2] मनुष्य दो प्रकार के,[3] नारकी के भेद उनकी पृथ्वी जितने सात[4] एवं तिर्यंच अनेक प्रकार के हैं।

जीवों के देवत्वादि की प्राप्ति में पौद्गलिक कर्म[5] निमित्तभूत है; अतः देवत्वादि जीव का स्वभाव नहीं है।

संसारी जीव दो प्रकार के हैं :– भव्य और अभव्य। जो भविष्य में कभी मोक्ष जायेंगे वे भव्य हैं, शेष अभव्य हैं।

जीव के उक्त भेदों में व्यवहारनय से कही जानेवाली इन्द्रियाँ और छह प्रकार के कायें जीव नहीं हैं; अपितु उनमें जो ज्ञान है, वही जीव है। जीव जानता-देखता है, सुख की इच्छा करता है, दुख से डरता है, शुभाशुभभावों को करता है एवं उनके फल को भोगता है।

(ख) अजीव पदार्थ

जो ज्ञान एवं चेतना से रहित हैं, वे अजीव हैं अथवा जिन्हें सुख-दुख का ज्ञान, हित का उद्यम, अहित का भय नहीं होता, वे अजीव हैं। चेतनता-रहित होने से पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल अजीव हैं।

जो संस्थान, संघात, वर्ण, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्दादि पर्यायें होती हैं, वे पुद्गलद्रव्य से बनी हैं तथा जो अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्ट-संस्थान, चेतनागुणवाला एवं इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है, वह जीव है।

शेष सात पदार्थों का उपोद्घात

जीव और पुद्गल के संयोग परिणाम से शेष सात पदार्थ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि जीव और पुद्गल को परस्पर निमित्त-नैमित्तिक परिणाम होता है। जीव से स्निग्धपरिणाम, स्निग्धपरिणाम से कर्म, कर्म से गतियों में गमन, गति-प्राप्ति से देह, देह से इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से विषय-ग्रहण, विषय-ग्रहण से राग-द्वेष, राग-द्वेष से पुनः स्निग्ध-

---

[1] इनमें तिर्यंच मनसहित और मनरहित दोनों प्रकार के होते हैं एवं देव, मनुष्य व नारकी मनसहित ही होते हैं।

[2] भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक।

[3] भोगभूमिज, कर्मभूमिज।

[4] रत्नप्रभाभूमिज, शर्कराप्रभाभूमिज, बालुकाप्रभाभूमिज, पंकप्रभाभूमिज, धूमप्रभाभूमिज, तमप्रभाभूमिज, महातमप्रभाभूमिज।

[5] गतिनामकर्म एवं आयुष्यकर्म।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणाम होते हैं—इसप्रकार संसारी जीव का यह संसारचक्र अनादि-अनन्त[1] या अनादि-सान्त[2] होता है।

(ग-घ) पुण्य-पाप पदार्थ

जीव के शुभ परिणाम पुण्य हैं और अशुभ परिणाम पाप हैं[3]। जीवों के इन दोनों भावों के निमित्त से साता-असाता वेदनीयादि पुद्गलकर्म बँधते हैं; अतः वे व्यवहार से जीव का कर्म कहे जाते हैं। कर्म मूर्त हैं, क्योंकि कर्म के फल सुख-दुःखादि मूर्त विषय के आश्रय से मूर्त इन्द्रियों द्वारा ही भोगे जाते हैं।

मूर्त मूर्त को स्पर्श करता है, मूर्त मूर्त के साथ बंध को प्राप्त होता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्म को अवगाह देता है,[4] इसीप्रकार मूर्त कर्म जीव को अवगाह देते हैं।

(ङ) आस्रव पदार्थ

आस्रव दो प्रकार का है :—पुण्यास्रव और पापास्रव।

पुण्यास्रव :— प्रशस्त राग, अनुकम्पा परिणति और चित्त की अकलुषता—इन तीन परिणामों से पुण्य का आस्रव होता है।

अरहंत, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म में यथार्थ चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन ही 'प्रशस्त राग' है। तृषातुर, क्षुधातुर अथवा दुखी को देखकर उसके प्रतिकार करने की इच्छा से चित्त में आकुलता का होना ही 'अनुकम्पा परिणति' है। क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से चित्त का क्षोभ ही कलुषता है। उन्हीं के मन्द उदय से चित्त की प्रसन्नता 'अकलुषता' है।

पापास्रव :— बहुप्रमादवाली चर्या, कलुषता, विषयों के प्रति लोलुपता, पर को परिताप करना और पर को अपवाद बोलने से पाप का आस्रव होता है।

---

[1] यह कथन अभव्य की दृष्टि से है।
[2] यह कथन भव्य की दृष्टि से है।
[3] जिसके भाव में मोह, राग, द्वेष अथवा चित्त प्रसाद है, उसे शुभ तथा अशुभ परिणाम हैं।
[4] रागादि परिणाम द्वारा स्निग्ध वर्तता हुआ जीव मूर्त कर्मों को एकक्षेत्राव-गाहरूप से अवगाह देता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संज्ञायें,[१] लेश्यायें,[२] आर्त-रौद्र ध्यान,[३] दुःप्रयुक्तज्ञान और मोह पापास्रव के कारण हैं ।

(च) संवर पदार्थ

जिसे सर्वद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष या मोह नहीं है, जो इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओं का निग्रह करता है, उस सुख-दुःख के प्रति समभाववाले भिक्षु को शुभ-अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता – यही संवर है ।

(छ) निर्जरा पदार्थ

संवर और योग से युक्त जो जीव बहुविध तप करता है, आत्मा को जानकर ज्ञान को निश्चलरूप से ध्याता है, वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है । निर्जरा का मुख्य हेतु ध्यान[४] ही है ।

(ज) बंध पदार्थ

जब आत्मा विकारी होता हुआ शुभाशुभ भाव को करता है, तब वह उस भाव के निमित्त से विविध पुद्गल कर्मों से बद्ध होता है ।

बंध का बहिरंग कारण योग[५] है, क्योंकि वह पुद्गलों के ग्रहण का हेतु है; अन्तरंग कारण जीवभाव[६] ही है, क्योंकि वह विशिष्ट शक्ति तथा स्थिति का हेतु है ।[७] चार प्रकार के हेतु[८] आठ प्रकार के

---

[१] आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ।

[२] कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति लेश्या है । कृष्ण, नील, कापोत – ये तीन लेश्यायें तीव्र कषाय के उदय से अनुरंजित होती हैं; शेष तीन लेश्यायें मंदकषाय से अनुरंजित होती हैं ।

[३] राग-द्वेष के उद्रेक के कारण प्रिय-संयोग, अप्रिय-वियोग, वेदना से छुटकारा, निदान की इच्छा से आर्तध्यान, कषाय द्वारा क्रूर परिणाम से होनेवाला हिंसानन्द, असत्यानन्द एवं विषयसंरक्षणानन्द रूप रौद्रध्यान होता है ।

[४] शुद्ध स्वरूप में अविचलित चैतन्य परिणति यथार्थ ध्यान है । इस ध्यान में मोह-राग-द्वेष नहीं हैं, योगों का सेवन नहीं है एवं यह शुभाशुभ कर्म को जलानेवाला है ।

[५] मन-वचन-काय योग हैं ।

[६] मोह-राग-द्वेष भाव हैं ।

[७] जीव के किसी भी परिणाम में रहता हुआ योग कर्म के प्रकृति-प्रदेश बंध का और जीव के उसी परिणाम में रहता हुआ मोह-राग-द्वेष भाव कर्म के स्थिति-अनुभाग बंध का निमित्त होता है, इसलिये मोह-राग-द्वेष को बन्ध का अन्तरंग कारण और योग को बंध का बहिरंग कारण कहा है ।

[८] मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मों का कारण कहे गये हैं; पर इनमें भी रागादिभाव ही मुख्य हैं, क्योंकि इनके अभाव में जीव नहीं बँधता।

(झ) मोक्ष पदार्थ

मोक्ष दो प्रकार का है :– भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। ज्ञानी को आस्रव के हेतु मोह-राग-द्वेष भाव का अभाव होने से आस्रवभाव का अभाव होता है, आस्रवभाव के अभाव होने से कर्म का अभाव होता है, कर्म का अभाव होने से जीव-मुक्तिरूप भावमोक्ष होता है, जो कि सर्वज्ञत्व, सर्वदर्शित्व, अव्याबाध, इन्द्रियव्यापारातीत, अनन्त-सुखमय होता है। यह द्रव्यमोक्ष का हेतुभूत है।

जो जीव संवरमय होता हुआ सर्वकर्मों की निर्जरा करता हुआ, वेदनीय-आयु-रहित होकर भव को छोड़ता है, उसे द्रव्यमोक्ष होता है। द्रव्यमोक्ष का हेतु परम निर्जरा है, जो ध्यान से होती है।

(ii) मोक्षमार्ग अधिकार – मोक्षमार्गप्रपंच-सूचक चूलिका

परमअध्यात्मरस से युक्त यह चूलिका ही 'पंचास्तिकायसंग्रह' का सार है। वस्तुव्यवस्था के प्रतिपादक इस सैद्धान्तिक ग्रन्थ को आध्यात्मिकता प्रदान करनेवाली यह चूलिका ही है।

जीव स्वभाव में नियत चारित्र ही मोक्षमार्ग है। जीव का स्वभाव ज्ञान एवं दर्शन है, जो कि जीव से अनन्यमय है, अनिन्दित[1] है। अतः जब जीव स्वभाव में नियत होता हुआ स्वचारित्र को करता है, तब वह कर्मबन्ध से छूटता है।

यदि वह अनियत गुण-पर्यायवाला हो तो परचारित्र है। जो जीव राग से परद्रव्य में शुभाशुभभाव करता है, परचारित्र में प्रवर्तन करता है, उसे इन्हीं रागभाव से पुण्य-पाप का आस्रव होता है, वह भाव ही 'परचारित्र' है।

जो सर्वसंगमुक्त, परद्रव्यात्मक भावों से रहित आत्मा को ज्ञान-दर्शनरूप स्वभाव द्वारा स्थिरतापूर्वक जानता है, देखता है एवं आचरण करता है, वह स्वचारित्र को आचरता है।

---

[1] रागादि परिणाम के अभाव के कारण अनिन्दित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप दर्शाते हुए कहा है कि धर्मास्तिकायादि का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व संबंधी ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप में प्रवृत्ति चारित्र है – यही व्यवहार मोक्षमार्ग है।

निश्चयनय से तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा समाहित[1] होता हुआ आत्मा ही जीवस्वभाव में नियत चारित्ररूप होने के कारण मोक्षमार्ग है। वस्तुतः तो जो आत्मा अनन्यमय आत्मा को आत्मा से आचरता है, जानता है, देखता है; वही चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है। इसप्रकार आचरण करता हुआ जीव सर्वज्ञ-सर्वदर्शी होता हुआ परमसुख का अनुभव करता है।

अतः मोक्षमार्ग होने से दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही सेवन योग्य हैं, किन्तु जब ये किंचित् भी परसमय वृत्ति से युक्त होते हैं तो फिर इनसे कथंचित् बंध भी होता है। ध्यान रहे, यह बंध दर्शन-ज्ञान-चारित्र से नहीं, अपितु परसमयवृत्ति से हुआ है; किन्तु कहलाता दर्शन-ज्ञान-चारित्र का है।

अरहन्त, सिद्ध, चैत्य, प्रवचन, मुनिगण और ज्ञान के प्रति भक्ति-सम्पन्न जीव बहुत पुण्य बांधता है, परन्तु कर्म का क्षय नहीं करता। अतः इनसे मुक्ति संभव नहीं एवं अज्ञानतावश कोई जीव इनसे मुक्ति माने तो वह 'परसमयरत' है।

जिसके हृदय में परद्रव्य के प्रति लेशमात्र भी राग है, वह सम्पूर्ण आगमों को जानते हुए भी अपने आपको नहीं जानता। अतः उसे शुभाशुभ कर्मों का विरोध नहीं है, न ही मुक्ति संभव है। इसलिये मोक्षार्थी जीव निःसंग, निर्मय होकर शुद्धात्मद्रव्य में स्थिरतारूप सिद्धभक्ति करता है और तत्फलस्वरूप मोक्ष प्राप्त करता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जो जीव अरहन्तादि की भक्ति करता है, संयम-तपयुक्त होने पर भी नवपदार्थों और तीर्थंकर के प्रति जिसकी बुद्धि का झुकाव होता है, सूत्रों की रुचि होती है, वह देवलोक को तो प्राप्त करता है, पर मोक्ष नहीं। यद्यपि उक्त पुण्यभाव भी परम्परा मोक्ष के कारण हैं, पर साक्षात् नहीं।

---

[1] आत्मा ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र है। इससे भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मोक्षार्थी के लिये राग का अंश भी हेय है। जो ऐसा करता है, वह भव्य है, संसार-सागर से पार हो जाता है।

अन्त में आचार्य ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा और प्रयोजन को बताते हुए कहते हैं कि :–

"मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहसुत्तं ॥१७३॥

प्रवचन की भक्ति से प्रेरित एवं मार्ग की प्रभावना के लिये मैंने प्रवचन के सारभूत 'पंचास्तिकायसूत्र' को कहा है।"

इसप्रकार सारांशरूप में कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड के समस्त प्रतिपादन का उद्देश्य शुद्धात्मतत्त्व का सम्यग्ज्ञान कराना है एवं द्वितीय खण्ड के प्रतिपादन का उद्देश्य पदार्थ-विज्ञान-पूर्वक उक्त शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति का मार्ग दर्शाना है।

नियमसार

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'नियमसार' नामक ग्रन्थ का प्रणयन अपनी भावना के निमित्त से किया था। जैसाकि वे स्वयं कहते हैं :–

"णियभावणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं पुव्वावरदोषणिम्मुक्कं ॥१८७॥

पूर्वापर दोष-रहित जिनोपदेश को जानकर मैंने निजभावना-निमित्त से इस 'नियमसार' नामक शास्त्र की रचना की है।"

इस संदर्भ में 'नियमसार' की प्रस्तावना का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

"यह 'नियमसार' नामक परमागम न तो व्यक्तिविशेष के संबोधनार्थ ही लिखा गया है और न सामान्यरूप से आत्मार्थीजनों के हितार्थ इसका प्रणयन हुआ है। भक्ति भी इसका हेतु नहीं है। इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिये किया था।

इसमें एक ओर जहाँ परम वीतरागी सन्त की अन्तरोन्मुखी पावन भावना का तरल प्रवाह है तो दूसरी ओर अन्तरोन्मुखी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषार्थ का उद्दाम वेग भी है। यह अपने प्रकार की अनुपम बेजोड़ कृति है।

यह ग्रन्थाधिराज तत्त्वोपदेशक एवं प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की कृति नहीं; यह तो इन सबसे पूर्णतः विरक्त, परमपारिणामिक-भाव में ही पूर्णतः अनुरक्त, वीतरागी सन्त, अन्तरोन्मुखी कुन्दकुन्द की कृति है। इसमें कुन्दकुन्द का अन्तरंग व्यक्त हुआ है। उपदेश, आदेश, अनुशासन-प्रशासन कुन्दकुन्द की मजबूरी थी, जीवन नहीं। उनका हार्द 'नियमसार' है।[1]"

यद्यपि 'नियमसार' का प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप नियम ही है, तथापि इसमें तत्संबंधित और भी अनेक विषय आ गये हैं, जिनका उल्लेख पद्मप्रभमलधारिदेव ने इसप्रकार किया है :-

"किंच अस्य खलु निखिलागमार्थसार्थप्रतिपादनसमर्थस्य नियम-शब्दसंसूचितविशुद्धमोक्षमार्गस्य अंचितपंचास्तिकायपरिसनाथस्य संचितपंचाचारप्रपंचस्य षड्द्रव्यविचित्रस्य सप्ततत्त्वनवपदार्थगर्भी-कृतस्य पंचभावप्रपंचप्रतिपादनपरायणस्य निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्या-नप्रायश्चित्तपरमालोचनानियमव्युत्सर्गप्रभृतिसकलपरमार्थक्रियाकांडा-डंबरसमृद्धस्य उपयोगत्रयविशालस्य परमेश्वरस्य शास्त्रस्य............[2]

और यह 'नियमसार' नामक शास्त्र समस्त आगम के अर्थसमूह का प्रतिपादन करने में समर्थ है। इसमें 'नियम' शब्द से सूचित विशुद्ध मोक्षमार्ग का प्रतिपादन है। यह पंचास्तिकाय के निरूपण से शोभित है। इसमें दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपाचार एवं वीर्याचार -इन पाँच आचारों का विस्तृत विवेचन है, इसमें छह द्रव्यों का विविध विवेचन तथा सप्ततत्त्व एवं नवपदार्थ भी समाये हुये हैं. तथा पंचभावों का प्रतिपादन भी इसमें बड़ी ही प्रवीणता से किया है। निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय प्रायश्चित्त, परमा-लोचना, नियम, व्युत्सर्ग आदि सम्पूर्ण परमार्थ क्रियाकाण्ड के आड-म्बर से यह 'नियमसार' नामक पारमेश्वरी शास्त्र समृद्ध है तथा तीन उपयोगों से सुसम्पन्न है।"

---

[1] नियमसार, प्रस्तावना – डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, पृ० २३

[2] नियमसार गाथा १८७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१८७ गाथाओं में प्रतिपादित उक्त समस्त विषयवस्तु को पद्मप्रभमलधारिदेव ने १२ अधिकारों में विभक्त किया है।

(क) जीवाधिकार

इस अधिकार में उन्नीस गाथायें हैं, जिनमें मंगलाचरण एवं ग्रन्थ-प्रतिज्ञा के बाद मोक्ष और मोक्षमार्ग की चर्चा की गई है। वे प्रतिपाद्य विषय के आधार पर 'नियमसार' नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं कि नियम से करने योग्य जो दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप कार्य हैं, वे ही नियम हैं। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान एवं मिथ्याचारित्ररूप विपरीत भावों के परिहार के लिये 'नियम' के साथ 'सार' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके पश्चात् रत्नत्रय रूप नियम का निरूपण है।

सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि आप्त, आगम और तत्त्वों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। जो अठारह दोषों से रहित, ज्ञानादि अनन्त गुणों से युक्त एवं केवलज्ञानादि परमवैभव से संयुक्त होते हैं, वे आप्त हैं। आप्त के मुखारविन्द से निकली एवं पूर्वापर दोषरहित शुद्ध वाणी को आगम कहते हैं। नाना गुण-पर्यायों से संयुक्त जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल तत्त्वार्थ हैं। यहाँ 'नाना गुण-पर्यायों से संयुक्त' विशेषण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जीव और अजीव (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) और उनकी पर्यायें ही तत्त्वार्थ हैं।

इसप्रकार आठ गाथायें तो आरंभिक भूमिका हैं। नौवीं गाथा में छह द्रव्यों के नाम बताकर दशवीं गाथा से जीवद्रव्य की चर्चा आरंभ होती है, जो दश गाथाओं में समाप्त होती है।

जीव उपयोगमय है, उपयोग ज्ञान और दर्शन है। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है:— स्वभाव ज्ञानोपयोग और विभाव ज्ञानोपयोग। जो ज्ञान इन्द्रियादिक बाह्य पदार्थों की सहायता के बिना स्वतः ही जानने में समर्थ है, वह शुद्धज्ञानस्वभाव ज्ञानोपयोग है।

विभाव ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है:— सम्यक्विभावज्ञानोपयोग और मिथ्याविभावज्ञानोपयोग।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यक्‌विभावज्ञानोपयोग के चार भेद हैं :– मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ।

मिथ्याविभावज्ञानोपयोग के तीन भेद हैं :– कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान ।

दर्शनोपयोग भी दो प्रकार का है :– स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग । जो शुद्ध है एवं इन्द्रिय की सहायता के बिना होता है, वह स्वभाव दर्शनोपयोग है ।

विभावदर्शनोपयोग तीन प्रकार का है :– चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन ।

इसके बाद जीव की पर्यायों का वर्णन है ।

निरपेक्ष (स्वभावपर्याय) और स्वपरापेक्ष (विभावपर्याय) के भेद से पर्यायें भी दो प्रकार की हैं । मोक्ष कर्मोपाधि-रहित निरपेक्ष (स्वभाव) पर्याय है । नर, नारक, तिर्यंच, देवरूप कर्मोपाधिसहित पर्यायें स्वपरापेक्ष (विभाव) पर्यायें हैं ।

कर्मभूमि और भोगभूमि में जन्म लेने की अपेक्षा से मनुष्य के कर्मभूमिज और भोगभूमिज – ऐसे दो भेद हैं । पृथ्वी के भेद से नरक सात प्रकार के हैं । तिर्यंच चौदह प्रकार के और देव चार प्रकार के हैं ।

व्यवहारनय से आत्मा पुद्‌गल कर्म का कर्त्ता-भोक्ता है एवं निश्चयनय से कर्मजनित भाव का कर्त्ता-भोक्ता है । द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वकथित पर्याय से भिन्न है एवं पर्यायार्थिकनय से उस पर्याय से संयुक्त है ।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्यदेव ने जीव तत्त्वार्थ के अन्तर्गत जीव के स्वभावगुण, विभावगुण और स्वभावपर्यायों, विभावपर्यायों का वर्णन किया है ।

प्रथम १९ गाथाओं की विषयवस्तु को निम्न चार्टों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है :–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्ट नं० १

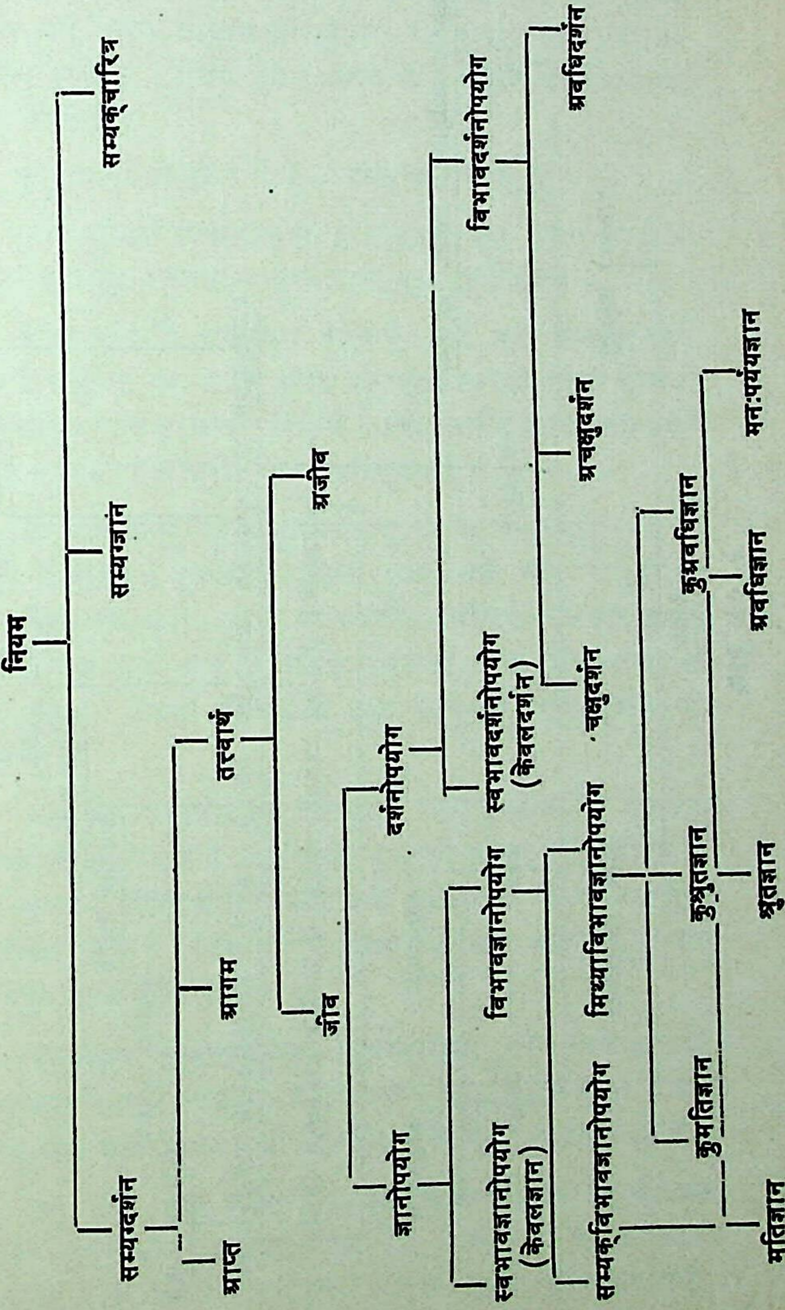

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चार्ट नं० २

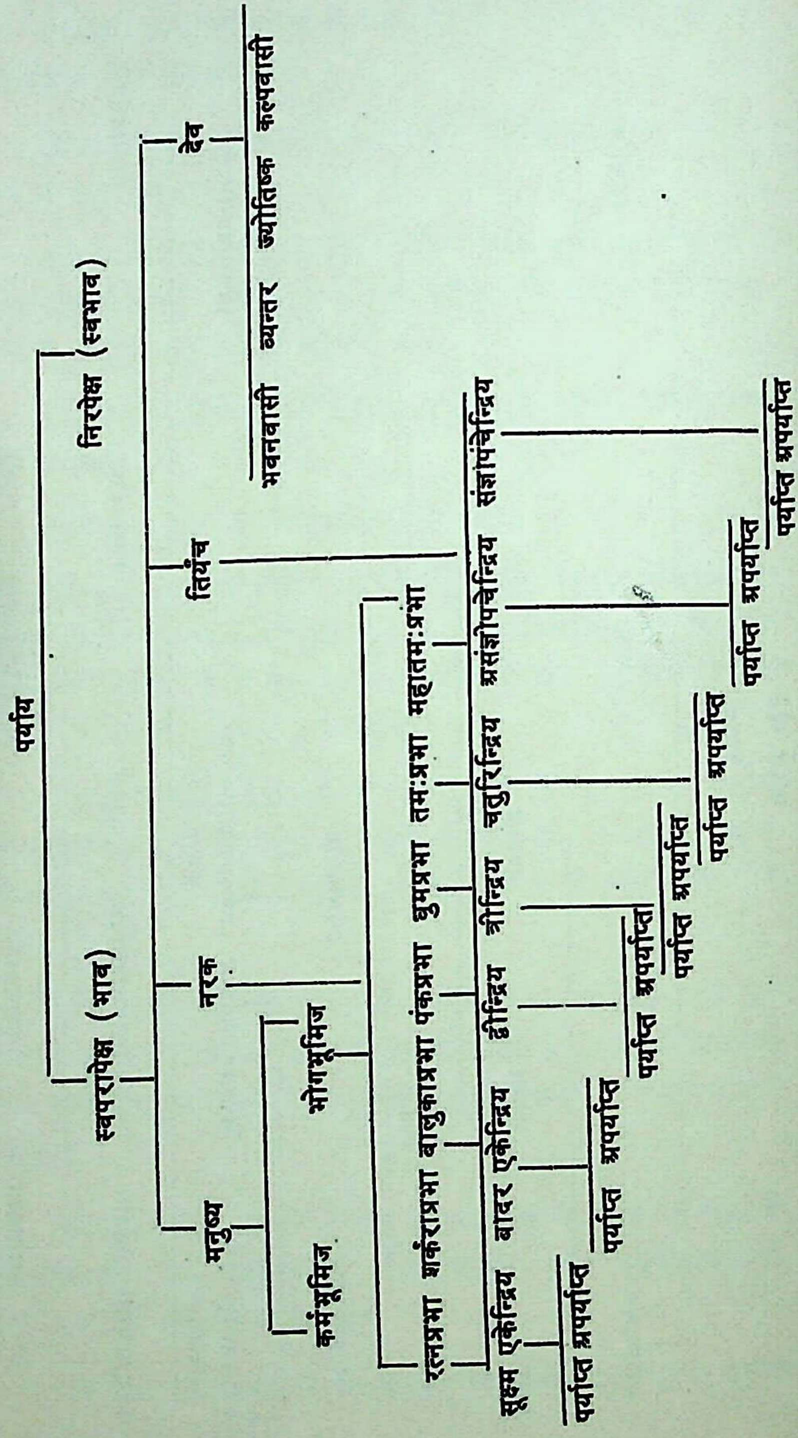

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(ख) अजीवाधिकार

यह अधिकार २०वीं गाथा से ३७वीं गाथा तक है; जिसमें पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल – इन पाँच अचेतन द्रव्यों का सामान्य वर्णन है। प्रारम्भ की १० गाथाओं में पुद्गल का भेद-प्रभेदों सहित कथन है।

पुद्गलद्रव्य दो प्रकार के हैं :– स्कंध और परमाणु।

स्कंध इन्द्रियों से ग्राह्य होता है और यह छह प्रकार का है :– अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म।

भूमि, पर्वतादि अतिस्थूल स्कंध हैं। घी, तेल, जलादि स्थूल स्कंध हैं। छाया, धूप, आतप आदि स्थूलसूक्ष्म स्कंध हैं। चार इन्द्रियों के विषयभूत स्कंध सूक्ष्मस्थूल स्कंध हैं। कर्मवर्गणा के योग्य स्कंध सूक्ष्म हैं एवं कर्मवर्गणा के अयोग्य स्कंध अतिसूक्ष्म हैं।

कारणपरमाणु और कार्यपरमाणु के भेद से परमाणु भी दो प्रकार के होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु – इन चार धातुओं का हेतु कारणपरमाणु है। स्कंधों का अवसान (अन्तिम अविभाग अंश) कार्यपरमाणु है। स्वयं ही आदि, स्वयं ही मध्य और स्वयं ही अन्त-सहित, इन्द्रियों से अग्राह्य तथा अविभागी पुद्गलद्रव्य ही परमाणु है।

अन्य की अपेक्षा-रहित परिणाम स्वभावपर्याय है। परमाणु पुद्गल की शुद्धपर्याय है, क्योंकि वह अन्य की अपेक्षा-रहित परिणाम है। स्कंधरूप परिणाम विभावपर्याय हैं, क्योंकि वह अन्य परमाणुओं से सापेक्ष होती है। निश्चय से परमाणु को और व्यवहार से स्कंध को पुद्गलद्रव्य कहते हैं।

इसप्रकार स्वभावपुद्गल, विभावपुद्गल और स्वभावपर्याय, विभावपर्याय का कथन करने के पश्चात् आचार्य एक गाथा में धर्म, अधर्म और आकाश का व दो गाथाओं में काल का वर्णन करते हैं।

जो जीव और पुद्गलों के गमन में निमित्त हो वह धर्मद्रव्य, जो इन दोनों की गमनपूर्वक स्थिति में निमित्त हो वह अधर्मद्रव्य तथा जो सभी द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त हो वह आकाशद्रव्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहारकाल दो प्रकार का है :– समय और आवलि । अथवा यह तीन प्रकार का है :– भूत, वर्तमान और भविष्य ।

इसके बाद ३४वीं से ३७वीं गाथा तक चार गाथायें चूलिकारूप हैं, जिनमें समस्त द्रव्यों के संबंध में विशेष जानकारी दी गई है, जो इसप्रकार है :–

काल को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं । बहुप्रदेशीपना ही कायत्व है । काल बहुप्रदेशी नहीं है । मूर्त द्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं । धर्म, अधर्म और जीव के असंख्यात प्रदेश हैं । लोकाकाश के भी असंख्यात प्रदेश हैं एवं अलोकाकाश के अनंत प्रदेश हैं । काल एकप्रदेशी है । पुद्गलद्रव्य मूर्त है, शेष द्रव्य अमूर्त हैं । जीव चैतन्यमय है, शेष द्रव्य अचेतन हैं ।

इसप्रकार छहों द्रव्यों का सामान्यरूप से संक्षिप्त कथन किया है । संक्षिप्त कथन का हेतु स्पष्ट करते हुए टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि विस्तार से जानने के इच्छुक जन लोकविभाग से इसे जानें, क्योंकि इस अध्यात्म ग्रंथ में विघ्नरूप होने से विस्तृत कथन करना उचित नहीं है ।

(ग) शुद्धभावाधिकार

'नियमसार' का हार्द इस अधिकार से प्रारंभ होता है । इसकी प्रारंभिक गाथा में ही जीवादि बाह्य तत्त्वों को हेय बताया गया है तथा कर्मोपाधिजनित गुण-पर्यायों से भिन्न आत्मा को उपादेय कहा है ।

आचार्यदेव स्वयं लिखते हैं :– "जीव में स्वभावस्थान, मानापमान के स्थान, हर्षभाव के स्थान, अहर्षस्थान, बंधस्थान[1], उदयस्थान, क्षायिकभाव के स्थान, क्षयोपशमभाव के स्थान, औदयिकभाव के स्थान, उपशमभाव के स्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान, चार गति के भवों में परिभ्रमण, जन्म, जरा, मरण, शोक, रोग, कुल, योनि, वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुसंकादि पर्यायें, संस्थान और संहनन निश्चयनय से नहीं हैं; अपितु व्यवहारनय से हैं ।[2]"

---

[1] प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध, प्रदेशबंध ।
[2] गाथा ३९ से ४६ तक ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार स्पष्ट है कि शुद्धनिश्चयनय से शुद्धजीव को समस्त विभावस्वभावों का,[1] संसारविकारों का[2] और पौद्गलिक विकार-समूहों का[3] अभाव है। चूंकि उक्त सभी भाव परस्वभाव हैं, परद्रव्य हैं; अतः हेय हैं। [गाथा ५०]

निश्चयनय से तो आत्मा निर्दंड, निर्द्वन्द, निमम, निःराग, निःशरीर, निरालंब, निर्दोष, निर्मूढ़, निर्भय, निर्ग्रन्थ, निःराग, निःशल्य, निष्काम, निःक्रोध, निर्मान, निर्मद, अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्टसंस्थान, सर्वदोषविमुक्त एवं चेतना-गुणवाला है। इसप्रकार आत्मा स्वद्रव्य होने से उपादेय है।

शुद्धद्रव्यार्थिकनय से सिद्ध और संसारी जीवों में अन्तर नहीं है। जैसे सिद्ध आत्मा है, संसारी जीव भी वैसे ही हैं। जिसप्रकार लोकाग्र में स्थित सिद्ध भगवान अशरीरी, अविनाशी, अतीन्द्रिय, निर्मल और विशुद्धात्मा हैं; उसीप्रकार सभी संसारी जीव भी हैं।

इसके बाद ५१वीं से ५५वीं गाथा तक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि चलता, मलिनता, अगाढ़ता और विपरीत अभिनिवेश से रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। संशय, विभ्रम, विमोह से रहित, हेयोपादेय तत्त्वों के जाननेरूप भाव सम्यग्ज्ञान है।

इसप्रकार पूर्व तीन अध्यायों में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं उनके विषयभूत जीवादि तत्त्वार्थों का वर्णन करने के पश्चात् चारित्र के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई है, जिसमें सर्वप्रथम व्यवहारचारित्र का वर्णन किया गया है।

(घ) व्यवहारचारित्राधिकार

इस अधिकार में सर्वप्रथम हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की निवृत्तिरूप अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह – इन पाँच व्रतों का वर्णन है। तदनन्तर पाँच समितियों – ईर्या, भाषा, एषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन – का निरूपण है।

---

[1] क्षायिक, क्षयोपशमिक, औदयिक और औपशमिक भाव विभावस्वभाव हैं।

[2] जीवस्थान, मार्गणास्थान, चार गति में भ्रमण, जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, कुल, योनि – संसारविकार हैं।

[3] वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, स्त्री-पुरुष-नपुंसक आदि पर्यायें, संस्थान और संहनन पौद्गलिक विकार-समूह हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके बाद गुप्ति का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि व्यवहारनय से कलुषता, मोह, संज्ञा, राग, द्वेषादि अशुभ भावों का परिहार मनोगुप्ति है। निश्चयनय से रागादि की निवृत्ति मनोगुप्ति है। व्यवहारनय से पाप के हेतुभूत स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भक्तकथा आदि वचनों का त्याग वचनगुप्ति है। निश्चयनय से असत्यादि की निवृत्ति वाले वचन अथवा मौन वचनगुप्ति है। व्यवहारनय से बन्धन, छेदन, मारन, आकुचन (संकोचन) और प्रसारण आदि कायक्रियाओं की निवृत्तिरूप कायगुप्ति है। निश्चयनय से कायक्रियाओं की निवृत्तिरूप कायोत्सर्ग ही कायगुप्ति है अथवा हिंसादि की निवृत्ति कायगुप्ति है।

इसके पश्चात् पंचपरमेष्ठी का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि घातिकर्म से रहित, केवलज्ञानादि गुणों से युक्त, चौंतीस अतिशय से संयुक्त अरहंत होते हैं। अष्टकर्मों से रहित, अष्टगुणों से अलंकृत, लोकाग्र में स्थित, परमनित्य सिद्ध होते हैं। इन्द्रियों को वश में करनेवाले, पंचाचारों से परिपूर्ण धीर-गुणगंभीर आचार्य होते हैं। निःकांक्षितभाव-सहित, रत्नत्रय से युक्त जिनकथित पदार्थों के शूरवीर उपदेशक उपाध्याय होते हैं। समस्त व्यापार-रहित, निर्मोह, निर्ग्रन्थ और चतुर्विध आराधना में रत साधु होते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य ने व्रत और गुप्ति को तो नकारात्मक (निगेटिव) रूप में वर्णित किया है एवं पंचपरमेष्ठी का स्वरूप नकारात्मक और सकारात्मक (पोजेटिव) दोनों प्रकार से बताया है। पंचपरमेष्ठी के गुणों में अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों का वर्णन है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि व्यवहारचारित्र के अन्तर्गत आचार्य ने पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति एवं पंचपरमेष्ठी की भक्ति को लिया है।

(ङ) परमार्थप्रतिक्रमणाधिकार

व्यवहारचारित्र का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव निश्चय-चारित्र का वर्णन करते हैं, जिसमें सर्वप्रथम परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार है, जो निश्चयचारित्र के ही अन्तर्गत है एवं इसके आगे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितने अधिकार हैं, वे सभी निश्चयचारित्र महाधिकार के अन्तर्गत ही हैं, अर्थात् उन सब में विभिन्न प्रकार से निश्चयचारित्र का ही वर्णन किया गया है।

इस अधिकार की आरंभिक पाँच गाथाओं को टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव पंचरत्न कहते हैं। इनमें नारकादि, गुणस्थानादि, बालकादि, रागादि और क्रोधादि भावों का निश्चय से आत्मा कर्ता, कारयिता, अनुमंता व कारण नहीं है – यह बताया गया है। इसके बाद स्पष्ट किया गया है कि उक्त भावना से जिस माध्यस्थ्यभाव की उत्पत्ति होती है, उसे निश्चयचारित्र कहते हैं।

चारित्र को दृढ़ करने के लिये प्रतिक्रमणादि होते हैं, अतः आचार्यदेव उन्हीं का वर्णन करते हैं।

अतीतदोष परिहार्थं यत्प्रायश्चित्तं क्रियते तत्प्रतिक्रमणम् – अतीत में हुये दोषों के परिहार के लिये जो प्रायश्चित्त किया जाता है, वह प्रतिक्रमण है।

निश्चय से तो ध्यान ही प्रतिक्रमण है। व्यवहार से प्रतिक्रमण शास्त्र में कहे अनुसार आचरण करना भी प्रतिक्रमण है। 'प्रतिक्रमण किसे होता है' – यह बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जो वचनरचना को छोड़कर रागादिभावों का निवारण करके आत्मा को ध्याता है, विराधना को छोड़कर आराधना में वर्तता है, अनाचार को छोड़कर आचार में स्थिरभाव करता है, उन्मार्ग का त्यागकर जिन-मार्ग में स्थिरभाव करता है, शल्यभाव[1] छोड़कर निःशल्यभाव में परिणमित होता है, अगुप्तिभाव छोड़कर त्रिगुप्तिगुप्त रहता है, आर्त एवं रौद्रध्यान को छोड़कर धर्म एवं शुक्लध्यान को ध्याता है, मिथ्या-दर्शन-सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भाता है, उसे ही प्रतिक्रमण होता है। ज्ञान-चारित्र को छोड़कर आचार्य तो यहाँ तक कहते हैं कि वह जीव ही प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि उक्त सभी भाव प्रतिक्रमणमय हैं।[2]

---

[1] निदान, माया और मिथ्यात्व – ये तीन शल्य होती हैं।

[2] "सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमणमओ हवे जम्हा" अर्थात् वह प्रतिक्रमण कहलाता है, क्योंकि वह प्रतिक्रमणमय है।
– आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा ८४ से ८८ का उत्तरार्द्ध।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त में आचार्य ध्यान को उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण एवं अतिचार का प्रतिक्रमण सिद्ध करते हुए कहते हैं कि उत्तमार्थ[1] में स्थित मुनि कर्मों का घात करते हैं। अतः ध्यान ही उत्तमार्थ का प्रतिक्रमण है एवं ध्यान में लीन मुनि सर्वदोषों का परित्याग करते हैं। अतः ध्यान ही सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है।

संक्षेप में कह सकते हैं कि आत्माराधना ही वस्तुतः परमार्थ-प्रतिक्रमण है – यही इस अधिकार का मूल प्रतिपाद्य है।

(च) निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

१२ गाथाओं में निबद्ध इस अधिकार में आचार्यदेव कहते हैं कि जो समस्त जल्प को छोड़कर अनागत शुभाशुभ का निवारण करके आत्मा को ध्याता है, जो निःकषाय, दान्त, शूरवीर, व्यवसायी, संसार से भयभीत है एवं जीव व कर्म के भेद का अभ्यास करता है, उसे प्रत्याख्यान होता है।

इसप्रकार जीव व कर्म के भेदाभ्यासपूर्वक ध्यान और संन्यास की विधि बताते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञानी चिंतवन करता है कि मैं प्रकृति-स्थिति-प्रदेश-अनुभाग बन्ध से रहित केवलज्ञान-दर्शन-भक्ति-सुख स्वरूप हूँ, मैं ममत्व को छोड़कर निर्ममत्व में स्थिर रहता हूँ, मैं न तो कभी परभाव का ही ग्रहण करता हूँ, न ही कभी स्वभाव को छोड़ता हूँ, मैं तो मात्र ज्ञाता-द्रष्टा हूँ, आत्मा ही मेरा आलम्बन है, अतः मैं उसी में स्थिर रहता हूँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, संवर, योग, प्रत्याख्यान में सर्वत्र एक आत्मा ही उपादेय है, शेष सभी संयोगीभाव मुझसे बाह्य हैं, अतः हेय हैं।

इसप्रकार निर्विकल्प ध्यान की ओर अग्रसर होता हुआ ज्ञानी आत्मगत दोषों को स्वीकार कर उन्हें मन-वचन-काय से छोड़कर, अंतरंग भावशुद्धि हेतु विचार करता है कि मुझे किसी से बैर नहीं है, सब जीवों के प्रति मुझे समता है; अतः अब मैं आशा को छोड़ कर समाधि को प्राप्त करता हूँ।

इसप्रकार जो भेदाभ्यासपूर्वक समाधि को प्राप्त करता है, वह संयत नियम से प्रत्याख्यान धारण करने में समर्थ है।

---

[1] उत्तम पदार्थ आत्मा है, अतः उसे उत्तमार्थ कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(छ) परमालोचनाधिकार

इस अधिकार में आलोचना के भेदों और उनके स्वरूप का कथन है। नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव-गुण-पर्यायों से व्यतिरिक्त आत्मा को जो ध्याता है, उस श्रमण को ही आलोचना होती है।

आलोचन, आलुंछन; अविकृतिकरण और भावशुद्धि के भेद से आलोचना चार प्रकार की होती है।

परिणाम को समभाव में स्थापन कर आत्मा को देखना आलोचन है। कर्मरूपी वृक्ष का मूल छेदने में समर्थ समभावरूप स्वाधीन निज परिणाम आलुंछन है। कर्म से भिन्न विमलगुणयुक्त आत्मा को माध्यस्थ्य भावना में भाना ही अविकृतिकरण है और मद, मान, माया, लोभरहित भाव ही भावशुद्धि है। परमार्थप्रत्याख्यान और परमालोचना परमार्थप्रतिक्रमण के समान ध्यानरूप ही हैं। प्रतिक्रमण में ध्यान द्वारा भूतकाल के दोषों का निराकरण होता है, तो आलोचना और प्रत्याख्यान में वर्तमान व भविष्य का। इनमें मात्र यही अन्तर है।

(ज) शुद्धनिश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

इस अधिकार में अनेक प्रकार से प्रायश्चित्त की परिभाषा दी गई है, किन्तु अन्त में तप को ही प्रायश्चित्त कहा गया है।

प्रायश्चित्त का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है :— प्रायः प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्[१] — प्रकृष्टरूप से निर्विकार चित्त ही प्रायश्चित्त है।

बोध, ज्ञान, चित्त — ये तीनों पद एकार्थक हैं।[२]

अतः आचार्य कहते हैं कि प्रायः चित्तः अर्थात् प्रकृष्टरूप से चित्त को जो मुनि नित्य धारण करता है, उसे प्रायश्चित्त है।

क्रोधादि स्वकीय भावों के क्षयादिक की भावना में रहना और निजगुणों का चिन्तन करना ही निश्चय से प्रायश्चित्त है। व्रत,

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा ११३ की टीका

२ 'बोधो ज्ञानं चित्तमित्यनर्थान्तरम्' — आचार्य कुन्दकुन्द : नियमसार, गाथा ११६ की टीका।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समिति, शील, संयमरूप परिणाम एवं इन्द्रिय-निग्रहरूप भाव प्रायश्चित्त है। आत्मा के शुद्ध ज्ञान का स्वीकार ही प्रायश्चित्त है।

उक्त प्रायश्चित्त की प्रथम परिभाषा में कथित क्रोधादिक भावों में से मुनि क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतते हैं।

अनन्तानन्त भवों द्वारा उपार्जित समस्त शुभाशुभ कर्मसमूह तपश्चरण से नष्ट होता है, अतः कर्मों का क्षय के हेतु तप प्रायश्चित्त है। इसीप्रकार आत्मस्वरूप के आलम्बनपूर्वक होने से एवं समस्त भावों का परिहार करने के कारण ध्यान भी प्रायश्चित्त है।

इसी के अन्तर्गत शुद्धनिश्चयनियम और निश्चयकायोत्सर्ग का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो कायादि परभाव में स्थिरभाव छोड़कर आत्मा को निर्विकल्परूप से ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग होता है एवं जो शुभाशुभ रचना और रागादिभावों का निवारण करके आत्मा को ध्याता है, उसे निश्चितरूप से नियम होता है।

(झ) परमसमाध्यधिकार

१२ गाथाओं में निबद्ध इस अधिकार में आचार्य कहते हैं कि वचनोच्चारण की क्रिया छोड़कर वीतरागभाव से आत्मा का ध्यान ही परमसमाधि है। यह समाधि ध्यान, संयम,[१] नियम[२] और तपपूर्वक[३] होती है।

समाधि में राग-द्वेष-रहित साम्यभाव उत्पन्न होता है। यदि समाधियुक्त मुनि में साम्यभाव उत्पन्न न हो तो फिर उसके द्वारा कृत कायक्लेशरूप विविध उपवास, अध्ययन, मौन आदि सभी क्रियायें निरर्थक ही हैं।

---

[१] समस्त इन्द्रियों के व्यापार का त्याग संयम है – नियमसार गाथा १२३ की टीका।

[२] निज आत्मा की आराधना में तत्परता नियम है – नियमसार गाथा १२३ की टीका।

[३] जो आत्मा को आत्मा में धारण कर रखता है, टिकाये रखता है, जोड़े रखता है, वह अध्यात्म है; अध्यात्म ही तप है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सामायिक व्रत किस मुनि को स्थायी होता है – इसका नकारात्मक और सकारात्मक रूप से वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो समस्त सावद्य (पापसहित) कर्मों से विरत है, राग-द्वेष विकार जिसमें उत्पन्न नहीं होते, पाप-पुण्य का त्यागी है, आर्त-रौद्र ध्यान से रहित है, हास्य-रति-अरति-जुगुप्सा-भय और वेदत्रय का जिसने त्याग कर दिया है, जो इन्द्रियजित है, तीन गुप्तियों का धारक है, सब जीवों में साम्यभाव रखता है, निरन्तर धर्म व शुक्लध्यान धारण करता है तथा जिसका आत्मा संयम, नियम और तप में सन्निहित है; उसे सामायिक स्थायी है – ऐसा केवली के शासन में कहा है।

(ञ) परमभक्त्याधिकार

१३४वीं गाथा से १४०वीं गाथा तक परमभक्ति अधिकार है। इसमें भक्ति का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति निश्चय निवृत्तिभक्ति है। मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर परमभक्ति करना व्यवहार निवृत्तिभक्ति है।

जो रागादि का त्याग एवं विकल्पों के अभावपूर्वक उपयोग को आत्मा में लगाता है, वह योगभक्तिवाला है। जिनवर-कथित भक्ति में लगा हुआ विपरीताभिनिवेश-रहित निजभाव ही योग है। यह योग मुक्ति का साक्षात् कारण है।

(ट) निश्चयपरमावश्यकाधिकार

इस अधिकार में सर्वप्रथम आवश्यक की निरुक्ति देते हुए कहा है कि जो अन्य के वश नहीं है, वह अवश है और अवश का कर्म आवश्यक है। यह आवश्यककर्म कर्म का विनाश करनेवाला है और निरवयव निर्वाण का कारण है।

जो जीव अशुभभाव-सहित है अथवा संयत रहता हुआ शुभभावों में प्रवृत्त होता है एवं द्रव्य-गुण-पर्यायों के विकल्पों में मन लगाता है, वह 'अन्यवश' है, अतः उसे आवश्यककर्म नहीं है; किन्तु जो परभाव को त्यागकर निर्मल स्वभाववाले आत्मा को ध्याता है, वह 'आत्मवश' है, उसे ही आवश्यककर्म होते हैं।

आवश्यकसहित श्रमण अंतरात्मा है और आवश्यकरहित श्रमण बहिरात्मा। जो अन्तर्बाह्य जल्प में नहीं वर्तता, वह अन्तरात्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust and eGangotri

है और जो अन्तर्बाह्य जल्प में वर्तता है, वह बहिरात्मा है। जो धर्मध्यान, शुक्लध्यान-परिणत है, वह अन्तरात्मा है और जो ध्यानविहीन है, वह बहिरात्मा है।

इसप्रकार अन्तरात्मा-बहिरात्मा का भेद बताने के पश्चात् आवश्यक की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि आवश्यकरहित न केवल दर्शन से ही भ्रष्ट होता है, अपितु चारित्र से भी भ्रष्ट है।

अतः मुक्ति चाहनेवालों को आत्मस्वभाव में स्थिरतारूप आवश्यक करना चाहिये। इसी से सामायिकगुण भी पूर्ण होता है। जो साधु प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यानादि षडावश्यकरूप निश्चयचारित्र की क्रिया को करता है, वह वीतरागचारित्र में स्थित है। अतः योगी को जिनकथित परमसूत्र से प्रतिक्रमणादि की स्पष्ट परीक्षा करके मौनव्रतसहित ध्यानमय प्रतिक्रमणादिरूप निजकार्य नित्य करना चाहिये। यदि शक्तिविहीन हो तो श्रद्धान ही करना चाहिये।

आचार्य कुन्दकुन्द की यह विशेषता रही है कि इन्होंने निश्चय-परक परिभाषायें दी हैं अर्थात् इन्होंने मात्र बाह्य क्रियाओं पर जोर न देकर आन्तरिक प्रक्रिया की ओर ही विशेषरूप से ध्यान आकर्षित किया है एवं आन्तरिक प्रक्रिया के सहयोगी रूप में और दृढ़ता के लिये अभ्यासरूप में बाह्य क्रिया को प्रस्तुत किया है। अतः बाह्य क्रिया के साध्यभूत अन्तरंग क्रिया को उपादेय कहा है। बाह्य क्रिया तो प्रयोजनपुरतः ही ग्रहणयोग्य है। आत्मा में लीन होने पर, आत्मा में समा जाने पर वह हेय है, त्याज्य है। आत्मलीनता की स्थिति में समस्त भेदों का अभाव हो जाता है, यही कारण है कि पूर्ववर्णित प्रतिक्रमणादि षडावश्यक में आचार्य ने प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना एवं प्रायश्चित्त – सभी को ध्यान ही कहा है और इसी ध्यानमय प्रतिक्रमण आदि को करने का उपदेश दिया है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि यदि ध्यानमय प्रतिक्रमणादि करने की सामर्थ्य न हो तो उनका श्रद्धान ही करना चाहिये। वचनमय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, नियम और आलोचना को भी करना चाहिये, क्योंकि ये सभी प्रशस्त स्वाध्याय हैं। वचनसंबंधी व्यर्थ व्यापार (वाद-विवादादि) तो स्वधर्मी अथवा विधर्मी किसी से नहीं करना चाहिये। इन व्यर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवादों से बचने के लिये ज्ञानीजन जनसमूह को छोड़कर एकान्त में रहते हैं और ज्ञाननिधि को भोगते हैं।

भूतकाल में सभी इसीप्रकार आवश्यक कर्म करके गुणस्थानों की श्रेणी को पार करते हुए केवली हुये हैं। इसप्रकार पूर्व पुरुषों का उदाहरण देकर आचार्य हमें भी आवश्यक कर्म करने की प्रेरणा देते हैं।

(ठ) शुद्धोपयोगाधिकार

इस अधिकार में आचार्यदेव ने नियम के फल को बताया है। वे केवली के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि निश्चयनय से केवली आत्मा को देखते-जानते हैं और व्यवहारनय से सबको देखते-जानते हैं अर्थात् निश्चयनय से वे आत्मज्ञ हैं और व्यवहारनय से सर्वज्ञ।

जिसप्रकार सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ होते हैं, उसीप्रकार केवलज्ञानी के ज्ञान और दर्शन युगपत् होते हैं।

कुछ लोगों का मत है कि ज्ञान परप्रकाशक है, दर्शन स्वप्रकाशक है और आत्मा स्वपरप्रकाशक है। आचार्यदेव कहते हैं कि उक्त मान्यता उचित नहीं।

व्यवहारनय से ज्ञान परप्रकाशक है, इसलिये दर्शन भी परप्रकाशक है।[1] निश्चयनय से ज्ञान स्वप्रकाशक है, इसलिये दर्शन भी स्वप्रकाशक है।[2] इसप्रकार स्पष्ट है कि आत्मा स्वपरप्रकाशक है, अतः ज्ञान व दर्शन भी स्वपरप्रकाशक हैं।

अतः ऐसा भी कहा जाता है कि निश्चयनय से केवली आत्मज्ञ हैं, सर्वज्ञ नहीं[3]। व्यवहारनय से केवली सर्वज्ञ हैं, आत्मज्ञ नहीं[4]।

गुण-गुणी में भेद का अभाव होता है—इस युक्ति द्वारा ज्ञान और दर्शन को स्व-परप्रकाशक सिद्ध करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि

---

[1] नियमसार, गाथा १६४

[2] वही, १६५

[3] वही, गाथा १६६

[4] वही, गाथा १६९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान जीव का स्वरूप है, इसलिये आत्मा आत्मा को जानता है। यदि ज्ञान आत्मा को न जाने तो वह आत्मा से ही भिन्न सिद्ध हो। अतः ज्ञान आत्मा है, आत्मा ज्ञान है। चूँकि आत्मा स्वपरप्रकाशक है, इसलिये ज्ञान-दर्शन भी स्वपरप्रकाशक हैं।

केवलज्ञानी का ज्ञान अतीन्द्रिय और प्रत्यक्ष है, शेष का परोक्ष।

इस अधिकार के अन्त में सिद्धदशा का वर्णन करने के पश्चात् आचार्यदेव प्रतिज्ञावाक्य को दुहराते हुए उपसंहार में मार्ग एवं मार्ग-फल की चर्चा करते हैं तथा भव्य जीवों को सतर्क करते हुए कहते हैं कि यदि कोई ईर्ष्याभाव से जिनमार्ग की निन्दा करे तो उसके वचन सुनकर जिनमार्ग में अभक्ति नहीं करना।

इसप्रकार हम देखते हैं कि 'नियमसार' मुख्यतः मोक्षमार्ग के निरुपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थ है। सम्पूर्ण 'नियमसार' में एक ही ध्वनि है कि परमपारिणामिकभावरूप निज शुद्धात्मा की आराधना में ही समस्त धर्म समाहित है। इसके अतिरिक्त जो भी शुभाशुभ विकल्प एवं शुभाशुभ क्रियायें हैं, उन्हें धर्म कहना मात्र उपचार है। अतः प्रत्येक आत्मार्थी का एकमात्र कर्तव्य इन उपचरित धर्मों से विरत हो, एकमात्र निजशुद्धात्मतत्त्व की आराधना में निरत होना ही है।

अष्टपाहुड

'अष्टपाहुड' में आचार्य कुन्दकुन्द के आचार्यत्व अर्थात् प्रशासक रूप के दर्शन होते हैं। यह ग्रन्थ न तो 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकाय संग्रह' के समान वस्तुस्वरूप का प्रतिपादक ग्रंथ है तथा न ही 'समय-सार' और 'नियमसार' की भाँति आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत। इसमें तो उन्होंने अपने शिष्यों के आचरण को अनुशासित किया है। इसमें शिथिलाचार के विरुद्ध सशक्त आदेश है, प्रेरक उपदेश है तथा मृदुल संबोधन भी है। यद्यपि चतुर्विध संघ के आचरण में समागत शिथिलता को दूर करने के पावन उद्देश्य से ही इसकी रचना हुई है, तथापि इसमें साधुवर्ग को शिथिलाचार से बचाने के लिये विशेष सावधान किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस ग्रंथ पर किसी समर्थ आचार्य ने कोई टीका नहीं लिखी, क्योंकि सरल, सुबोध मार्गदर्शन होने के कारण टीका की आश्यकता ही नहीं थी। न तो इसमें दार्शनिक गुत्थियाँ ही हैं और न आध्यात्मिक गहराइयाँ; अतः यह अपने अध्ययन में टीकाकारों की अपेक्षा नहीं रखता।

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द के आठ पाहुडों का संग्रह है। इसीकारण इसका नाम अष्टपाहुड रखा गया है। वे आठ पाहुड निम्न हैं :–

(१) दंसणपाहुड (२) सूत्रपाहुड (३) चारित्रपाहुड (४) बोधपाहुड (५) भावपाहुड (६) मोक्षपाहुड (७) लिंगपाहुड (८) शीलपाहुड।

प्रत्येक पाहुड में विषय का विवेचन नामानुसार ही है। यथा-स्थान संबंधित अन्य विषय भी आ गये हैं, पर मुख्यता अपने विषय की ही है। वस्तुतः प्रत्येक पाहुड स्वतंत्र ग्रन्थ है। यही कारण है कि प्रत्येक का आरंभ मंगलाचरण से होता है, प्रत्येक के आरंभ में प्रतिज्ञावाक्य और अन्त में उपसंहारवाक्य प्राप्त होता है। एक-दो पाहुडों में इसके अपवाद भी प्राप्त होते हैं, पर लगता है कि उनकी अन्तिम गाथायें कहीं विलुप्त हो गई हैं। जो भी हो, उपलब्ध 'अष्टपाहुड' में विषय-वस्तु संक्षेप में इसप्रकार है :–

१. दंसणपाहुड

छत्तीस गाथाओं के इस पाहुड में प्रतिज्ञावाक्य और मंगला-चरणोपरान्त आचार्यदेव तत्काल आदेश देते हैं कि धर्म का मूल दर्शन (सम्यग्दर्शन) है, अतः सम्यग्दर्शन से हीन व्यक्ति की वंदना नहीं करना चाहिये। सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति ही वास्तविक भ्रष्ट है। दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति को कभी निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन से रहित व्यक्ति भले ही अनेक प्रकार के शास्त्रों का ज्ञाता हो, अरबों वर्षों तक उग्र तप तपता रहे; पर उसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, वह संसार में ही भटकता रहेगा। सम्यग्दृष्टि ही कर्मों का नाश करता है।

जो व्यक्ति सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र – तीनों से भ्रष्ट हैं; वे तो महाभ्रष्ट हैं। ऐसे लोग स्वयं के साथ पर का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भी अहित करते हैं। ये भ्रष्ट लोग धर्मात्माओं को भ्रष्ट बताकर उनकी निन्दा किया करते हैं।

जिसप्रकार मूल (जड़) के नष्ट हो जाने पर वृक्ष की वृद्धि संभव नहीं है, उसीप्रकार सम्यग्दर्शनरूपी मूल के अभाव में धर्मरूप वृक्ष की वृद्धि-समृद्धि संभव नहीं है।

जो स्वयं सम्यग्दर्शन से रहित होकर भी सम्यग्दृष्टियों से अपने पर पुजाना चाहते हैं, वे लूले और मूक होंगे; उन्हें सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति दुर्लभ ही समझना चाहिये। जो व्यक्ति लज्जा, भय और गौरवादि के कारण उन मिथ्यादृष्टियों के पैरों में पड़ते हैं, वे भी बोधि को प्राप्त नहीं होंगे।

अन्तर्बाह्य परिग्रह से रहित पाणिपात्र दिगम्बर मुनिराज ही दर्शन हैं। जैनदर्शन में तीन ही वेष मान्य हैं। एक तो जिनेन्द्र भगवान के समान नग्न दिगम्बर साधु का वेष, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक (ऐलक-क्षुल्लक) का वेष और तीसरा आर्यिका का वेष। चौथा कोई वेष जैनदर्शन में नहीं है।

जिनेन्द्र-कथित छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सप्त तत्त्वों का श्रद्धान व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयसम्यग्दर्शन तो आत्मरूप ही है अर्थात् आत्मानुभूतिरूप ही है। यह सम्यग्दर्शन मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है।

केवली-कथित धर्म का जितना आचरण कर सकते हों, अवश्य करें, यदि करना शक्य न हो तो उसका श्रद्धान अवश्य करना, क्योंकि केवली भगवान ने श्रद्धान को ही सम्यक्त्व कहा है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्रवंत तपोनिधि मुनिराज ही वंदना करने योग्य हैं। जो सहजोत्पन्न यथाजातरूप देखकर भी वंदना नहीं करते हैं, मत्सरभाव रखते हैं, वे संयमी भी हों, तो भी मिथ्यादृष्टि ही हैं। नग्न दिगम्बर ही क्यों न हो, पर असंयमी हो तो वंदना नहीं करना चाहिये। देह, कुल और जाति की वंदना नहीं होती, वंदना तो गुणों की ही होती है; अतः गुणहीन की कौन वंदना करेगा ?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन से ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं, अतः दर्शन ही सार है और दर्शन-ज्ञान-सहित चारित्र से मोक्ष होता है। कल्याण की परम्परा होने के कारण सम्यग्दर्शन सर्वलोक-पूज्य है।

अन्त में आचार्यदेव कहते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से अरहन्त दशा को प्राप्त भगवान जबतक चौंतीस अतिशयोंसहित समवशरण में विराजते हैं, तबतक स्थावरप्रतिमा कहे जाते हैं। अन्त में अष्ट-कर्मों का नाशकर सिद्ध दशा को प्राप्त कर लेते हैं।

२. सूत्रपाहुड़

सत्ताईस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में सर्वप्रथम सूत्र के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अरिहंतदेव द्वारा कहे गये एवं गणधर द्वारा गूँथे गये, आचार्य परम्परा से प्राप्त शब्द और अर्थमय सूत्रों के माध्यम से श्रमण परमार्थ को समझते हैं। जिसप्रकार सूत्र (डोरा) सहित सूई खोती नहीं है, उसीप्रकार सूत्रों के जानकार श्रमण भ्रमित नहीं होते।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित सूत्रों में प्रतिपादित जीवादि पदार्थों एवं उनके हेयोपादेय स्वरूप को जाननेवाले जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं। जो योगी जिनोक्त सूत्रों में प्रतिपादित पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्य को जानते हैं, वे कर्ममल का नाश करते हैं और सच्चे सुख को प्राप्त करते हैं। जो इन सूत्रों के अर्थ से अपरिचित हैं, वे प्रगट मिथ्यादृष्टि हैं। सूत्र से भ्रष्ट व्यक्ति हरिहरतुल्य भी हो, तो भी उसे मुक्ति की प्राप्ति नहीं होगी। भले ही संघपति हो, सिंहवृत्ति हो, कितना ही बड़ा क्यों न हो; पर सूत्र से भ्रष्ट मिथ्यादृष्टि ही है।

जिनसूत्रों में जिन तीन लिंगों की चर्चा की है, उनमें सर्वश्रेष्ठ लिंग नग्न दिगम्बर मुनियों का है, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का है और तीसरा आर्यिकाओं का है।

आचार्यदेव अत्यन्त स्पष्टरूप से कहते हैं कि साधु का रूप जैसा बालक जन्मता है, वैसा ही नग्न होता है। यदि वह तिलतुषमात्र भी परिग्रह रखे तो निगोद का ही पात्र है। वस्त्र धारण किये हुये तो तीर्थंकर भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते, अन्य की तो बात ही क्या कहें ? एक नग्नता ही मार्ग है, शेष सब उन्मार्ग हैं। स्त्रियों के नग्नता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न होने से वे मुक्ति प्राप्त करने में असमर्थ हैं। उनकी योनि, स्तन, नाभि और काखों में सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति निरन्तर होती रहती है, मासिकधर्म की शंका से नित्य ग्रस्त रहती हैं एवं स्वभाव से शिथिलभाववाली होती हैं; अतः उनके उत्कृष्ट साधुता नहीं है; तथापि वे भी पापयुक्त नहीं हैं, क्योंकि उनके भी सम्यग्दर्शन, ज्ञान और एकदेश चारित्र तो हो ही सकता है।

इसप्रकार इस 'सूत्रपाहुड' में जिनसूत्रों के स्वरूप के साथ-साथ उनमें प्रतिपादित जैनसाधुता के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

३. चारित्रपाहुड

मंगलाचरण और ग्रन्थप्रतिज्ञा के पश्चात् आचार्यदेव एक गाथा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र का स्वरूप बताकर चारित्र के भेदों का वर्णन करते हैं।

जो जानता है, वह ज्ञान है; जो देखता है, वह दर्शन है। ज्ञान व दर्शन के समायोग से चारित्र होता है। अक्षय, अनन्त ज्ञानादिक भाव जीव के हैं। इन ज्ञानादिक भावों की शुद्धि हेतु चारित्र दो प्रकार का कहा है :— सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र।

जिनोपदिष्ट ज्ञान-दर्शन शुद्ध सम्यक्त्वाचरण चारित्र है और शुद्ध आचरणरूप चारित्र संयमाचरण चारित्र है।

मिथ्यात्व कर्म के उदय से शंकादि दोष सम्यग्दर्शन को अशुद्ध करते हैं, अतः इनको मन-वचन-काय से छोड़ना चाहिये। शंकादि दोषों के दूर होने पर सम्यग्दर्शन के आठ अंग प्रगट होते हैं। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना — ये सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं।

संक्षेप में कह सकते हैं कि शंकादि दोषों से रहित, निःशंकितादि गुणों से युक्त, तत्त्वार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानकर उनका श्रद्धान एवं आचरण करना ही सम्यक्त्वाचरण चारित्र है।

जो ज्ञानी अमूढ़दृष्टि होते हुए सम्यक्त्वाचरण चारित्र से शुद्ध होकर संयमाचरण चारित्र से भी शुद्ध हो तो वह शीघ्र ही मुक्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त करता है एवं जो अज्ञान से मूढ़दृष्टि होते हुए सम्यक्त्वाचरण चारित्र से तो भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं, उन्हें मुक्ति संभव नहीं।

वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दान, मार्गानुशंसा, उपगूहन, रक्षण – ये सम्यक्त्व के चिह्न हैं, जिनसे सम्यग्दृष्टि की पहचान होती है।

जो पुरुष कुदर्शन में उत्साह, भावना, प्रशंसा, श्रद्धा और उपासना करता है, वह सम्यक्त्व से च्युत होता है तथा जो सुदर्शन में उत्साह, भावना, प्रशंसा, श्रद्धा और उपासना करता है, वह सम्यक्त्व से च्युत नहीं होता।

आचार्यदेव उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे भव्य! तू अज्ञान को ज्ञान से और मिथ्यात्व को विशुद्ध सम्यक्त्व से दूर कर तथा अहिंसारूप धर्म द्वारा आरंभसहित मोह को छोड़। परिग्रह त्याग करके दीक्षा धारण कर। संयमभावपूर्वक तप कर। ऐसा करने से तुझे मोहरहित वीतरागरूप निर्मल शुक्लध्यान होगा।

अज्ञानी जीव मिथ्यात्व और अबुद्धि के उदय से मिथ्यामार्ग (कुदर्शन) में प्रवृत्ति करते हैं। जब जीव मोहरहित होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान से द्रव्य-पर्यायस्वरूप सत्तामयी वस्तु का यथार्थ श्रद्धान करता है, तब वह चारित्र के दोषों को छोड़ता है एवं निजगुणों की आराधना करता हुआ शीघ्र ही कर्म का नाश करता है।

संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का है :– सागार और अनागार। सागार संयमाचरण ग्रन्थ-सहित (परिग्रह-सहित) श्रावक के होता है और अनागार संयमाचरण परिग्रह-रहित निर्ग्रन्थ मुनि के होता है।

सागार संयमाचरण के धारी श्रावकों को ग्यारह देशव्रत (प्रतिमायें) और बारह व्रत होते हैं। दर्शन, व्रत, सामायिक प्रोषधोपवास, सचित्तत्याग, रात्रभुक्तित्याग, ब्रह्मचर्य, आरंभत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग, उद्दिष्टत्याग – ये ग्यारह देशव्रत हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – ये बारह व्रत हैं। स्थूल त्रसकाय के घात का त्याग, स्थूल असत्य का त्याग, बिना दिये पर के धन के ग्रहण का त्याग, परस्त्रीत्याग और परिग्रहपरिमाण – ये पाँच अणुव्रत हैं। दिशा-विदिशा के गमन का परिमाण, अनर्थदण्डव्रत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और भोगोपभोगपरिमाण – ये तीन गुणव्रत हैं[1]। सामायिक, प्रोषध, अतिथि-पूजा और सल्लेखना – ये चार शिक्षाव्रत हैं[2]।

ध्यान रहे – 'चारित्रपाहुड' में प्रतिपादित उपर्युक्त बारह व्रतों में और 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रतिपादित बारह व्रतों में किंचित् फ़र्क है; परन्तु वह कथन करने की पद्धति का ही अन्तर है, मूल विरोध बिल्कुल नहीं है। भाषावचनिकाकार पण्डित जयचंदजी छाबड़ा इसका समाधान इसप्रकार करते हैं :—

"यहाँ प्रश्न :—'तत्त्वार्थसूत्र' में तीन गुणव्रतों में देशव्रत कहा और भोगोपभोगपरिमाण को शिक्षाव्रतों में कहा तथा सल्लेखना को भिन्न कहा, वह कैसे ? इसका समाधान :—यह विवक्षा का भेद है, यहाँ देशव्रत दिग्व्रत में गर्भित है और सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में कहा है, कुछ विरोध नहीं है।[3]"

अनागार संयमाचरण मुनियों के होता है। पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत, पाँच व्रतों की पच्चीस क्रिया, पाँच समिति और तीन गुप्ति अनागार संयमाचरण में होती है। इनका वर्णन २९ से ३७ तक की ९ गाथाओं में किया है, जो मूलत: पठनीय है।

इसके पश्चात् पाँच गाथाओं में ज्ञान का स्वरूप व महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि ज्ञान से हीन पुरुष तो इच्छित वस्तु को प्राप्त ही नहीं करते, क्योंकि ज्ञान के बिना गुण-दोषों की जानकारी नहीं होती, जीव-अजीव का भेदज्ञान नहीं होता। गुण-दोषों को जानने के लिये सम्यग्ज्ञान को जानना चाहिये। सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्र अंगीकार करने से ही अनुपम सुख की प्राप्ति होती है।

जो उक्त सम्यक्त्वाचरणपूर्वक संयमाचरण चारित्र अंगीकार करता है, वह अल्पकाल में ही मुक्ति प्राप्त करता है।

उक्त चारित्र के भेदों को निम्नलिखित चार्ट द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है :–

---

[1] 'गुण' शब्द उपकार का वाचक है। ये अणुव्रतों का उपकार करते हैं।

[2] शिक्षाव्रतों में आगामी मुनिव्रत की शिक्षा दी गई है।

[3] चारित्रपाहुड, गाथा २९ की भाषावचनिका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

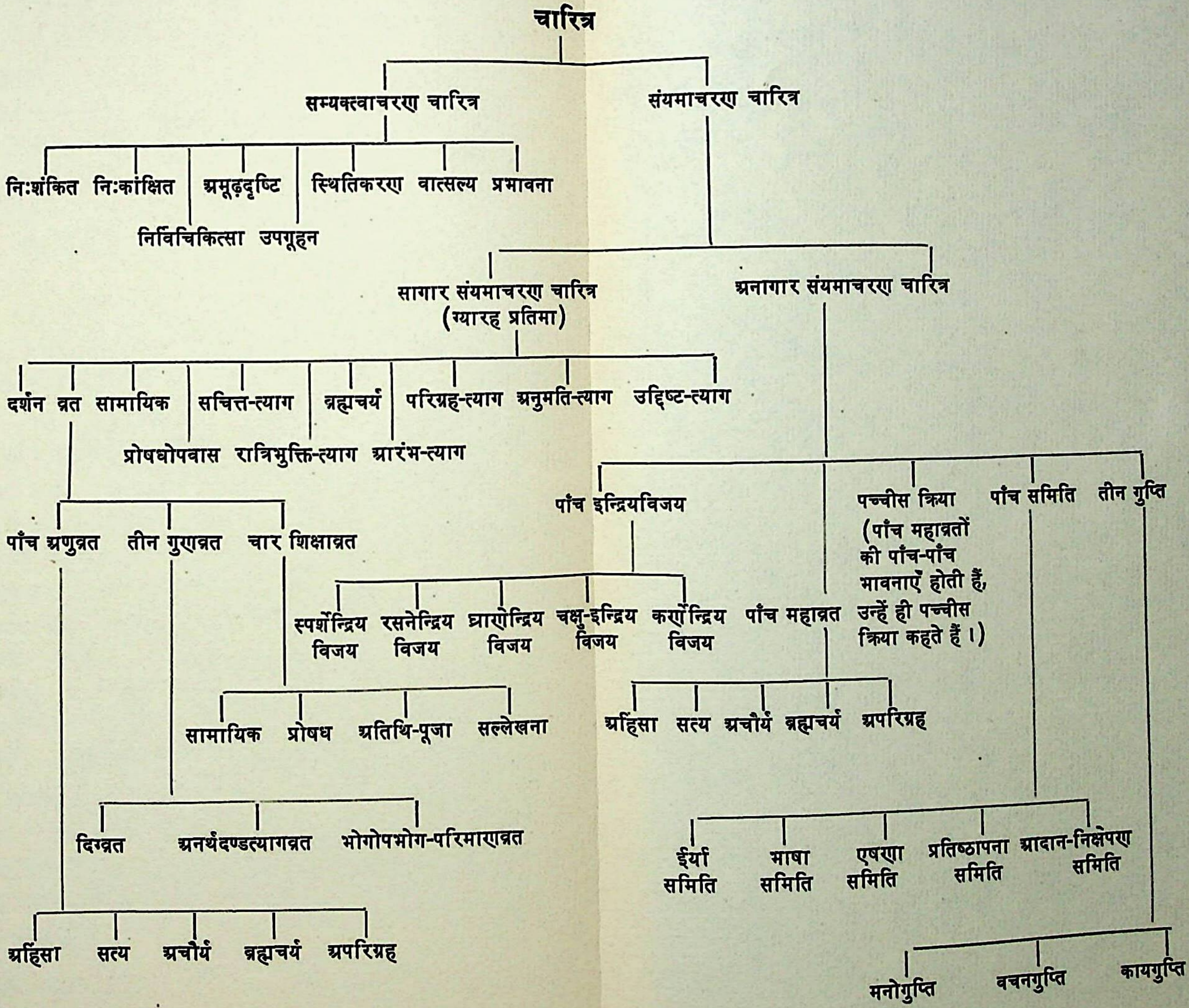

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्त में आचार्य कहते हैं कि इस चारित्रपाहुड को तुम शुद्धभाव से भाओ, जिससे तुम चारों गतियों में भ्रमण नहीं करोगे और तुम्हें अपुनर्भव की प्राप्ति होगी।

४. बोधपाहुड

बासठ गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में प्रतिपादित विषयवस्तु को आचार्यदेव ने ग्यारह स्थानों में विभाजित किया है, जो क्रमशः इसप्रकार हैं[1] :–

१. आयतन, २. चैत्यगृह, ३. जिनप्रतिमा, ४. दर्शन, ५. जिनबिंब, ६. जिनमुद्रा, ७. ज्ञान, ८. देव, ९. तीर्थ, १०. अरहंत, ११. प्रव्रज्या।

इस अधिकार में उक्त ग्यारह स्थानों के माध्यम से एक प्रकार से निर्ग्रन्थ साधुओं का स्वरूप ही स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि निश्चय से निर्दोष-निर्ग्रन्थ साधु ही आयतन है, चैत्यग्रह है, जिनप्रतिमा है, दर्शन है, जिनबिंब है, जिनमुद्रा है, ज्ञान है, देव है, तीर्थ है, अरहंत है और प्रव्रज्या है। व्यवहार से धातु-पाषाणमय इनकी आकृति ही वंद्य है। ध्यान रहे, साधुओं में अरहंत भी सम्मिलित होते हैं।

इस ग्रन्थ की वचनिका लिखनेवाले पंडित जयचन्दजी छाबड़ा इस पाहुड की वचनिका के अन्त में लिखते हैं :–

प्रथम आयतन दुतिय चैत्यगृह तीजी प्रतिमा।
दर्शन अर जिनबिंब छठो जिनमुद्रा यतिमा॥
ज्ञान सातमूं देव आठमूं नवमूं तीरथ।
दसमूं है अरहंत ग्यारमूं दीक्षा श्रीपथ॥
इम परमारथ मुनिरूप सति अन्य भेष सब निंद्य है।
व्यवहार धातु-पाषाणमय आकृति इनकी वंद्य है॥१॥

१. आयतन[2] :– आयतन माने धर्म के स्थान। जिनमार्ग में बाह्याभ्यंतर संयम के धनी मुनिराज ही आयतन हैं। उनमें जो श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञानादि-सहित हैं, वे सिद्धायतन हैं। वास्तविक धर्मायतन तो धर्म के धनी मुनिराज ही हैं, व्यवहार से उनके आवास को भी धर्मायतन कहते हैं।

---

[1] बोधपाहुड, गाथा ३ व ४

[2] बोधपाहुड, गाथा ५ से ७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. चैत्यगृह[1] :– जिसमें सुख-दुःख, बंध-मोक्ष की चेतना पाई जावे, वह आत्मा ही चैत्य है। षट्काय के जीवों की रक्षा करनेवाले संयमी, आत्मज्ञानी मुनिराज ही चैत्यगृह हैं। व्यवहार से जिनालय को भी चैत्यगृह या चैत्यालय कहते हैं।

३. जिनप्रतिमा[2] :– सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनियों की चलती-फिरती जंगम देह ही जंगम प्रतिमा है और अष्टकर्मरहित, अनन्तचतुष्टयसहित, देहरहित अचल सिद्ध भगवान ही थावर (स्थिर) प्रतिमा हैं। निश्चय से यही वंदने योग्य हैं। इनकी यथानुरूप धातु-पाषाण की प्रतिमा व्यवहार से वंदनयोग्य है।

४. दर्शन[3] :– सम्यग्दर्शन-ज्ञानमय संयमरूप सुधर्म ही निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग है। उसे जो बताये, वही दर्शन है। जैसे पुष्प गंधमय है, दूध घृतमय है, वैसे ही जैनदर्शन सम्यक्त्वमय – सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है। मुनिराज का स्वरूप भी अन्तर्बाह्य में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है, अतः निर्ग्रन्थ मुनिराज ही साक्षात् दर्शन (जैनदर्शन) है।

५. जिनबिंब[4] :– कर्मक्षय की कारण शुद्ध शिक्षा और दीक्षा देनेवाले, आत्मज्ञानी, वीतरागी, संयमी आचार्यदेव ही वस्तुतः जिनदेव के प्रतिबिंब हैं; वे ही वंदनीय-पूजनीय हैं।

६. जिनमुद्रा[5] :– जो शुद्धात्मा के अनुभवी, व्रत-तप से समृद्ध हैं; जिनशिक्षा-दीक्षा देनेवाले हैं, जिनकी मुद्रा इन्द्रियविषयों और कषायभावों का मर्दन करनेवाली हो, संयम में दृढ़ हो – ऐसे आचार्यदेव ही वास्तव में जिनमुद्रा हैं।

७. ज्ञान[6] :– मोक्षमार्ग की हेतुभूत शुद्धात्मा की प्राप्ति ज्ञान द्वारा होती है; अतः मोक्षमार्गरूप लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये

---

[1] बोधपाहुड, गाथा ८ व ९

[2] बोधपाहुड, गाथा १० से १३

[3] बोधपाहुड, गाथा १४ व १५

[4] बोधपाहुड, गाथा १६ व १८

[5] बोधपाहुड, गाथा १९

[6] बोधपाहुड, गाथा २० से २३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान को जानना चाहिये। जिसप्रकार धनुष के अभ्यास एवं बाण से रहित धनुषधारी लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता है, उसीप्रकार शुद्धात्मानुभवरूपी धनुष के अभ्यास एवं ज्ञानरूपी बाण से रहित व्यक्ति मोक्षमार्गरूप लक्ष्य को प्राप्त नहीं करता तथा जिसप्रकार धनुष की बाणादि समस्त सामग्री उपलब्ध हो तो निशाना नहीं चूकता, लक्ष्य की प्राप्ति होती ही है; उसीप्रकार मोक्षमार्ग की यथावत् ज्ञानादि सामग्री उपलब्ध हो तो मुनि मोक्षरूप लक्ष्य से नहीं चूकता, उसे अवश्य प्राप्त करता है; अतः जिनागम के अनुसार ज्ञानियों का विनय करके ज्ञान को प्राप्त करना चाहिये।

८. देव[1] :– जिसका मोह नष्ट हो जाता है, वह देव है। धर्म, दया से विशुद्ध होता है और प्रव्रज्या सर्व परिग्रह से रहित होती है।

९. तीर्थ[2] :– जिससे तिरे, वह तीर्थ है। सम्यक्त्व व महाव्रतों से शुद्ध पंचेन्द्रियों से विरक्त, इहलोक-परलोक के भोगों की इच्छा से रहित निर्मल आत्मा ही तीर्थ है।

१०. अरहंत[3] :– सामान्य से समस्त केवलज्ञानी अरहंत होते हैं, किन्तु यहाँ पर तीर्थंकर पद की प्रधानता से कथन किया गया है। नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव – इन चार निक्षेपों द्वारा अरहंत का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जो घातिकर्म और अघातिकर्म के उदय से होनेवाले दोषों से रहित और अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञानादि अनुपम गुणों से युक्त हैं, वे नाम अरहंत हैं।

निश्चयनय से गुणस्थान, मार्गणास्थान, पर्याप्ति, प्राण और जीवस्थान – इन पाँच प्रकारों से अरहंत की स्थापना ही स्थापना अरहंत है। इसके पश्चात् ३२ से ३६ तक की गाथाओं में गुणस्थानादि प्रत्येक में पृथक्-पृथक् स्थापना अरहंत को बतलाया गया है।

द्रव्य अरहंत के स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जरा, व्याधि संबंधी दुखों से रहित, आहार-नीहार, मल-मूत्र, श्लेष्म,

---

[1] बोधपाहुड, गाथा २४ व २५
[2] बोधपाहुड, गाथा २६ व २७
[3] बोधपाहुड, गाथा २८ से ४१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

थूक, पसीना, दुर्गंध, जुगुप्सा और ग्लानि से रहित, एक हजार आठ लक्षणों से सहित, सम्पूर्ण अतिशय-युक्त सुगंधित औदारिक देह अरहंत के होती है।

भाव अरहंत तो मद, राग-द्वेष, कषायादि मन के विकल्प से रहित अत्यन्त विशुद्ध केवलज्ञानरूप होते हैं।

११. प्रव्रज्या[1]:– प्रव्रज्या दीक्षा को कहते हैं। प्रव्रज्या में अंतरंग-बाह्य परिग्रह, कषाय, राग-द्वेष-मोह और पापारंभ का अभाव होता है; शत्रु-मित्र, निंदा-प्रशंसा, लाभ-अलाभ, तृण-कांचन में समभाव होता है।

प्रव्रज्याधारी मुनि शरीर-संस्काररहित और मद-राग-द्वेष से भी रहित होते हैं तथा वे उपशम-क्षम-दम-युक्त होते हैं। उनके मिथ्यात्व आदि भाव नष्ट होकर सम्यक्त्व गुण प्रगट हो जाता है।

प्रव्रज्या छह संहनन वाले जीव के होती है। यह सब परिग्रह-रहित व निर्ग्रन्थस्वरूप होती है। इसमें लेशमात्र भी परिग्रह का संग्रह नहीं होता है।

बाह्य दीक्षा का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि प्रव्रज्या-धारी उपसर्ग व परीषह को सहते हुए नित्य ही निर्जन प्रदेश, शिला-तल, काष्ठ या भूमितल में रहते हैं अथवा सूने घर, वृक्षमूल, कोटर, उद्यान, वन, श्मशानभूमि, पर्वत की गुफा, पर्वतशिखर, भयानक वन और वस्तिका में रहते हैं।[2] वे पशु, महिला, नपुंसक और व्यभिचारी पुरुष का साथ नहीं करते; अपितु स्वाध्याय व ध्यान से युक्त होते हैं। वे प्रव्रज्याधारी मुनि निर्ग्रन्थ, निःसंग, निर्मान, अराग, निर्द्वेष, निर्मम, निरहंकार, निर्भय और निराश भाववाले होते हैं।

इसप्रकार जिनमार्ग में कथित सम्यक्त्व से शुद्ध निर्ग्रन्थ रूप का स्वरूप संक्षेप में कहने के पश्चात् आचार्यदेव कहते हैं कि बारह अंगों

---

[1] बोधपाहुड, गाथा ४५ से ५६

[2] बोधपाहुड, गाथा ४२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व चौदह पूर्वों के ज्ञाता गमकगुरु भद्रबाहु की परम्परा से जिनदेव-कथित मुक्तिमार्ग को जानकर मैंने उसे षट्काय के जीवों के हित के लिये कहा है।

५. भावपाहुड

एक सौ पैंसठ गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में भावशुद्धि पर ही विशेष बल दिया गया है, क्योंकि गुण-दोषों का मूलप्राण भाव ही है। बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की शुद्धि के लिये ही किया जाता है, परन्तु रागादिरूप आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना बाह्य त्याग निष्फल ही है; क्योंकि अंतरंग भावशुद्धि बिना करोड़ों वर्ष तक भी बाह्य तप करे, तब भी सिद्धि नहीं होती। अतः मुक्तिमार्ग के पथिकों को सर्वप्रथम भाव को ही पहचानना चाहिये।[1]

हे आत्मन् ! तूने भावरहित निर्ग्रन्थरूप तो अनेक बार ग्रहण किये हैं, पर भावलिंग बिना – शुद्धात्मतत्त्व की भावना बिना चतुर्गति में भ्रमण करते हुये अनन्त दुःख उठाये हैं। नरकगति में सर्दी, गर्मी, आवासादि के, तिर्यंचगति में खनन, ज्वलन, वेदना, व्युच्छेदन, निरोधन आदि के; मनुष्यगति में आगन्तुक (अकस्मात वज्रपातादि), मानसिक, शारीरिक आदि एवं देवगति में वियोग, हीनभावना आदि के दुःख भोगे हैं।[2]

हे जीव ! अधिक क्या कहें, आत्मभावना के बिना तू माँ के गर्भ में महा अपवित्र स्थान में सिकुड़ के रहा। आजतक तूने इतनी माताओं का दूध पिया कि यदि उसे इकट्ठा किया जाये तो सागर भी भर जावे। तेरे जन्म-मरण से दुःखी माताओं के अश्रुजल से ही सागर भर जावे। इसीप्रकार तूने इस अनंत संसारसागर में इतने जन्म लिये हैं कि उनके केश, नख, नाल और अस्थि को यदि कोई इकट्ठा करे तो सुमेरुपर्वत से भी बड़ा ढेर हो जावे।[3]

हे आत्मन् ! तूने आत्मभावरहित होकर तीन लोक में जल, थल, अग्नि, पवन, गिरि, नदी, वृक्ष, वन आदि स्थलों पर सर्वत्र सर्व

---

[1] भावपाहुड, गाथा २ से ६

[2] भावपाहुड, गाथा ७ से १६

[3] भावपाहुड, गाथा १७ से २०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुःखसहित निवास किया। सर्व पुद्गलों का बार-बार भक्षण किया, फिर भी तृप्ति नहीं हुई। इसीप्रकार तृष्णा से पीड़ित होकर तीनलोक का समस्त जल पिया, तथापि तृष्णा शान्त न हुई। अतः अब समस्त बातों का विचार कर, भव को समाप्त करनेवाले रत्नत्रय का चिन्तन कर![1]

हे धीर! तुमने अनन्त भवसागर में अनेक बार उत्पन्न होकर अपरिमित शरीर धारण किये व छोड़े हैं, जिनमें मनुष्यगति में विषभक्षणादि व तिर्यंचगति में हिमपातादि द्वारा कुमरण को प्राप्त होकर महादुःख भोगे हैं। निगोद में तो एक अन्तर्मुहूर्त में छियासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार जन्म-मरण किया है।[2]

हे जीव! तुमने रत्नत्रय के अभाव में दुःखमय संसार में अनादि काल से भ्रमण किया है; अतः अब तुम आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान, आचरणरूप रत्नत्रय की प्राप्ति करो, ताकि तुम्हारा मरण कुमरण न बनकर सुमरण बन जाय और तुम शीघ्र ही शाश्वत सुख को प्राप्त करो।[3]

अब आचार्य भावरहित मात्र द्रव्यलिंग धारण करने के पश्चात् हुये दुःखों का वर्णन करते हैं।

हे मुनिवर! तीनलोक में कोई स्थल ऐसा शेष नहीं है, जहाँ तूने द्रव्यलिंग धारण कर जन्म-मरण धारण न किया हो। न ही कोई पुद्गल ऐसा बचा है, जिसे तूने ग्रहण कर छोड़ा न हो; फिर भी तेरी मुक्ति नहीं हुई, अपितु भावलिंग न होने से अनंतकाल तक जन्म-जरा आदि से पीड़ित होते हुए दुःखों को ही भोगा है।[4]

हे महायश! अधिक क्या कहें, इस मनुष्य के शरीर में एक-एक अंगुल में ९६-९६ रोग होते हैं, फिर सम्पूर्ण शरीर के रोगों का तो कहना ही क्या है? पूर्वभवों में उन समस्त रोगों को पराधीन होकर तूने सहा है एवं आगे भी सहेगा।[5]

---

[1] भावपाहुड, गाथा २१ से २३
[2] भावपाहुड, गाथा २४ से २९
[3] भावपाहुड, गाथा ३० से ३२
[4] भावपाहुड, गाथा ३३ से ३६
[5] भावपाहुड, गाथा ३७ व ३८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे मुनि ! तू माता के महा अपवित्र गर्भ में रहा, वहाँ माता के उच्छिष्ट भोजन से बना हुआ रसरूपी आहार ग्रहण किया। फिर बाल अवस्था में अज्ञानवश अपवित्र स्थान में, अपवित्र वस्तु में लेटा व अपवित्र वस्तु ही खाई।[1]

हे मुनि ! यह देहरूप घर मांस, हाड़, शुक्र, रुधिर, पित्त, अंतड़ियों, खसिर (रुधिर से बिना अपरिपक्व मल), वसा और पूय (खराब खून) – इन सब मलिन वस्तुओं से पूरा भरा है, जिसमें तू आसक्त होकर अनन्त काल से दुःख भोग रहा है।[2]

समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे धीर ! जो सिर्फ कुटुंबादि से मुक्त हुआ, वह मुक्त नहीं है; अपितु जो आभ्यंतर की वासना छोड़कर भावों से मुक्त होता है, उसी को मुक्त कहते हैं; अतः ऐसा जानकर आभ्यंतर की वासना को छोड़।[3] भूतकाल में अनेक मुनि ऐसे हुये हैं, जिन्होंने देहादि परिग्रह छोड़कर निर्ग्रन्थ रूप धारण किया, किन्तु मानादिक नहीं छोड़े; अतः सिद्धि नहीं हुई। जब निर्मान हुये, तभी मुक्ति हुई। जैसे – बाहुबली[4]' मधुपिंगल[5]

---

१ भावपाहुड, गाथा ३९ से ४१

२ भावपाहुड, गाथा ४२

३ भावपाहुड, गाथा ४३

४ बाहुबली :– बाहुबली ने अग्रज भरत की आधीनता स्वीकार नहीं की। फलस्वरूप दोनों में युद्ध हुये। जलयुद्ध, मल्लयुद्ध, दृष्टियुद्ध – तीनों ही युद्धों में बाहुबली की विजय हुई; किन्तु इस भाई-भाई के युद्ध से विरक्त हो बाहुबली ने निर्ग्रन्थ दीक्षा ली और कायोत्सर्ग योग से एक वर्ष तक खड़े रहकर तपस्या की, तदपि मुक्ति न मिली। कहा जाता है कि उनके मन में मान कषाय की कलुषता विद्यमान थी। जब यह कलुषता दूर हुई, तभी उन्हें केवलज्ञान हुआ।

५ मधुपिंगल :– राजा मधुपिंगल एवं राजा सगर दोनों ही राजकुमारी सुलभा के स्वयंवर में गये। वहाँ राजा सगर के मंत्री ने छल से नया सामुद्रिक शास्त्र बनाया और कहा कि पिंगल नेत्र वाले वर से कन्या का वरण हो तो वह मर जाता है। यह जानकर राजा मधुपिंगल के नेत्रों को पिंगलवर्ण जानकर राजकुमारी ने राजा सगर का वरण किया। इस घटना से विरक्त हो मधुपिंगल निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर कठोर तप करने लगा। तदनन्तर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वसिष्ठ[1] आदि निदानवश भावश्रमणता को प्राप्त नहीं हुये; तप किया, फिर भी मुक्ति नहीं मिली।

द्रव्यलिंगी उग्र तप करते हुए यद्यपि अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त कर लेता है, किन्तु क्रोधादि के उत्पन्न होने के कारण उसकी वे ऋद्धियाँ स्व-पर के विनाश का ही कारण होती हैं। जैसे – बाहु[2] एवं

सगर के मंत्री का कपट ज्ञात होने पर निदान किया कि मेरे तप का फल यह हो कि मैं अगले जन्म में सगर के कुल को निर्मूल करूँ, अतः वह मरकर महाकालासुर नामक देव हुआ। इसप्रकार स्पष्ट है कि मधुपिंगल मुनि निदान मात्र से भाव विगड़ जाने से मुक्ति प्राप्त नहीं कर सके।

[1] वसिष्ठ – एक समय वसिष्ठ नामक तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहे थे, उस समय गुणभद्र एवं वीरभद्र नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों ने उन्हें संबोधा कि तुम जो तप कर रहे हो, उसमें हिंसा है। तव उस तपस्वी ने प्रकट हिंसा देख उसे त्यागकर उन मुनियों से निर्ग्रन्थ दीक्षा ले ली एवं उग्र तप किया। तदनन्तर मथुरा में आकर मासोपवास किया। वहाँ के राजा उग्रसेन ने भक्तिवश विचार किया कि मैं इनको पारणा कराऊँगा; अतः नगर में घोषणा करा दी कि इन मुनि को कोई आहार न दे। जव मुनि पारणा के दिन नगर में आये तो अग्नि का उपद्रव देख अंतराय जानकर वापिस चले गये एवं पुनः मासोपवास किया। फिर जव पारणा के दिन नगर में आये तो हाथी का क्षोभ देखकर अंतराय जानकर वापिस चले गये। पुनः मासोपवास किया एवं पारणा के दिन नगर में आये तव राजा जरासिंघ का पत्र आने से राजा उग्रसेन का चित्त व्यग्र था, अतः मुनि को पड़गाहा नहीं, तव अंतराय मान वन में वापिस जाते हुए लोगों के वचन सुने कि राजा स्वयं आहार दे नहीं रहा और अन्य देने वालों को मना कर दिया। यह सुनकर मुनि वसिष्ठ ने राजा पर क्रोध कर निदान किया कि मैं इस राजा के पुत्र होकर राजा का निग्रह कर राज करूँ – यही मेरे तप का फल हो; अतः क्रोधवश निदानस्वरूप तप व्यर्थ गया, मुक्ति नहीं हुई।

[2] बाहु :– कुम्भकारटक नगर में दण्डक नामक राजा था, जिसके मंत्री का नाम बालक था। एक बार वहाँ अभिनन्दन आदि ५०० मुनि आये, जिनमें से खंडक नामक मुनि ने बालक मंत्री को वाद में जीत लिया, तब मंत्री ने क्रोध करके एक भांड को मुनि का वेष धारण करवाकर दण्डक राजा की रानी सुव्रता के साथ क्रीड़ा करते हुए राजा को दिखाया एवं कहा कि राजा की यह कैसी भक्ति है, जो अपनी स्त्री को भी दिगम्बर को क्रीड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीपायन[1] मुनि।

भावशुद्धि बिना एकादश अंग का ज्ञान भी व्यर्थ है; किन्तु यदि शास्त्रों का ज्ञान न हो और भावों की विशुद्धता हो तो आत्मानुभव के होने से मुक्ति प्राप्त हुई। जैसे – शिवभूति[2] मुनि।

करने को दे दी है। तब राजा ने क्रोध करके सभी मुनियों को घानी में पिलवा दिया। वे सभी मुनि उपसर्ग सहकर परमसमाधि को धारण कर सिद्धपद को प्राप्त हुये।

कालान्तर में वहाँ वाहु नामक मुनि आये। तब नंगरवासी जनों ने उक्त वृत्तांत बताते हुए मुनि को वहाँ जाने से मना किया। लोगों के इन वचनों से मुनि को क्रोध उत्पन्न हुआ तथा अशुभ तैजस समुद्घात से राजा, मंत्री, संपूर्ण नगर एवं स्वयं भी भस्म हो गये। राजा व मंत्री सातवें नरक में गये एवं बाहु मुनि भी।

इसप्रकार द्रव्यलिंग में भाव के दोष से उपद्रव होते हैं, अतः भावलिंग का प्रधान उपदेश है।

[1] दीपायन :– 'मुनि दीपायन द्वारा १२ वर्ष पश्चात् द्वारिका भस्म होगी, जिसमें कि मद्य निमित्त होगा' – ऐसा जानकर राजा ने सारे नगर में मद्य-निषेध की घोषणा कर दी एवं दीपायन स्वयं भी मुनिदीक्षा धारण कर देशान्तर-गमन कर गये। तदनन्तर १२ वर्ष पश्चाद् द्वारिका के बाहर आकर तप करने लगे। वहाँ कुछ लड़के क्रीड़ा करते हुए कुण्डों में जल समझकर मद्यपान कर गये एवं उन्मत्त होकर दीपायन पर पाषाणादिक से प्रहार कर कहने लगे कि यह दीपायन है, जो हमारी द्वारिका भस्म करेगा। उनके प्रहारों से दीपायन मुनि जमीन पर गिर गये एवं उन्हें क्रोध उत्पन्न हो गया, जिसके निमित्त से द्वारिका जलकर भस्म हो गई। इसप्रकार दीपायन मुनि भावशुद्धि बिना सिद्धि को नहीं पा सके।

[2] शिवभूति :– शिवभूति नामक मुनि ने गुरु के समक्ष समस्त शास्त्र पढ़े, किन्तु कुछ समझ में नहीं आया। तब गुरु ने अल्पबुद्धि जानकर पढ़ाया कि "मा रुष मा तुष" अर्थात् राग-द्वेष नहीं करने से ही सर्वसिद्धि होती है। अतः शिवभूति इसे ही रटने लगे; पर यह वाक्य भी उन्हें शुद्ध याद न रहा और वे "तुषमाष" रटते हुए विहार करने लगे। रास्ते में उड़द की दाल धो रही एक युवती से किसी व्यक्ति ने पूछा :– "तुम क्या कर रही हो ?" उसने कहा :–"तुष-माष भिन्न-भिन्न कर रही हूँ।"– यह सुनकर मुनि को भेदविज्ञान हो गया। उन्होंने विचार किया कि यह शरीर तुष है और आत्मा माष

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भावरहित नग्नत्व अकार्यकारी है। भावसहित द्रव्यलिंग में ही कर्मप्रकृति के समूह का नाश होता है। हे धीर मुनि! इसप्रकार जानकर तुझे आत्मा की ही भावना करना चाहिये।[१]

जो मुनि देहादिक परिग्रह व मानकषाय से रहित होता हुआ आत्मा में लीन होता है, वह भावलिंगी है। भावलिंगी मुनि विचार करता है कि मैं परद्रव्य व परभावों से ममत्व को छोड़ता हूँ। मेरा स्वभाव ममत्वरहित है। अतः मैं अन्य सभी अवलम्बनों को छोड़कर आत्मा का ही अवलम्बन लेता हूँ। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रत्याख्यान, संवर, योग – ये सभी भाव अनेक होने पर भी एक आत्मा में ही हैं। संज्ञा, संख्यादि के भेद से ही उन्हें भिन्न-भिन्न कहा जाता है। मैं तो ज्ञान-दर्शनस्वरूप शाश्वत आत्मा ही हूँ। शेष सब संयोगीभाव परद्रव्य हैं, मुझसे भिन्न हैं। अतः हे आत्मन्! तुम यदि चार गति से छूटकर शाश्वत सुख को पाना चाहते हो तो भावों से शुद्ध होकर अति निर्मल आत्मा का चिन्तन करो। जो जीव ऐसा करता है, वह निर्वाण को प्राप्त करता है।[२]

जीव अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अलिंगग्रहण, अनिर्दिष्ट-संस्थान व चेतना गुणवाला है।[३] चैतन्यमयी ज्ञानस्वभावी जीव की भावना कर्मक्षय का कारण होती है।[४]

भाव की महिमा बताते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रावकत्व व मुनित्व के कारणभूत भाव ही हैं। भावसहित द्रव्यलिंग से ही कर्मों का नाश होता है। पठन-पाठन, अध्ययन-मनन से कुछ भी सिद्धि नहीं होती; क्योंकि यदि नग्नत्व से ही कार्यसिद्धि हो तो नारकी, पशु आदि सभी जीवसमूह को नग्नत्व के कारण मुक्ति प्राप्त होना चाहिये; किन्तु

है, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यह भेदविज्ञान होते ही वे आत्मा के अनुभव में लीन हो गये व कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त की।

१ भावपाहुड, गाथा ५४ व ५५

२ भावपाहुड, गाथा ५६ से ६१

३ भावपाहुड, गाथा ६४

४ भावपाहुड, गाथा ६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऐसा नहीं होता, अपितु वे महादुःखी ही हैं; अतः स्पष्ट है कि भाव-रहित नग्नत्व से दुःखों की ही प्राप्ति होती है, संसार में ही भ्रमण होता है।

बाह्य में नग्न मुनि पैशून्य, हास्य, माया आदि कार्यों से मलिन होता हुआ स्वयं अपयश को प्राप्त करता है एवं व्यवहार धर्म की भी हँसी कराता है; इसलिये आभ्यंतर भावदोषों से अत्यन्त शुद्ध होकर ही निर्ग्रन्थ बाह्य लिंग धारण करना चाहिये।[1]

भावरहित द्रव्यलिंगी की निरर्थकता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि जिस मुनि में धर्म का वास नहीं है, अपितु दोषों का आवास है, वह तो इक्षुफल के समान है, जिसमें न तो मुक्तिरूप फल लगते हैं, न ही रत्नत्रयरूप गंधादिक गुण ही पाये जाते हैं। अधिक क्या कहें, वे तो नग्न होकर भी नाचने वाले भाँड के समान ही हैं।[2]

अतः हे आत्मन् ! पहले मिथ्यात्वादि आभ्यंतर दोषों को छोड़ कर, भावदोषों में अत्यन्त शुद्ध होकर, बाह्य निर्ग्रन्थ लिंग धारण करना चाहिये।[3]

भाव ही स्वर्ग-मोक्ष का कारण है। विद्याधर, देव और मनुष्य के द्वारा संस्तुत सुभावों से ही चक्रवर्ती आदि की विपुल लक्ष्मी को प्राप्त होता है एवं रत्नत्रयात्मक मुक्तिमार्ग को भी पाता है।

भाव तीन प्रकार के हैं – शुभ, अशुभ और शुद्ध। धर्मध्यान शुभ है, आर्त व रौद्रध्यान अशुभ है और शुद्धभाव तो आत्मा का स्वरूप ही है, इसे ही ग्रहण करना चाहिये।

जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है, मानादि कषायें भी मुख्यता से समाप्त हो गई हैं – ऐसा इन्द्रियों से विरक्त, समचित्त श्रमण सोलहकारण भावना को भाकर अल्प समय में तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है व निर्वाण को प्राप्त करता है।[4]

---

[1] भावपाहुड, गाथा ६९ व ७०
[2] भावपाहुड, गाथा ७१
[3] भावपाहुड, गाथा ७३
[4] भावपाहुड, गाथा ७८ व ७९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं कि हे मुनिप्रवर ! तू मन-वचन-काय से बारह प्रकार के तप और तेरह प्रकार की क्रियाओं को कर तथा ज्ञानरूपी अंकुश से मनरूपी मतवाले हाथी को वश में कर।

शुद्ध जिनलिंग का स्वरूप बताते हुए आचार्य कहते हैं कि शुद्धात्मानुभवपूर्वक धारण किया गया बाह्य वस्त्रा दि-त्याग, भूमिशयन आदि वेष ही जिनलिंग है। यही मोक्ष का कारण है।[1]

पूजादि एवं व्रतसहित परिणाम पुण्य हैं और मोह से रहित आत्मा के परिणाम धर्म हैं। अज्ञानियों का पुण्य भोग का निमित्त है, कर्मक्षय का नहीं। धर्म कर्मक्षय का हेतु है, अतः धर्मस्वरूप आत्मा का ही श्रद्धान, ज्ञान व ध्यान करना चाहिये।[2]

शुद्धात्मा की भावना से रहित मुनियों द्वारा किया गया बाह्य परिग्रह का त्याग, गिरि-कन्दरादि का आवास, ज्ञान, अध्ययन आदि सभी क्रियायें निरर्थक हैं; इसलिये हे मुनि ! लोक का मनोरंजन करनेवाला मात्र बाह्य वेष ही धारण न कर, इन्द्रियों की सेना का भंजन कर, विषय में मत रम, मनरूपी बन्दर को वश में कर, मिथ्यात्व व नव नोकषायों को भावशुद्धिपूर्वक छोड़, देव-गुरु-शास्त्र की विनय कर, जिनशास्त्रों को अच्छी तरह समझकर शुद्धभावों से भावना कर; जिससे तुझे क्षुधा-तृषादिक वेदना से रहित त्रिभुवन-चूड़ामणि सिद्धत्व की प्राप्ति होगी।[3]

हे मुनि ! तू बाईस परीषहों को सह; बारह अनुप्रेक्षाओं की भावना कर; भावशुद्धि के लिये नवपदार्थ, सप्ततत्त्व, चौदह जीव-समास, चौदह गुणस्थान आदि की नाम-लक्षणादिपूर्वक भावना कर; दश प्रकार के अब्रह्मचर्य को छोड़कर नव प्रकार के ब्रह्मचर्य को प्रगट कर। इसप्रकार भावपूर्वक द्रव्यलिंगी मुनि ही दर्शन, ज्ञान, चारित्र तप को प्राप्त करता है, भावरहित द्रव्यलिंगी तो चारों गतियों में अनंत दुःखों को भोगता है।[4]

---

[1] भावपाहुड, गाथा ८१

[2] भावपाहुड, गाथा ८३ से ८५

[3] भावपाहुड, गाथा ८६ से ९३

[4] भावपाहुड, गाथा ९४ से १००

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे मुनि ! तूने अनादिकाल से अशुद्ध भावोंपूर्वक अतिचारसहित कंदमूलादि सचित्त भोजन, सचित्त पानी आदि का सेवन किया, जिससे तूने अनंत संसार में भ्रमण करते हुए असंख्य दुःखों को भोगा।[1]

हे महायश ! उक्त सभी दुखों को विचार कर तू अब गुरुजनों के प्रति पाँच प्रकार की विनय व दश प्रकार की वैयावृत्य कर, अपने दोषों को मत छिपा, उन्हें गुरु के समक्ष प्रगट कर, दूसरों के कटु वचनों को भी सह; क्योंकि क्षमाधारी मुनि ही समस्त पापों का क्षय करता है। हे क्षमाधारी मुनि ! इसप्रकार जानकर मन-वचन-काय से समस्त जीवों के प्रति संचित क्रोधाग्नि को क्षमारूपी जल से शान्त करो।[2]

हे मुनि ! तू संसार को असार जानकर केवलज्ञान की प्राप्ति के लिये निर्मल सम्यग्दर्शनसहित दीक्षा लेने की भावना कर, भावों से शुद्ध होकर बाह्य लिंग धारण कर, उत्तम गुणों का पालन कर। जीव, अजीव, आस्रव, बंध और संवर तत्त्व का चिन्तन कर, मन-वचन-काय से शुद्ध होकर आत्मा का चिन्तन कर; क्योंकि जबतक विचारणीय जीवादि तत्त्वों का विचार नहीं करेगा, तबतक अविनाशी पद की प्राप्ति नहीं होगी।[3]

हे मुनिवर ! पाप-पुण्य बंधादि का कारण परिणाम ही हैं। मिथ्यात्व, कषाय, असंयम और योगरूप भावों से पाप का बंध होता है। मिथ्यात्वरहित सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य को बाँधता है; अतः तुम ऐसी भावना करो कि मैं ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से आच्छादित हूँ, मैं इन्हें समाप्त कर निजस्वरूप को प्रगट करूँ। अधिक कहने से क्या ? तू तो प्रतिदिन शील व उत्तर गुणों का भेद-प्रभेदों सहित चिन्तन कर।[4]

हे मुनि ! ध्यान से मोक्ष होता है, अतः तुम आर्त्त-रौद्र ध्यान को छोड़कर धर्म व शुक्ल ध्यान को धारण करो। द्रव्यलिंगी के धर्म

---

[1] भावपाहुड, गाथा १०१ से १०३

[2] भावपाहुड, गाथा १०४ से १०६

[3] भावपाहुड, गाथा ११० से ११५

[4] भावपाहुड, गाथा ११६ से १२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व शुक्ल ध्यान नहीं होता, अतः वह संसाररूप वृक्ष को काटने में समर्थ नहीं है। जिस मुनि के मन में रागरूप पवन से रहित धर्मरूपी दीपक जलता है, वही आत्मा को प्रकाशित करता है, वही संसाररूपी वृक्ष को ध्यानरूपी कुल्हाड़े से काटता है।[1]

ज्ञान का एकाग्र होना ही ध्यान है। ध्यान द्वारा कर्मरूपी वृक्ष दग्ध हो जाता है, जिससे संसाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है; अतः भावश्रमण तो सुखों को प्राप्तकर तीर्थंकर व गणधर आदि पद को प्राप्त करते हैं, पर द्रव्यश्रमण दुःखों को ही भोगता है; अतः गुण-दोषों को जानकर तुम भावसहित संयमी बनो।[2]

सन्तों के प्रति आदर प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं कि मैं मन-वचन-काय से दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय भावसहित श्रमण को नमस्कार करता हूँ।[3]

भावश्रमण विद्याधरादि की ऋद्धियों को नहीं चाहता, न ही वह मनुष्य-देवादि के सुखों की वांछा करता है। वह चाहता है कि मैं शीघ्रातिशीघ्र आत्महित कर लूँ।[4]

उपदेश देते हुए आचार्य कहते हैं कि हे मुनीश्वर! तुम छहकाय के जीवों पर दया करो, छह अनायतनों को त्रियोग से छोड़ो, पारिणामिक भावरूप महासत्त्व की भावना करो।[5]

हे महायश! तूने अपने सुखों के लिये अनन्त जीवों की हिंसा की, जिससे तू चौरासी लाख योनियों में घूमा; अतः अब त्रियोगपूर्वक इससे विरत हो, जीवों को अभयदान दे।[6]

हे धीर! जिसप्रकार गुड़मिश्रित दूध के पीने पर भी सर्प विषरहित नहीं होता, उसीप्रकार अभव्य जीव जिनधर्म के सुनने पर भी अपनी दुर्मत से आच्छादित बुद्धि को नहीं छोड़ता। वह

---

[1] भावपाहुड, गाथा १२१ से १२३

[2] भावपाहुड, गाथा १२४ से १२८

[3] भावपाहुड, गाथा १२९

[4] भावपाहुड, गाथा १३० से १३२

[5] भावपाहुड, गाथा १३३ से १३४

[6] भावपाहुड, गाथा १३६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्याधर्म से युक्त रहता हुआ मिथ्याधर्म का पालन करता है, अज्ञान तप करता है, जिससे दुर्गति को प्राप्त होता हुआ संसार में भ्रमण करता है; अतः तुझे ३६३ पाखण्डियों के मार्ग को छोड़कर जिनधर्म में मन लगाना चाहिये ।[1]

सम्यग्दर्शन की महिमा का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि जिसप्रकार लोक में जीवरहित शरीर को 'शव' कहते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शनरहित पुरुष 'चलशव' है। शव लोक में अपूज्य होता है और सम्यग्दर्शनरहित पुरुष लोकोत्तर मार्ग (सम्यग्दृष्टियों) में अपूज्य होता है। मुनि व श्रावक धर्मों में सम्यक्त्व की ही विशेषता है। जिसप्रकार ताराओं के समूह में चन्द्रमा सुशोभित होता है, पशुओं में मृगराज सुशोभित होता है; उसीप्रकार जिनमार्ग में जिनभक्तिसहित निर्मल सम्यग्दर्शन से युक्त तप, व्रतादि से निर्मल जिनलिंग सुशोभित होता है।[2]

इसप्रकार सम्यक्त्व के गुण व मिथ्यात्व के दोषों को जानकर गुणरूपी रत्नों के सार, मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन को भावपूर्वक धारण करना चाहिये।

जो भव्य जीव जिनाज्ञा के अनुसार आचरण करता है, उसको चार घातिकर्मों का नाश होकर अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति होती है। जिसे अनन्त चतुष्टय प्राप्त होते हैं, उस कर्मरहित ज्ञानी को शिव, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख, बुद्ध, आत्मा, परमात्मा आदि कहते हैं। आचार्य भावना करते हैं कि इसप्रकार चार घातिकर्मों से मुक्त, अठारह दोषों से रहित, त्रिभुवन को प्रकाशित करनेवाले प्रकृष्ट दीपक समान देव मुझे उत्तमबोधि प्रदान करें।[3]

जिसप्रकार कमलिनी स्वभाव से ही जल से लिप्त नहीं होती, उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि जीव भी स्वभाव से ही विषय-कषायों में लिप्त नहीं होता। आचार्यदेव तो कहते हैं कि जो भावसहित सम्पूर्ण शील-संयमादि गुणों से युक्त हैं, उसे ही हम मुनि कहते हैं। मिथ्यात्व से

---

[1] भावपाहुड, गाथा १३७ से १४२

[2] भावपाहुड, गाथा १४३ से १४६

[3] भावपाहुड, गाथा १४८ से १५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मलिन चित्तवाले बहुत दोषों के आवास मुनिवेष धारी जीव तो श्रावक के समान भी नहीं हैं।[1]

जो इन्द्रियों के दमन व क्षमारूपी तलवार से कषायरूपी प्रबल शत्रु को जीतते हैं, चारित्ररूपी खड्ग से पापरूपी स्तंभ को काटते हैं, विषयरूपी विष के फलों से युक्त मोहरूपी वृक्ष पर चढ़ी मायारूपी बेल को ज्ञानरूपी शस्त्र से पूर्णरूपेण काटते हैं, मोह, मद, गारव से रहित और करुणाभाव से सहित हैं, वे मुनि ही वास्तविक धीर-वीर हैं। वे मुनि ही चक्रवर्ती, नारायण, अर्धचक्री, देव, गणधर आदि के सुखों को और चारण ऋद्धियों को प्राप्त करते हैं तथा पूर्ण शुद्धता होने पर अजर, अमर, अनुपम, उत्तम, अतुल, सिद्धसुख को भी प्राप्त करते हैं।[2]

आचार्य प्रार्थना करते हैं कि उक्त त्रिभुवन-पूज्य, शुद्ध, निरंजन, नित्यसिद्ध भगवान मुझे दर्शन-ज्ञान-चारित्र में उत्कृष्ट शुद्धता प्रदान करें। अधिक कहने से क्या ? धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं अन्य सभी कार्य शुद्धभाव में स्थित होने से ही सिद्ध होते हैं; अतः भावों की शुद्धता पर ही ध्यान देना चाहिये।

भावपाहुड का उपसंहार करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ देव-कथित इस भावपाहुड को जो भव्यजीव भलीभाँति पढ़ते हैं, सुनते हैं, चिन्तन करते हैं; वे अविनाशी सुख के स्थान मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

६. मोक्षपाहुड

१०६ गाथाओं के इस पाहुड में मोक्ष व मोक्ष के कारणों का निरूपण किया गया है। आत्मा की अनन्तसुखरूप सर्वोत्कृष्ट दशा ही मोक्ष है; अतः इसमें बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा – आत्मा के इन तीन रूपों का निरूपण किया गया है। बहिरात्मपना हेय, अन्तरात्मपना उपादेय और परमात्मपना परम उपादेय है।

बहिरात्मा :– इन्द्रियों के द्वारा जिसका मन आत्मस्वरूप से च्युत होकर बाह्य पदार्थों में स्फुरायमान है और जो इन्द्रियों और शरीर को आत्मा जानता है, वह बहिरात्मा है। यह बहिरात्मा

---

[1] भावपाहुड, गाथा १५३ से १५५

[2] भावपाहुड, गाथा १५६ से १६२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसप्रकार अपनी देह को अपना आत्मा जानता है, उसीप्रकार पर की देह को पर का आत्मा जानता-मानता है; इसीकारण देह के निमित्त से जिनसे संबंध बना है, उन स्त्री-पुत्रादि में मोह-ममता करता है और आगामी भवों में देहादि व स्त्री-पुत्रादि का संयोग चाहता है।

अंतरात्मा :– जब वह देहादिक से भिन्न आत्मा को ज्ञानानन्द स्वभावी जानता है, मानता है एवं अनुभव करता है, तब वह अंतरात्मा कहलाता है।

परमात्मा :– जो द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्मरूपी कर्मकलंक से रहित, अशरीरी, अतीन्द्रिय, अनिन्दित, विशुद्धात्मा[1] है, परमपद में स्थित है, परमजिन है, जिसने सब कर्मों को जीत लिया है, जो कल्याणकारी एवं अविनाशी है, सिद्ध है, जिसने अपने स्वरूप की सिद्धि कर निर्वाणपद प्राप्त कर लिया है; वह परमात्मा है।

उपर्युक्त तीनों में से बहिरात्मपना छोड़कर अन्तरात्मा बनकर परमात्मा का ध्यान करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

परमात्मपद की प्राप्ति कैसे होती है – इसका विस्तार से वर्णन करते हुए आरंभ में मुनिधर्म और उसके बाद श्रावकधर्म का निरूपण किया है।

जो व्यक्ति सचित्त, अचित्त, मिश्र – तीनों प्रकार के परद्रव्य में रत है, वह मिथ्यादृष्टि है एवं अष्टकर्मों से बँधता है।

विकाररहित, अष्टकर्मों से रहित, अनुपम, ज्ञानशरीरी, अविनाशी, केवलज्ञानमय आत्मा ही स्वद्रव्य है। जो व्यक्ति इस आत्मा में लीन है, वह परद्रव्य से पराङ्मुख है, वह कर्मों को शीघ्र ही नष्ट करता है; अतः जो मोक्ष को चाहते हैं, उन्हें निजद्रव्य का ध्यान करना चाहिये, क्योंकि मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र उपाय यही है।

उक्त उपायों के करने पर जो शुभभाव होते हैं, उनसे स्वर्गादिक की प्राप्ति होती है, लेकिन मुमुक्षु (मोक्ष के इच्छुक) को उनकी चाह

---

[1] जिसकी आत्मा विशेषरूप से शुद्ध है, जिसके ज्ञान में ज्ञेयों के आकार झलकते हैं; तो भी जो उनरूप नहीं होता और न उनसे राग-द्वेष करता है, वह विशुद्धात्मा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नहीं होती; क्योंकि स्वर्गादिक की प्राप्ति तो कायक्लेशादिक तप से भी हो जाती है। स्वर्गादिक में सुख नहीं, अपितु क्षणिक सुखाभास होता है। शाश्वत सुख तो एकमात्र आत्मा के ध्यान से ही होता है।

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप-पुण्य, क्रोध-मान-माया-लोभ, राग-द्वेष-मोह को मन-वचन-काय से छोड़कर, मौनव्रत धारणकर स्व-पर का विचार करने से ध्यान होता है। ध्यान से कर्म का आस्रव रुकता है, आगामी बंध नहीं होता, पूर्वकर्मों की निर्जरा होती है; तब मुक्ति प्राप्त होती है।

आत्मानुभूति-सम्पन्न मुनि पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से युक्त होते हैं।

जो देखे वह दर्शन है अथवा तत्त्वरुचि ही सम्यग्दर्शन है।[1]

जो जाने वह ज्ञान है अथवा तत्त्व का ग्रहण ही ज्ञान है।[2]

पुण्य-पाप का परिहार चारित्र है।[3]

इसप्रकार जो मुनि रत्नत्रय-संयुक्त होता हुआ मन-वचन-काय से तीनों कालों में योग धारण करता हुआ शल्य[4] एवं दोषों[5] से रहित होता हुआ अपनी शक्ति-अनुसार तप करता है, वह शुद्धात्मा का ध्यान करता हुआ परमपद को प्राप्त करता है।

जो जीव विषय-कषायों में रत है, रौद्रपरिणामी है, हिंसादिक व विषय-कषायों में सहज प्रवृत्ति करते हैं, मुनिमुद्रा जिन्हें स्वप्न में भी नहीं रुचती; वे अज्ञानी हैं, संसार में ही भटकते हैं। परद्रव्य में राग-द्वेष करता हुआ अज्ञानी तीव्र तप के द्वारा अनेक भवों में जितने कर्मों का नाश करता है, ज्ञानी अन्तर्मुहूर्त में ही उनका क्षय कर देता है।

राग कैसा भी क्यों न हो, बंध का ही कारण है; अतः भगवान के प्रति भी किया हुआ राग भी बंध का ही कारण है, मुक्ति का नहीं।

---

[1] मोक्षपाहुड, गाथा ३७, ३८

[2] मोक्षपाहुड, गाथा ५०, ३८

[3] मोक्षपाहुड, गाथा ३७, ४२, ५०, ७२

[4] माया, मिथ्यात्व, निदान – ये तीन शल्य हैं।

[5] राग और द्वेष दोष हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मस्वभाव के विपरीत होने के कारण राग हेय ही है, बंध का ही कारण है।

केवल क्रियामात्र से या केवल ज्ञानमात्र से या केवल भेषमात्र से सिद्धि नहीं होती; अपितु जब ज्ञान-चारित्रमय हो, तप-दर्शनमय हो, तभी सिद्धि होती है।

आत्मा का जानना, मानना और विषयों मे विरक्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है; अतः सुयोग मिलने पर आहार, आसन, निद्रा को जीतकर दर्शन-ज्ञानमयी आत्मा का ध्यान नित्य करना चाहिये; क्योंकि जबतक परद्रव्य में लेशमात्र भी प्रवृत्ति है, मन इन्द्रियों के विषय में प्रवर्तता है, तबतक चारों गतियों में भ्रमण होता है। आत्मा का ध्यान ही इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय है।

कुछ लोग कहते हैं कि पंचमकाल में ध्यान नहीं है। ऐसा कहनेवाले वे इन्द्रियसुखों में आसक्त हैं, सम्यग्ज्ञानरहित हैं, अज्ञानी हैं; क्योंकि इस पंचमकाल में भी धर्मध्यान कहा है। वे तो मुनि का वेष धारणकर पाप करते हैं[1]। मोक्षमार्ग को त्यागकर पाँच प्रकार के वस्त्रों[2] में आसक्त हैं, परिग्रहधारी हैं, याचनाशील हैं एवं सदोष व्यवहार करते हैं; अतः संसार में ही रहते हैं। वास्तविक मुनि तो वे हैं, जो परिग्रह, मोह और पापारंभ रहित हैं, निर्ग्रन्थ हैं, बाईस प्रकार के परिषहों को सहते हैं, क्रोधादि कषायों को जीतते हैं एवं गृहस्थ के करने योग्य आरंभादि कार्यों में नहीं प्रवर्तते हैं, अपितु आत्मा में आत्मा के लिये ही प्रवर्तते हैं।

इसप्रकार जो योगी आत्मा का ध्यान करता है, वह शीघ्र ही पापों का नाशकर मुक्ति प्राप्त करता है।

इसप्रकार मुनिधर्म का वर्णन करने के पश्चात् श्रावकधर्म का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं कि श्रावकों को पहले निरतिचार निश्चल सम्यक्त्व को ग्रहण करके उसका ध्यान करना चाहिये; क्योंकि जो दर्शन से शुद्ध है, वही शुद्ध है। अतीत में जो सिद्ध हुये

---

[1] मोक्षपाहुड, गाथा ७८

[2] अंडज, कर्पासज, वल्कल, चर्मज, रोमज।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं अनागत काल में जो सिद्ध होंगे, वे सम्यक्त्व के ही कारण हुये हैं और होंगे।

जो हिंसारहित धर्म, अठारह दोषरहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन और गुरु में श्रद्धान करता है, उसे सम्यक्त्व होता है।[1] जो कुत्सित देव-धर्म-गुरु की लज्जा, गारव या भय से भी वंदना करता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

संक्षेप में जो सच्चे देव द्वारा कहे गये धर्म का पालन करता है, वह सम्यग्दृष्टि है और जो सच्चे धर्म का पालन नहीं करता, वह मिथ्यादृष्टि है।[2] मिथ्यादृष्टि जीव जन्म-जरा-मरण से युक्त दुःखमय संसार में भ्रमण करता है; अतः मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व को ग्रहण करना चाहिये।

जीव जबतक मिथ्यात्व को नहीं छोड़ता, तबतक बाह्य में निर्ग्रन्थ भी हो जाय, तपश्चरण करे, शास्त्रों का अध्ययन करे, तो भी निष्फल ही है, क्योंकि आत्मस्वभाव के विपरीत है।

जो साधु संसार, विषय-भोग और परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर, हेय-उपादेय तत्त्वों का निश्चय कर निजात्मस्वभाव को उपादेय मानकर उसी का ध्यान करे तो वह शीघ्र ही अतीन्द्रिय, अविनाशी सुख को प्राप्त करता है। पंचपरमेष्ठी भी आत्मा में ही रत हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, अतः एक आत्मा ही शरण है, क्योंकि इसी से परमपद की प्राप्ति होती है।

७. लिंगपाहुड

बाईस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में श्रमण चर्या में समागत विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है, उनसे बचने की प्रेरणा दी गई है।

आचार्यदेव कहते हैं कि धर्मात्मा के नग्न वेष तो होता है; पर नग्न वेष धारण कर लेने मात्र से कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता है। धर्मसहित लिंग धारण करने से ही सिद्धि होती है, मात्र लिंग धारण करने से नहीं।

---

[1] यह व्यवहारनय की अपेक्षा है, निश्चयनय की अपेक्षा पहले वर्णन किया है।

[2] मोक्षपाहुड, गाथा ९४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो व्यक्ति मुनिवेष तो धारण कर लेते हैं; पर मोहवश गाने, बजाने, नाचने में प्रवृत्त होते हैं, गर्वित होते हैं, अब्रह्म का सेवन करते हैं, परिग्रह जोड़ते हैं, विवाहादि कार्य करवाते हैं, ईर्ष्या करते हैं, आहारादि के लिये दौड़ते हैं, भोजन में आसक्त होते हैं, दान लेते हैं, निन्दा करते हैं, ईर्यासमितिपूर्वक नहीं चलते, स्त्रियों से अनुराग करते हैं; वे सभी भ्रष्ट हैं। जो मुनि व्यभिचारी स्त्री के यहाँ भोजन करते हैं, उसकी प्रशंसा करते हैं, वे मुनि तो क्या, मनुष्य भी नहीं हैं, पशुतुल्य हैं। वे सभी अपना भव बिगाड़नेवाले नरकादि के पात्र हैं।

ऐसे वेषधारी मुनि यदि बहुत शास्त्रों के ज्ञाता भी हों, सच्चे भावलिंगी मुनियों के साथ भी रहें; तो भी भाव से नष्ट ही हैं, वास्तविक मुनि नहीं हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र से भ्रष्ट होने से वे मुक्ति के पात्र नहीं।

इस बात को अच्छी तरह समझकर जो वास्तविक धर्म को साधते हैं, यत्नपूर्वक धारण करते हैं, वे उत्तम स्थान (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं।

८. शीलपाहुड

चालीस गाथाओं में निबद्ध इस पाहुड में शील की महिमा का विशेष वर्णन है।

शील स्वभाव को कहते हैं। आत्मा का स्वभाव ज्ञान-दर्शनमयी चेतनास्वरूप है। यह आत्मा अनादि कर्म के संयोग से विभावरूप परिणमता है, मिथ्यात्व, राग, द्वेषरूप परिणाम करता है। यह परिणमन कुशील[1] है। इसका अभाव होने पर सम्यग्दर्शनरूप भाव से ज्ञान भी सम्यक् होता है और पद के अनुसार जितने अंश में राग-द्वेष घटता है, उतने अंश में चारित्र होता है। वह ज्ञान व चरित्र का सम्यक् परिणमन ही सुशील है।

---

[1] ज्ञान में शील न आवे तो इन्द्रियों के विषयों से आसक्ति होती है, ज्ञान को इन्द्रियों के विषय नष्ट करते हैं, ज्ञान को अज्ञान करते हैं, तब वह कुशील नाम पाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव जबतक विषयों में प्रवर्तता है, तबतक ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जानता; अतः विषयों का त्याग ही सुशील है। जब जीव ज्ञानस्वभावी आत्मा को जानकर विषयों से विरक्त हो, तभी कर्मों का नाश होता है। ज्ञानस्वभावी आत्मा को न जाने, पर विषयों से विरक्त भी हो, तो भी कर्मों का नाश नहीं होता अथवा ज्ञानस्वभावी आत्मा को जाने और विषयों से विरक्त न हो तो भी कर्मों का नाश नहीं होता।

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, परन्तु वह मिथ्यात्व और विषयों (असंयम) से मलिन है; अतः ज्ञान को जानकर विषयों से विरक्त होकर ज्ञान की भावना करे, एकाग्रता से ध्यान करे तो कर्मों का नाश होता है एवं अनन्त चतुष्टय प्राप्त करके मुक्त होकर शुद्धात्मा होता है।

जो बहुत शास्त्रों को जानते हैं; पर कुमत और कुशास्त्र की प्रशंसा करते हैं एवं विषयों में ही आसक्त हैं; वे शील और ज्ञानरहित हैं। जो लोक में सब सामग्री से न्यून हैं; परन्तु जिनका स्वभाव उत्तम है और जो विषय-कषायों में आसक्त नहीं हैं; वे शीलगुण से मंडित हैं और उनका ही जीवन सफल है।

जीवदया, इन्द्रियों का दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप – सभी शील का परिवार है।[1]

शील ही विशुद्ध निर्मल तप है, शील ही दर्शन की शुद्धता है, शील ही ज्ञान की शुद्धता है, शील ही विषयों का शत्रु है और शील ही मोक्ष की सीढ़ी है।

विषयसेवनरूपी विष समस्त विषों में तीव्र – सर्वाधिक हानिकारक है; क्योंकि विष की वेदना से नष्ट जीव तो एक जन्म में ही मरता है, परन्तु विषयरूपी विष से नष्ट जीव बार-बार संसाररूपी वन में भ्रमण करते हैं।

इन विषयों को छोड़ने से कुछ भी हानि नहीं है। जैसे तुषों के उड़ाने से मनुष्य का कुछ द्रव्य नहीं जाता है, वैसे ही तपस्वी और शीलवान पुरुष विषयों को खल अर्थात् तुष की तरह दूर फेंक देते हैं।

[1] शीलपाहुड, गाथा १९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषयों में रमकर स्वयं ने ही जो कर्मों की गाँठ बाँधी है, उसको उत्तम पुरुष तप-संयम-शील के द्वारा छेदते हैं, खोलते हैं।

जैसे समुद्र रत्नों से भरा है तो भी जलसहित शोभा पाता है, वैसे ही यह आत्मा तप, विनय, शील, दान आदि रत्नों में शीलसहित शोभा पाता है।

इसप्रकार अनेक गाथाओं में अनेक उदाहरण देते हुए यही सिद्ध किया है कि शील से निर्वाण की प्राप्ति होती है और कुशील से तीव्र दुःखों की प्राप्ति होती है। शील से तीव्र दुःख भी समाप्त हो जाते हैं एवं समय पाकर सुख की प्राप्ति होती है।

लोक में भी शीलसहित व्यक्ति की प्रशंसा होती है, अतः शील को ही अंगीकार करना चाहिये; क्योंकि शील के बिना तो ज्ञान भी अज्ञान नाम पाता है और शीलसहित सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, जिससे संसार की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

□

इसप्रकार हम देखते हैं कि जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक ग्रन्थाधिराज 'समयसार' आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वश्रेष्ठ रचना है, जो विगत दो हजार वर्षों से जैन सन्तों का मार्गदर्शन करती आ रही है। इसमें शुद्धनय से नव तत्त्वार्थों का प्रतिपादन है। इसे हम जैनदर्शन की 'गीता' कह सकते हैं।

'प्रवचनसार' कुन्दकुन्द की दूसरी प्रौढ़तम रचना है, जिसमें वस्तु के मूलस्वरूप का प्रतिपादन किया गया है और जो दार्शनिकों के अध्ययन की मूलवस्तु है। इसमें जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुस्वरूप का सशक्त प्रतिपादन है।

'पंचास्तिकायसंग्रह' कुन्दकुन्द की वह सरलतम कृति है, जो जन-साधारण को जैनतत्त्वज्ञान कराने के लिये अत्यन्त उपयोगी है। इसमें सरल और सुबोध भाषा में षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, नवपदार्थों एवं रत्नत्रयरूप मुक्तिमार्ग का प्रतिपादन है।

'नियमसार' कुन्दकुन्द की वह भावनाप्रधान रचना है, जिसे उन्होंने स्वयं के प्रतिदिन के स्वाध्याय के लिये – पाठ के लिये बनाया था। यह परमाध्यात्म से सराबोर कृति है। इसकी एक-एक गाथा जगतप्रपंचों से हटकर आत्महित में लगने की प्रेरणा देती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अष्टपाहुड' आचार्य कुन्दकुन्द की प्रशासनिक कृति – आचार संहिता है। इसमें वे शिथिलाचार के विरुद्ध एकदम कठोर प्रशासक के रूप में उपस्थित हुये हैं। आज भी साधुओं में व्याप्त शिथिलाचार की आलोचना जब भी होती है, तब इसी ग्रन्थ की गाथाओं को उद्धृत किया जाता है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों में सब-कुछ समा गया है। इसमें अध्यात्म है, दर्शन है, सिद्धान्त है, आचार है, व्यवहार है, सभी कुछ है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तृतीय अध्याय

आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकारों का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य अमृतचंद-कृत टीकाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के समर्थ टीकाकार, आत्मरस में निमग्न, परम आध्यात्मिक संत आचार्य अमृतचन्द्र न केवल सफल टीकाकार ही हैं, अपितु रससिद्ध कवि एवं मौलिक ग्रन्थों के प्रणेता भी हैं। आप केवल अध्यात्मवेत्ता ही नहीं थे, न्याय-व्याकरण में भी आपकी सूक्ष्म पकड़ थी। बहुमुखी प्रतिभा के धनी अमृतचन्द्र का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। अध्यात्म रस से ओत-प्रोत आपकी रचनायें संस्कृत भाषा की बेजोड़ रचनायें हैं।

गद्य और पद्य दोनों पर ही आपका समान अधिकार था; अतः गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की रचनाओं में आपकी भाषा भावानुवर्तिनी व सहज बोधगम्य है। आपके द्वारा रचित टीकायें पद्यमिश्रित गद्य में और मौलिक ग्रन्थ पद्य में हैं। टीका ग्रन्थों में आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थ 'समयसार', 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकायसंग्रह' पर लिखी गई अत्यन्त गम्भीर मार्मिक टीकायें हैं, जिनके नाम क्रमशः 'आत्मख्याति', 'तत्त्वदीपिका' और 'समयव्याख्या' है।

आचार्य अमृतचन्द्र मुख्यरूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। विचार उनकी अनुभूति का अंग है, लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हें तर्क से विरत नहीं करती। वे जिस बात पर विचार करते हैं, तर्क उसकी पहली सीढ़ी है। उनके चिन्तन में तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है। उन्होंने अनुभूति और तर्क के साथ-साथ आगम प्रमाण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। उक्त संदर्भ में कतिपय अंश द्रष्टव्य हैं :–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीरादि-मूर्तकार्यानुमेयं च ।[१]"

इस अंश में नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता को आगम व अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध किया है ।

"यत: एतेऽध्यवसानादय: समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्व-साक्षिभिरर्हद्भि: पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ता: संतश्चैतन्य-शून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिन: परमार्थवादिन: । 'एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागम: । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्ति: । न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषित-मध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अति-रिक्तत्वेनान्यस्य चितस्वभावस्यविवेचकै: स्वयमुपलभ्यमानत्वात् ।[२]"

प्रस्तुत अंश में अध्यवसानादि भाव ही जीव हैं – इस पक्ष को आगम, युक्ति व स्वानुभव से बाधित सिद्ध किया गया है ।

इसप्रकार प्रत्यक्ष, तर्क, आगम सभी का उचित सम्मिलन इनकी टीकाओं में विद्यमान है । आपकी शैली में तर्क-वितर्क को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है ।

अव्याप्ति, अतिव्याप्ति आदि दोषों के परिहार द्वारा लक्षणों की निर्दोषता-सिद्धि से आपके न्यायशास्त्र के ज्ञान का ज्ञान होता है ।

विषयवस्तु की आवश्यकतानुसार न्याय के पारिभाषिक शब्दों की परिभाषायें व भेद-प्रभेद भी आपने दिये हैं ।

"कारणानुविधायीनि कार्याणीति[३]", "हेतुप्रतिषेधेनैव हेतु-मत्प्रतिषेधात्[४]" आदि न्यायोक्तियों का प्रयोग भी आप यथास्थान करते हैं ।

---

[१] आत्मख्याति, समयसार गाथा ६५-६६ की टीका

[२] आत्मख्याति, समयसार गाथा ४४ की टीका

[३] आत्मख्याति, समयसार गाथा ६८ की टीका

[४] आत्मख्याति, समयसार गाथा २६५ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न्याय के पंचायवव वाक्यों का प्रयोग 'आत्मख्याति' में सर्वत्र ही छाया हुआ है। उदाहरण के रूप में निम्नांश द्रष्टव्य है :-

"येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते। तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वंतराभावात्। यथा देवदत्तस्य कस्यचित् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वंतरम्। तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वंतरम्। तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते।[1]"

उक्त अंश में दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों एक आत्मा ही है – इसे प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय व निगमनरूप पंचावयवों द्वारा सिद्ध किया गया है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि आपकी शैली में समुचित तर्कों को सर्वत्र यथायोग्य स्थान प्राप्त है।

आपकी गद्य-शैली सरल तो नहीं कही जा सकती, पर वह जटिल भी नहीं है; क्योंकि उसमें विषयानुगामी तरल प्रवाह है, भाषा भी भावानुगामिनी है। यद्यपि सहज सरलता उसमें नहीं पाई जाती, तथापि उसमें दुरूहता भी नहीं है। जैसे :-

"ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिध्येत्। किं च यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानम्? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं किम् वास्रवेभ्यो निवृत्तम्? आस्रवेषु प्रवत्तं चेत्तदापि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः। इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः। यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः।[2]"

---

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा १६ की टीका

[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७२ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार इनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से दबा है, न समासों के प्रहार से प्रताड़ित; न ही अलंकार-बाहुल्य से आक्रान्त है। जैसे :-

"इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बन्धनिमित्ताः, यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः। यतरे बंधनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः, यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः। अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः, नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात्।[1]"

समस्त पदों के प्रयोग में तो आप प्रवीण हैं ही; पर आपने लघुतर वाक्यों का प्रयोग भी किया है, जिससे भाषा प्रभावोत्पादक हो गई है। उदाहरण के लिये :-

"अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं संपद्यंत एव, अमीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबंधमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्व-द्योतिना भूतार्थनयेनैकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्या-त्मनोऽनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः संपद्यमानत्वात्। तत्र विकार्य-विकारकोभयं पुण्यं तथा पापम्, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बंध्यबंधकोभयं बंधः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः, स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जरा-बंधमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति।[2]"

एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना में भी आप सिद्धहस्त हैं। निम्नांश उनकी इस शैली का ज्वलंत उदाहरण है :-

"यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतल-विन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्यं च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रंज्योतिः, समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्रा-

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा २१७ की टीका

[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा १३ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कारेणाभिद्यमानत्वादेक:,नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवर-निर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टंकोत्कीर्णैकज्ञायकस्व-भावभावेनात्यंतविविक्तत्वाच्छुद्ध:, चिन्मात्रतया सामान्यविशेषो-पयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शनज्ञानमय:, स्पर्शरसगंधवर्णनिमित्त-संवेदनपरिणतत्वेपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थत: सदैवारूपी, इति प्रत्यगयं स्वरूपं संचेतयमान: प्रतपामि ।[1]"

इसी कुशलता से अनेक क्रियाओं वाले छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग भी आपने किया है । जैसे :–

"ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम् । तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्ति:, नश्यति भ्रान्ति:, भवत्यात्मलाभ:, सिध्यत्यनात्मपरिहार:, न कर्म मूर्छंति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुन: कर्म आस्रवति, न पुन: कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ।[2]"

इसप्रकार हम देखते हैं कि आपने वर्ण्य-विषय की स्थिति के अनुकूल दीर्घकाय और लघुकाय वाक्यों का प्रयोग किया है ।

इनका वर्णन-प्रवाह विषयान्तरों से आक्रान्त नहीं है । शरीरा-नुसार अवयव-कल्पना अर्थात् सानुपातिक अंगोपचय शैली की नींव होती है – इस तथ्य का आपने अपनी टीकाओं में पूर्ण ध्यान रखा है । यथास्थान विषय की स्पष्टता के अनुरोध से ही विषय-विस्तार किया गया है, अनावश्यक विस्तार कहीं भी देखने को नहीं मिलता ।

आपने अपनी टीका में मूल गाथा में आये पारिभाषिक शब्दों की परिभाषायें दी हैं एवं उनके भेद-प्रभेदों को भी समझाया है,[3] जो कि मूलत: पठनीय है ।

प्रकरण एवं गाथा के अनुसार पदों की व्युत्पत्तियाँ दी हैं । जैसे :–

"समयत एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति चेति निरुक्ते: ।[4]"

---

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा ३८ की टीका

[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा २०४ की टीका

[3] आत्मख्याति, समयसार गाथा ५१ से ५५, ७१, २७१, २७२, ३८७ से ३८९ तक की टीका

[4] आत्मख्याति, समयसार गाथा २ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

"समंयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः।[4]

उक्तांशों में 'समय' पद की विभिन्न संदर्भ में भिन्न-भिन्न व्युत्पत्तियाँ दी गई हैं।

आपने अपनी टीका में बीच-बीच में 'आस्तां तावत्',[1] 'गत्यंतराभावात्',[2] 'इति समस्तमेव निरवद्यम्'[3] आदि छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया है, जिससे टीका प्रभावशाली एवं प्रभावमयी हो गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र अपने आस-पास के वातावरण, पाठकों की बौद्धिक क्षमता और विषय की निस्सीमता से परिचित हैं; इसीलिये वे विषय को पाठक के सामने यथासंभव उदाहरणमयी भाषा में प्रस्तुत करते हैं। जैसे :–

"न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शक्यं, अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात्, सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्। तथाहि – मृत्तिका कुंभभावेनोत्पद्यमाना किं कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते, किं मृत्तिकास्वभावेन? यदि कुंभकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुंभकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुंभः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यांतरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुंभकारस्वभावेन नोत्पद्यते, किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात्। एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुंभकारः कुंभस्योत्पादक एव; मृत्तिकैव कुंभकारस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन कुंभभावेनोत्पद्यते। एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यांतरस्वभावेनोत्पद्यंते, किं स्वस्वभावेन? यदि निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्। न च तथास्ति, द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात्। यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्प-

---

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा ३ की टीका

[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७ की टीका

[3] आत्मख्याति, समयसार गाथा ९-१० की टीका

[4] आत्मख्याति, समयसार गाथा १३ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्यन्ते, किन्तु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति सर्वद्रव्याणां स्वस्वभावानतिक्रमान्न निमित्त-भूतद्रव्यांतराणि स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव; सर्वद्रव्याण्येव निमित्त-भूतद्रव्यांतरस्वभावमस्पृशंती स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते । अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।[1]"

उक्त अंश में 'परद्रव्य जीव में रागादि उत्पन्न नहीं करते हैं' – इस बात को 'कुंभकार घड़े का उत्पादक नहीं है' – इस उदाहरण द्वारा विस्तार से स्पष्ट किया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र भिन्न-भिन्न विषय को स्पष्ट करने के लिये भिन्न-भिन्न उदाहरण देते हैं । जैसे :–

"या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सः शुद्धनयः, सा त्वनुभूतिरात्मैव । इत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनाम-भूतार्थत्वात् । तथा हि – यथा खलु बिसनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्ये-कांततः सलिलास्पृश्यं बिसनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायाम-भूतार्थम् । तथात्मनोऽनादिबद्धस्य बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकांततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानु-भूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपाला-दिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनो नारका-दिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलंतमेक-मात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।[2]"

उक्त अंश में गाथा में आये अबद्धस्पृष्ट एवं अनन्य को दो भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है । इसीप्रकार नियत, अविशेष व असंयुक्त को भी भिन्न-भिन्न उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है, जो कि मूलतः पठनीय है ।

---

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा ३७२ की टीका

[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा १४ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0-In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन अशक्य है – इस विषय को उदाहरण द्वारा आप निम्नप्रकार स्पष्ट करते हैं :–

'यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसंबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासंबंधैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव। तथा किल लोकोप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदातःसुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत्प्रतिपद्यत एव। एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयः, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः।'[1]

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र उदाहरण को सिद्धान्त पर सर्वांग भी घटित करते हैं। आपकी टीकाओं में मूल ग्रन्थकार के उदाहरणों को भी सर्वांग घटित कर अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है, जिससे विषयवस्तु हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाती है। उदाहरण के तौर पर 'समयसार' गाथा ३५६ की टीका द्रष्टव्य है। मूल गाथा इसप्रकार है :–

"जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होदि।
तह जाणगो दु ण परस्स जाणगो जाणगो सो दु॥

जिसप्रकार सेटिका पर की नहीं है, वह तो सेटिका ही है, उसीप्रकार ज्ञायक पर का नहीं है, ज्ञायक तो ज्ञायक ही है।'

उक्त उदाहरण को आप निम्नप्रकार सर्वांग घटित करते हैं :–

"सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादिपरद्रव्यम्। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य

---

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा ८ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते :– यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति, यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवंती कुड्यादिरेव भवेत्; एवं सति सेटिकाया: स्वद्रव्योच्छेद:। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेद:। ततो न भवति सेटिका कुड्यादे:। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतराऽन्या सेटिका सेटिकाया: यस्या: सेंटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकाया:, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यो। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंश-व्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चय:। यथायं दृष्टांतस्तथायं दार्ष्टांतिक: — चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यम्। तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि-परद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादे: परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते — यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबंधे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्; एवं सति चेतयितु: स्वद्रव्योच्छेद:। न च द्रव्यांतरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेद:। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादे:। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितु:, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंश-व्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायक:, ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चय:।[1]"

इन बड़े-बड़े उदाहरणों के अतिरिक्त "जस्ले जंबालवत्,[2]" "समुद्रावर्त इव[3]", "जतुपादपवत्[4]", "घटमृत्तिकयोरिव[5]", "औष्ण्य-

[1] आत्मख्याति, समयसार गाथा ३५६ की टीका
[2] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७२ की टीका
[3] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७३ की टीका
[4] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७४ की टीका
[5] आत्मख्याति, समयसार गाथा ७५ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणताय:पिण्डवत्[१]", "जपातापिच्छरागपरिणतस्फटिकवत्[२]", "खरश्रृंगकल्पत्वाद्[३]", "शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव[४]", "काकाक्षितारकवत्[५]" इत्यादि छोटे-छोटे उदाहरणों द्वारा भी विषय को स्पष्ट किया गया है।

इसप्रकार उदाहरणों द्वारा विवेचित विषय को पाठक सहज ही हृदयंगम कर लेता है।

प्रस्तुतीकरण जिज्ञासोत्पादक है। समयसार की 'आत्मख्याति' टीका नाटक के रूप में लिखी गई है; अतः इस टीका में मूल गाथाओं का विभाजन पूर्वरंग व अंकों में किया गया है। जीव-अजीवादि को पात्रों के रूप में प्रस्तुत किया है, जो कि विविध रूप धारण कर दर्शकों के सामने आते हैं एवं यथार्थ का ज्ञान होने पर पना स्वाँग छोड़कर चले जाते हैं। इस टीका में ज्ञान को धीरोदात्त नायक के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रत्येक अंक के प्रारंभ में ज्ञान की महिमासूचक कलश हैं एवं अन्त में ज्ञान की विजय बताई गई है।

'प्रवचनसार' की 'तत्त्वदीपिका' टीका में समस्त पदों का प्रयोग प्रचुरता से किया गया है। इस टीका में छोटे-छोटे उदाहरणों का बाहुल्य है, जिन्होंने मालोपमा का रूप धारण कर लिया है। जैसे :-

"येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुखम्, किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतंगस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरंगस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः।[१]"

उक्तांश में पाँचों इन्द्रियों के उदाहरण संक्षेप में दिये गये हैं।

---

[१] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ८ की टीका

[२] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ९ की टीका

[३] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा १० की टीका

[४] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ११ की टीका

[५] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ५९ की टीका

[६] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ६४ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'पंचास्तिकायसंग्रह' की 'समयव्याख्या' टीका उक्त दोनों टीकाओं की अपेक्षा सरल है। इसमें पदखण्डान्वय दिया गया है। इस टीका में आपने पीठिका, चूलिका आदि में गाथाओं का विभाजन किया है। इस टीका के आधार पर ही जयसेनीय टीकायें लिखी गई हैं। पद्मप्रभमलधारिदेव ने भी इसी की शैली का अनुकरण किया है।

आपने अपनी तीनों ही टीकाओं के अन्त में तत्संबंधित विषयों को परिशिष्ट के रूप में दिया है। 'आत्मख्याति' में स्याद्वाद एवं ४७ शक्तियों का, 'तत्त्वदीपिका' में ४७ नयों का एवं 'समयव्याख्या' में व्यवहाराभासी व निश्चयाभासी का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है, जो कि एकदम मौलिक है। अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है एवं मूलतः पठनीय है।

आपकी टीकाओं में प्रधानता तो गद्य की ही है, पर साथ ही साथ पद्य भी उपलब्ध होते हैं। 'समयसार' की टीका 'आत्मख्याति' का पद्यभाग तो इतना विशाल एवं महत्त्वपूर्ण है कि उसे अलग एकत्रित करके 'समयसार कलश' व 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नाम से अभिहित किया जाता है।

इस पर स्वतंत्ररूप से संस्कृत व हिन्दी में टीकायें भी लिखी गई हैं, जिनमें शुभचन्द्रजी की संस्कृत टीका एवं पांडे राजमलजी की हिन्दी टीका प्रसिद्ध है।

इन कलशकाव्यों के बारे में 'परमाध्यात्मतरंगिणी' की प्रस्तावना में कहा गया है :–

"जिसप्रकार विशाल मन्दिर की बिना कलशों के शोभा नहीं होती, उसीप्रकार 'समयसार' व 'आत्मख्याति' की शोभा भी इन कलशों के बिना नहीं हो सकती; अतः इसका नाम 'समयसार कलश' उपयुक्त ही है। तथा 'समयसार' को पढ़ लेने पर भी जबतक इन कलशों को नहीं पढ़े, तबतक पूर्णरूप से आत्मा आत्मिक अनुपम आनन्द का अनुभव नहीं कर सकता; अतः 'परमाध्यात्मतरंगिणी' –यह नाम सार्थक है।"

टीकाग्रन्थों में विषयवस्तु की गहनता, सूक्ष्मता और महत्त्व को देखते हुए टीका के मध्य में दिये गये पद्यों की भाषा सरस, सरल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं हृदयग्राही है। इन पद्यों में अल्प शब्दों में अनल्प भावों की अभिव्यक्ति व अर्थ-स्पष्टता आपकी टीकाओं की अनुपम विशेषता है। उदाहरणार्थ :– 'समयव्याख्या' टीका में मंगलाचरण के साथ ही तीन श्लोकों द्वारा 'पंचास्तिकायसंग्रह' के प्रतिपाद्य को स्पष्ट कर दिया है, जो कि इसप्रकार है :–

"पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ॥ ४ ॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥ ५ ॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥ ६ ॥"

इसीप्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड और द्वितीय खण्ड की संधि स्पष्ट करते हुए प्रथम खण्ड के अन्त में और द्वितीय खण्ड के प्रारंभ में एक छन्द दिया है, जो इस प्रकार है :–

"द्रव्यस्वरूपप्रतिपादनेन शुद्धं बुधानामिह तत्त्वमुक्तम्।
पदार्थभंगेन कृतावतारं प्रकीर्त्यते संप्रति वर्त्म तस्य ॥ ७ ॥"

उक्त छोटे छन्द में दोनों खण्डों के प्रतिपाद्य विषय को तो स्पष्ट किया ही है, साथ ही दोनों के मूल प्रयोजन को भी स्पष्ट कर दिया गया है।

आचार्य महोदय जिसे महत्त्व देना चाहते हैं, जो विषय उनकी दृष्टि में मुख्य है, उसकी व्याख्या करते समय स्वयं के भी मौलिक विचार गद्य के साथ-साथ पद्यों में भी प्रस्तुत कर देते हैं।

गद्य टीका के मध्य पद्यों के देने में आप किसी लीक पर नहीं चलते हैं। विषयवस्तु की आवश्यकतानुसार जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ, वहाँ अनेक छन्द दे दिये गये हैं तो कहीं अनेक गाथाओं की टीका में एक भी छन्द नहीं दिया गया है। जैसे :– 'समयसार' की ८०वीं गाथा से ८५वीं गाथा तक एक भी छन्द नहीं है, तो ८६वीं गाथा के बाद ६ छन्द दिये गये हैं, पुनश्च ८७ से ९६ तक एक भी छन्द नहीं है और ९७वीं के बाद पुनः ६ छन्द हैं, ३८९वीं गाथा के बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१० छन्द हैं। इसीप्रकार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। 'आत्मख्याति' में गाथाओं की टीका करने के पश्चात् आपने ३२ छन्दों में स्याद्वाद व साध्यसाधक के बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

टीकाग्रन्थों में पद्यों की सर्वाधिक संख्या 'आत्मख्याति' में है। इसमें २७८ पद्य हैं, जो कि उनके मौलिक ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से भी ५२ अधिक हैं।

'तत्त्वदीपिका' में कुल २२ पद्य हैं, जो प्रायः अध्याय के आदि और अन्त में ही दिये गये हैं; परन्तु कुछ अपवाद भी हैं। जैसे :- 'चरणानुयोगसूचक चूलिका' के 'आचरणप्रज्ञापन' में एक छन्द प्रारंभ में व एक मध्य में भी है। 'मोक्षमार्गप्रज्ञापन' में छन्द एकदम अन्त में न देकर एक-दो गाथा के पूर्व में ही दे दिये हैं। इसीप्रकार 'पंचरत्न-प्रज्ञापन' में प्रारंभ में एक छन्द दिया है, पर अन्त में नहीं।

इसप्रकार पद्य देने के क्रम में ही नहीं, पद्यों की संख्या में भी अंतर है। कहीं ४-५ पद्य एकसाथ दिये हैं तो कहीं एक ही दिया गया है। जैसे :- 'तत्त्वदीपिका' के 'ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन' के अन्त में २ पद्य हैं, तो 'ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन' के अन्त में ३, परिशिष्ट में ४ पद्य दिये हैं और 'पंचरत्नप्रज्ञापन' में दिया ही नहीं है।

'समयव्याख्या' में कुल ८ पद्य हैं, जिनमें ६ तो प्रारंभ में व १ ग्रन्थ के अन्त में है तथा १ पद्य 'मोक्षमार्गप्रपंचवर्णन' के प्रारंभ में है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने मात्र मूल ग्रन्थों की टीका ही नहीं की, वरन् उनमें आपका मौलिक चिन्तन भी समाविष्ट है, जिसमें आप एक स्वतंत्र विचारक के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र छन्दों के प्रयोग में प्रवीण हैं। विषय व वर्णन के अनुसार अनुकूल छन्दों का प्रयोग किया गया है। छन्दों की योजना स्थल, वस्तु, विषय, भावना और विचार पर अवलम्बित है। जिसप्रकार संगीत में समय, भाव और विषय के अनुसार रागयोजना होती है, उसीप्रकार उत्पाद्य रस के अनुसार छन्दों का अनुरूप विधान रोचक होता है। अनुकूल छन्दों के सन्निवेश से सौन्दर्य, माधुर्य और रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य अमृतचन्द्र रसानुकूल छन्दों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के सन्निवेश में पारंगत हैं; इसीलिये अप्रचलित, अव्यवहृत छन्दों का सन्निवेश भी आपकी कृतियों में हुआ हैं। भावानुसार छन्दों की प्रयोग-सामर्थ्य ने ही १६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग आपकी कृतियों में करा दिया है।

जहाँ आपने भावानुसार छन्दों का संयोजन किया है, वहीं छन्दानुसार शब्दों के चयन का भी पूरा-पूरा ध्यान रखा है। इन दोनों के सम्मिलन से भाषा प्रवाहमयी होने के साथ-साथ प्रभावशाली भी हो गयी है। ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण के लिये क्रमशः शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका और मन्दाक्रान्ता छन्दों का प्रयोग किया गया है।

टीकाग्रन्थों में विद्यमान पद्यों में दीर्घकाय शार्दूलविक्रीडित छन्द की प्रधानता है। उदाहरण के तौर पर 'आत्मख्याति' के २७८ छन्दों में ७० शार्दूलविक्रीडित हैं व शेष में १८ प्रकार के छन्द प्रयुक्त हैं। 'तत्त्वदीपिका' के २२ पद्यों में ६ शार्दूलविक्रीडित हैं।

'आत्मख्याति' में संख्या की दृष्टि से द्वितीय स्थान अनुष्टुभ् को प्राप्त है, इसमें ४८ छन्द अनुष्टुभ् हैं। समयव्याख्या में तो ८ छन्दों में ६ छन्द अनुष्टुभ् हैं एवं 'तत्त्वदीपिका' में ३ अनुष्टुभ् हैं। मंगला-चरण तो सभी टीकाग्रन्थों का अनुष्टुभ् में ही है।

'समयव्याख्या' में शेष २ पद्य उपजाति हैं। 'आत्मख्याति' में ३५ पद्यों में निबद्ध हो उपजाति छन्द तृतीय स्थान पाने में कामयाब हो गया है, परन्तु 'तत्त्वदीपिका' को यह छन्द स्पर्श नहीं कर सका है।

'तत्त्वदीपिका' के शेष १३ छन्दों में ३-३ छन्द वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता और शालिनी हैं एवं एक-एक छन्द मालिनी, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा और आर्या हैं।

'आत्मख्याति' के शेष १२६ पद्यों में १६ छन्दों का प्रयोग किया गया है। संख्यानुसार छन्दों का नाम क्रमशः इसप्रकार है :—

वसन्ततिलका २६, मालिनी २५, मन्दाक्रान्ता १६, आर्या १२, स्वागता ८, पृथ्वी ६, रथोद्धता ७, शिखरिणी ४, शालिनी ४, स्रग्धरा ३, द्रुतविलम्बित ३, इन्द्रवज्रा ३, उपेन्द्रवज्रा १, वंशस्थ १, वियोगिनी १, नर्दटक १।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार स्पष्ट है कि उन्होंने 'आत्मख्याति' में ही १९ प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। शेष टीकाओं में प्रयुक्त छन्द इन्हीं १९ छन्दों में समाहित हो जाते हैं। आपके द्वारा टीकाग्रन्थों में लिखित १९ छन्दों की कुल संख्या निम्नप्रकार है :–

शार्दूलविक्रीडित ७६, अनुष्टुभ् ५७, उपजाति ३७, वसन्ततिलका २९, मालिनी २५, मन्दाक्रान्ता २२, आर्या १३, पृथ्वी ९, स्वागता ८, रथोद्धता ७, शालिनी ७, स्रग्धरा ४, शिखरिणी ४, द्रुतविलम्बित ३, इन्द्रवज्रा ३, उपेन्द्रवज्रा १, वंशस्थ १, वियोगिनी १ और नर्दटक १।

इसप्रकार टीकाग्रन्थों में कुल ३०८ पद्य लिखे गये हैं।

इसके अतिरिक्त मौलिक ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में २२६ पद्य, 'लघुतत्त्वस्फोट' में ६२५ पद्य एवं 'तत्त्वार्थसार' में ७१८ पद्य लिखे गये हैं।

उक्त १९ छन्दों में स्वागता और नर्दटक अप्रचलित छन्द हैं। नर्दटक १७ वर्णों का छन्द है, जो कि 'आत्मख्याति' के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में प्रयुक्त है :–

"ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत् ।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥[1]"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ आपका मन शार्दूलविक्रीडित जैसे विशालकाय छन्दों में रमा है, वहाँ ही अनुष्टुभ् और आर्या जैसे लघुकाय छन्दों का भी आपने खुलकर प्रयोग किया है। छन्दों के दोनों रूपों के प्रयोग में आप सिद्धहस्त हैं। विषय की गम्भीरता को दृष्टि में रखकर आपने छन्दों का चयन किया है। सर्वत्र छन्दविधान रसानुकूल है।

अध्यात्मरस से ओत-प्रोत ग्रन्थों की टीका करने से अध्यात्म ही आपकी टीकाओं का मूल प्रतिपाद्य रहा है; अतः आपकी टीकाओं में शांतरस का ही प्रमुखरूप से परिपाक हुआ है; किन्तु इसके सहायक

---

[1] आत्मख्याति, कलश २११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के रूप में अन्य रसों को भी यथोचित स्थान प्राप्त है। द्वितीय स्थान वीररस को प्राप्त है, यत्र-तत्र अद्भुतरस के भी दर्शन होते हैं। श्रृंगार, हास्यादि रसों का अभाव-सा ही है।

अलंकारों के प्रयोग में भी आपने अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा का परिचय दिया है। आप आध्यात्मिक लेखक एवं विचारक थे, अत: काव्य-कौशल का प्रदर्शन आपको इष्ट न था, अपितु आपका मूल उद्देश्य अध्यात्म का प्रचार-प्रसार ही था; इसलिये आपके ग्रन्थों में काव्य को अलंकारों एवं शब्दाडम्बरों से बोझिल बनाने की प्रवृत्ति का अभाव ही है; तथापि आपकी कृतियों में अलंकारों का समावेश यथास्थान सहज ही हो गया है। अनुप्रास, उपमा, रूपक, व्यतिरेक – इन चारों का एक साथ प्रयोग शार्दूलविक्रीडित छन्द में उपनिबद्ध आत्मख्याति के २७६वें कलश में द्रष्टव्य है :–

"अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम्।
उदितममृतचंद्रज्योतिरेतत्समंता-
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम्॥"

प्रस्तुत पद्य में ज्ञान को अमृतचन्द्रज्योति कहा है, अत: लुप्तोपमा अलंकार है, क्योंकि 'अमृतचन्द्रवत् ज्योति' का समास करने पर 'वत्' का लोप होकर 'अमृतचन्द्रज्योति' रहा।

यदि 'वत्' का प्रयोग न कर "अमृतचंद्र रूप ज्योति" अर्थ किया जाय तो भेदरूपक अलंकार होता है और यदि 'अमृतचंद्रज्योति' ही आत्मा का नाम कहा जाय तो अभेदरूपक अलंकार होता है।

आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी यहाँ कहे गये विशेषणों के द्वारा आत्मा का चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी है; क्योंकि 'ध्वस्तमोह' विशेषण अज्ञानांधकार का दूर होना बतलाता है। 'विमलपूर्ण' विशेषण लांछनरहितता तथा पूर्णता बतलाता है। 'निःसपत्नस्वभाव' विशेषण राहुबिम्ब से तथा बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है तथा 'समंतात् ज्वलतु' सर्वक्षेत्र और सर्वकाल में प्रकाश करना बतलाता है। चन्द्रमा ऐसा नहीं है, अत: व्यतिरेक अलंकार भी हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनुप्रास तो स्पष्ट दिखाई देता ही है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अलंकारों का प्रयोग इतना सहज और स्वाभाविक रीति से किया गया है कि वे आपकी कृति के अलंकार हो गये हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य अमृतचन्द्र का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। आपकी प्रतिभा परिपक्व है और वर्णनशक्ति उससे कहीं बढ़कर। उनकी प्रतिभा का उन्मेष निराला और शास्त्रीय ज्ञान बढ़ा-चढ़ा है। आत्मानुभव व लौकिक अनुभवों के कारण उनकी बहुमुखी प्रतिभा मँज चुकी थी। जिन अध्यात्म व संस्कृत भाषा का आपको सूक्ष्म ज्ञान था। इन दोनों के मनोरम योग द्वारा आपकी कृतियाँ खिल उठी हैं। व्याकरण में तो आपकी पहुँच सहज ही है।

जिसप्रकार तात्त्विक क्षेत्र में आपकी दृष्टि भेदक है, उसीप्रकार काव्यशास्त्र के भी वे सूक्ष्म ज्ञाता हैं, इसीलिये तो अप्रचलित छन्दों का भी सहजरूप में प्रयोग हो गया है। वे लोक-संबंधी वार्ताओं के भी ज्ञाता हैं। उनकी कृतियों के प्रतिपाद्य विषयों द्वारा जहाँ उनके सैद्धान्तिक ज्ञान का ज्ञान होता है, वहाँ ही प्रतिपाद्य को समझाने के लिये दिये गये उदाहरणों द्वारा उनकी लौकिक अनुभव की विशालता व सूक्ष्मता भी हमारे समक्ष उपस्थित हो जाती है। उनकी प्रतिपादन शैली उनके अगाध पाण्डित्य का प्रमाण है।

आपके द्वारा रचित टीकाओं में आपकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखर विद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्यायपूर्वक सिद्ध करने की असाधारण शक्ति, जैनदर्शन का अत्यन्त गम्भीर ज्ञान, निश्चय-व्यवहार का संधिबद्ध निरूपण करने की विरल शक्ति और उत्तम काव्यशक्ति के दर्शन हस्तामलकवत् होते हैं। गम्भीर रहस्यों को अत्यन्त संक्षेप में भर देने की उनकी क्षमता विद्वानों को आश्चर्यान्वित कर देती है।

उनकी गति गद्य और पद्य दोनों में अबाध है। इनके गद्यांश व पद्यांश दोनों ही ललित एवं समानरूप से परिष्कृत हैं। भाषा और भाव, शब्द और अर्थ दोनों का उचित सम्मिलन आपके गद्य-पद्य दोनों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में हुआ है। दोनों का ही निबन्धन सचेत होकर किया गया है। कभी एक, कभी अनेक पद्यमिश्रित गद्य में लिखी गई उनकी टीकाओं में मणिकांचन संयोग दृष्टिगोचर होता है।

गद्य-पद्य-मिश्रित टीकाओं की शैली अत्यन्त सशक्त, विकसित एवं परिष्कृत है। वाक्यविन्यास आयासजन्य नहीं है। अर्थस्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्दविन्यासचारुता आपकी शैली के विशेष गुण हैं।

रसानुकूल विविध छन्दों के प्रयोग एवं सहज समागत अलंकारों के प्रयोग से भावपक्ष पूरी तरह उभरकर आया है। यद्यपि कलापक्ष किसी स्थिति में कमजोर नहीं है, तथापि वह भावपक्ष पर हावी नहीं हो पाया है।

सहज भावाभिव्यक्ति और अर्थ की स्पष्टता आपकी शैली की विशेषता है। आपकी कृतियों में संस्कृत काव्यशैली का चारुतम रूप प्रस्फुटित हुआ है।

आचार्य जयसेन-कृत टीकाओं का समालोचनात्मक अध्ययन

अमृतचन्द्र जैसे समर्थ आचार्य की सशक्त टीकाओं के होते हुये भी आचार्य कुन्दकुन्द के उन्हीं ग्रन्थों पर सरल-सुबोध टीकायें लिखकर आचार्य जयसेन ने अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

सहज हृदयंगम हो जानेवाली भाषा में लिखी गई 'समयसार', 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकायसंग्रह' की 'तात्पर्यवृत्ति' नामक जयसेनीय टीकाओं में निश्चय-व्यवहार का सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया गया है।

जिन-अध्यात्म के आप विशेष ज्ञाता थे और संस्कृत भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार था। न केवल संस्कृत भाषा पर ही, अपितु प्राकृत और उसके व्याकरण पर भी आपकी पकड़ मजबूत थी। प्राकृत गाथाओं में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों की व्याख्यायें अपवाद नियमों-सहित आप आवश्यकतानुसार यथास्थान करते चले गये हैं। उदाहरण के तौर पर समयसार गाथा ३ की टीका का निम्नांश द्रष्टव्य है :-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"विसंवादिणी विसंवादिनो कोर्थः विसंवादिणी विसंवादिनी-कथा प्राकृतलक्षणबलात् पुल्लिगे स्त्रीलिंगनिर्देशः ।"

उक्त अंश में पुल्लिग विसंवादिन् का स्त्रीलिंग में प्रयोग का औचित्य स्पष्ट किया है। इसीप्रकार अन्यत्र[1] भी विशिष्ट प्रयोगों के औचित्य पर आपने पर्याप्त प्रकाश डाला है, जो कि मूलतः द्रष्टव्य है।

संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार होने पर भी आपकी टीका की भाषा संधि-समासादि से रहित अत्यन्त सरल है। अपनी टीकाओं की भाषा के संबंध में उनका निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

"अत्र ग्रन्थे प्रचुरेण पदानां संधिर्न कृता वाक्यानि च भिन्न-भिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं। तेन कारणेन लिंग-वचन-क्रिया-कारक-संधि-समास-विशेष्य-विशेषण-वाक्यसमाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः। शुद्धात्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये पदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति।[2]"

पाठकों को सरलतापूर्वक ज्ञान हो सके, इसलिये इस ग्रन्थ में प्रायः पदों की संधि नहीं की है और वाक्य भी भिन्न-भिन्न रखे गये हैं; इसलिये विवेकीजनों को लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषण, वाक्यपरिसमाप्ति आदि दूषणों पर ध्यान नहीं देना चाहिये तथा शुद्धात्मतत्त्व के प्रतिपादन में अज्ञान से कुछ भूल हो गई हो तो उसे क्षमा कर देना चाहिये।

इसीप्रकार का भाव प्रकट करते हुए 'पंचास्तिकायसंग्रह' गाथा १ की टीका में आप कहते हैं –

"पदयोर्विवक्षितः सुविनसमासान्तरयोरिति परिभाषासूत्रबलेन विवक्षितस्य संधिर्भवतीति वचनात्प्राथमिकशिष्यप्रतिसुखबोधार्थमत्र ग्रंथे संधेर्नियमो नास्तीति सर्वत्र ज्ञातव्यं।"

---

[1] (अ) तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा १ की टीका
(ब) तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार गाथा १ की टीका
(स) तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ५६ की टीका

[2] 'समयसार' की तात्पर्यवृत्ति टीका के अन्त में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त कथनों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं की भाषा को प्रयत्नपूर्वक अतिसरल रखा है; क्योंकि वे अच्छी तरह जानते थे कि सरलतम भाषा के बिना कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को जन-जन की वस्तु बनाना संभव नहीं है।

जयसेनीय टीकायें नयोल्लेखपूर्वक, गुणस्थान परिपाटी से की गई पदखण्डान्वयी[1] टीकायें हैं। आपका पदखण्डान्वय भी अन्वय मात्र नहीं है, अपितु आपने इसे अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया है। कहीं आपने पदखण्डान्वय के साथ ही विषय स्पष्ट कर दिया है[2], तो कहीं पदखण्डान्वय देने के पश्चात् तद्यथा[3], तथाहि[4], अनेन किमुक्तं भवति[5] आदि पदों द्वारा बाद में विषय को समझाया है, तो कहीं प्रश्नोत्तर के रूप में पदखण्डान्वय[6] दिया है।

आचार्य जयसेन ने कुन्दकुन्द की गाथाओं को आवश्यकतानुसार महाधिकार, अधिकार, अंतराधिकार, विशेषांतराधिकार और स्थलों में विभक्त किया है। महाधिकार, अधिकार आदि की पातनिका में आपने संक्षेप में गाथासंख्या व वर्ण्यविषय बताया है। पातनिका तीन प्रकार से दी है :– सामान्यपातनिका, समुदायपातनिका और प्रश्नोत्तरपातनिका।

टीका के प्रारंभ में सामान्यपातनिका का लक्षण बताते हुए आप कहते हैं :–

---

[1] (अ) 'वंदित्तु' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।
– तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा १ की टीका

(ब) पणमामीत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।
– तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार गाथा १ की टीका

(स) णमो जिणाणमित्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते।
– तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १ की टीका

[2] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ४, ६, ७ की टीका

[3] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा २, ३, १६, २६, २६ की टीका

[4] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ८, १०, १४, १६, २०, ३६ की टीका

[5] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १, ११ की टीका

[6] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ५, ६ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अस्य सूत्रस्यानंतरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षित-सूत्रं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यं[1]" – इस सूत्र के पश्चात् यह सूत्र उचित है – ऐसा मन में निर्णय करके आगामी सूत्र कहते हैं। यह सामान्यपातनिका है, इसे सर्वत्र लगाना चाहिये।

प्रत्येक महाधिकार के आरंभ में महाधिकार की विषयवस्तु को संक्षेप में महाधिकार की समुदायपातनिका में, अंतराधिकार की विषयवस्तु को अंतराधिकार की समुदायपातनिका में प्रस्तुत की है। इसीप्रकार विशेषान्तराधिकार व स्थलों की भी समुदाय-पातनिका दी है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि अनेक गाथाओं की एक पातनिका ही समुदायपातनिका है।

इसके अतिरिक्त गाथा की पृथक्-पृथक् पातनिका भी आपने दी है। अनेक गाथाओं की एक से अधिक पातनिका भी दी है। जैसे :– 'समयसार' गाथा २ की टीका में २ पातनिका, 'प्रवचनसार' गाथा १२ की टीका में ३ पातनिका, 'पंचास्तिकायसंग्रह' गाथा ७ व १६ की टीका में ३ पातनिका।

पृथक् गाथा की पातनिका देते समय ही आपने प्रश्नोत्तररूप पातनिका दी है। इसका स्वरूप बताते हुए आप कहते हैं कि :–

"अथात्र कः किं चेतयतीति निरूपयति इति। निरूपयति इति कोर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः।"[2]

इसप्रकार अनेक प्रकार की पातनिका द्वारा आप आगामी विषय को बार-बार पाठक को स्मरण कराते हैं।

महाधिकार, अधिकार, अंतराधिकार, विशेषांतराधिकार और स्थलों के अन्त में भी आप गाथासंख्या व वर्ण्यविषय को बताते हुए शुद्धात्मा का अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं। जिसप्रकार आपने

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा २ की टीका

[2] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ३६ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्येक गाथा की पातनिका दी है, उसीप्रकार आप प्रत्येक गाथा का उपसंहार करते हुए गाथा का फल अविनाशी सुख की प्राप्ति बतलाते हैं।

इसप्रकार आचाय जयसेन टीका के प्रारंभ, मध्य, अन्त में सवत्र ही टीका की विषयवस्तु का ज्ञान कराते हैं तथा ग्रन्थ का मूल प्रयोजन भी स्पष्ट करते जाते हैं, जिससे पाठक को विषय सुपाठ्य और सुग्राह्य हो जाता है एवं प्रयोजन विस्मृत नहीं हो पाता।

आचार्य जयसेन ने अपनी टीका में सर्वप्रथम मूलगाथा का शब्दार्थ दिया है, तदनन्तर भावार्थ में उसके अभिप्राय को स्पष्ट किया है। भावार्थ स्पष्टता के अनुरोध से ही लिखे गये हैं। जहाँ विषय को स्पष्ट देखा है, वहाँ भावार्थ नहीं दिया है[१]। भावार्थ के स्थान पर उसके पर्यायवाची के रूप में भाव[२], तात्पर्यार्थ[३], सूत्रार्थ[४], सूत्राभिप्राय[५] व अभिप्राय[६] शब्दों का प्रयोग किया गया है।

शब्दार्थ के साथ ही साथ यथास्थान गाथा में प्रयुक्त पदों की सार्थकता सहेतुक सिद्ध की है[७]।

शब्दार्थ और भावार्थ के साथ-साथ आवश्यकतानुसार नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ भी स्पष्ट किया है। टीका के प्रारंभ में ही आपने पाँचों का स्पष्टीकरण करने के पश्चात् अनुरोध किया है कि इसीप्रकार सर्वत्र समझना चाहिये एवं स्वयं घटित कर लेना चाहिये। इस संदर्भ में 'पंचास्तिकायसंग्रह' गाथा १ की टीका का निम्नांश द्रष्टव्य है :—

"एवंविशेष्यविशेषणसंबंधरूपेण शब्दार्थः कथितः। अनन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपभावनमस्कारोऽशुद्धनिश्चयनयेन, नमो जिनेभ्यः

---

[१] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा २५, ४०, ८०, ८२ की टीका

[२] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १०२ की टीका

[३] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा २०, २६, ३६ की टीका

[४] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ९, ११, १३, १५, १७ की टीका

[५] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा २८ की टीका

[६] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ३४, ४२, ५०, ४४, ६५ की टीका

[७] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १ में इन्द्रशतवन्दितेभ्यः हित, मधुर और विशद की सार्थकता सहेतुक सिद्ध की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इति वचनात्मकद्रव्यनमस्कारोप्यसद्भूतव्यवहारनयेन, शुद्धनिश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधकभाव इति नयार्थोप्युक्तः। त एव नमस्कारार्हा नान्ये चेत्यादिरूपेण मतार्थोप्युक्तः। इन्द्रशतवन्दिता इत्यागमार्थः प्रसिद्ध एव। अनन्तज्ञानादिगुणयुक्तशुद्धजीवास्तिकायमेवोपादेय इति भावार्थः। अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थः। अनेनप्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थं व्याख्यानकाले सर्वत्र योजनीयमिति।"

इसीप्रकार महत्त्वपूर्ण गाथाओं की टीका में शब्दार्थादि पाँचों का स्वयं कथन करने के पश्चात् पाठक को मध्य में भी शब्दार्थादि पाँचों को प्रत्येक गाथा में यथासंभव लगाने का स्मरण कराते हैं। जैसे कि – 'पंचास्तिकायसंग्रह' की गाथा २७ में पाँचों का कथन करने के पश्चात् आप कहते हैं कि :–

"एवं शब्दनयमतागमभावार्थाः व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्याः" —इसप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ व्याख्यान के समय यथासंभव सर्वत्र लगाने चाहिये।

पुनरुक्ति दोष आपकी टीकाओं में कहीं नहीं है, टीका करते समय आपने इस बात का विशेष ध्यान रखा है, अतः प्रसंग प्राप्त होने पर भी उन विषयों के विस्तार में नहीं गये हैं। उनका स्पष्ट उल्लेख करते हुए आचार्य कहते हैं कि :–

"जीवादिषड्द्रव्याणि, धर्मादिचतुर्द्रव्याणां गुणपर्यायानग्रे यथास्थानं विशेषेण कथयति। अत्र तावत् जीवगुणा अभिधीयन्ते।.... ज्ञानचेतना शुद्धचेतना भण्यते, कर्मचेतना कर्मफलचेतना अशुद्धा भण्यते सा त्रिप्रकारापि चेतना अग्रे चेतनाधिकारे विस्तरेण व्याख्यायते। इदानीमुपयोगः कथ्यते।[1]

जीवादि छह द्रव्य हैं, जिनमें से धर्मादि चार द्रव्यों की गुणपर्यायों को आगे यथास्थान विशेषरूप से बतायेंगे। अतः यहाँ जीवगुणों को कहते हैं।....ज्ञानचेतना को शुद्धचेतना कहते हैं। कर्मचेतना और कर्मफलचेतना अशुद्ध चेतना कहलाती है। इन तीनों प्रकार की चेतना का वर्णन चेतनाधिकार में विस्तार से किया जायेगा। अभी उपयोग का वर्णन करते हैं।"

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १६ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसीप्रकार एक टीका में वर्णित विषय को भी आपने दूसरी टीका में नहीं उठाया है। उदाहरण के तौर पर 'पंचास्तिकायसंग्रह' की प्रथम गाथा की टीका में आपने मंगल, निमित्त, हेतु, परिणाम, नाम और कर्त्ता – इन छहों की परिभाषा के साथ-साथ भेद-प्रभेदों को भी बताया है, किन्तु समयसार-टीका व पंचास्तिकायसंग्रह-टीका में इसकी चर्चा तक नहीं की है।

इसीप्रकार कुन्दकुन्द-विवेचित विषय में भी जहाँ कहीं भी पुनरुक्ति की आशंका की जा सकती है, उन-उन स्थलों पर आपने अपनी टीका में स्वयं शंका उठाकर अनेक तर्कों द्वारा उनका समाधान एवं वर्ण्य-विषय का औचित्य स्पष्ट करते हुए, पुनरुक्ति का खण्डन किया है। उदाहरण के तौर पर निम्नांश द्रष्टव्य है :–

"ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं। तन्न, विस्तररुचि-शिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एव व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञावचनं। तत्रापि समयसारव्याख्यानमत्रापि समयसारव्याख्यान-मेव। यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तं। अथवा भावनाग्रंथे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादि-ग्रंथवद्रागिणां शृंगारकथावत् वा पुनरुक्तदोषो नास्ति। अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता अत्राजीवस्य मुख्यता। विवक्षितो मुख्य इति वचनात्। अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण। अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवंतीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं। किंवत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपंचकं ज्ञातव्यं।[1]"

उक्त अंश में जीवाधिकार में जीव का स्वरूप बताने के पश्चात् अजीवाधिकार में भी जीव का वर्णन पुनरुक्त दोष-दूषित है – इस आशंका का निराकरण पाँच तर्कों द्वारा किया गया है।

इसीप्रकार 'वीतराग निर्विकल्प समाधि' में 'वीतराग' विशेषण पुनरुक्त है – इस आशंका का निराकरण भी अनेक तर्कों द्वारा निम्नप्रकार करते हैं :–

[1] तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा ७३ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"वीतरागनिर्विकल्पसमाधौ वीतरागविशेषणमनर्थकमित्युक्ते सति परिहारमाह। आर्तरौद्ररूपस्य विषयकषायनिमित्तस्याशुभध्यानस्य वर्जनार्थत्वात् हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानत्वाद्वा कर्मधारयसमासत्वाद्वा भावनाग्रन्थे पुनरुक्तदोषाभावत्वाद्वा स्वरूपस्य विशेषणत्वाद्वा दृढीकरणार्थत्वाद्वा। एवं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यं।[1]"

यद्यपि अनावश्यक विस्तार आपकी टीकाओं में कहीं नहीं है, तथापि विषयवस्तु को कहीं भी अस्पष्ट नहीं रहने दिया गया है। जहाँ भी विषयवस्तु के विस्तार में जाना आवश्यक समझा गया, वहाँ उस बात को सहेतुक स्पष्ट किया है। उदाहरण के रूप में निम्नांकित अंश द्रष्टव्य है :—

"इत्यादिरूपेण कृष्णादिषड्लेश्यालक्षणं गोमट्टशास्त्रादौ विस्तरेण भणितमास्ते तदत्र नोच्यते। कस्मात् ? अध्यात्मग्रन्थत्वात्। तथा संक्षेपेणात्र कथ्यते।[2]"

अध्यात्म ग्रन्थ होने से कृष्णादि लेश्याओं का विस्तार से वर्णन नहीं किया है, तथापि उन्हें संक्षेप में स्पष्ट किया है। यही कारण है कि संक्षिप्तीकरण होने पर भी विषय कहीं भी अस्पष्ट नहीं है।

'पंचास्तिकायसंग्रह' की गाथा-टीका की समाप्ति के पश्चात् भी आप दीक्षा-शिक्षा के अध्यात्म व आगम शास्त्र-कथित षट्कालों का वर्णन करते हैं तथा अन्त में कहते हैं कि संक्षेप में मैंने यह बताया है, विस्तार रुचिवाले अन्य ग्रन्थों से जानें :—

"एवं प्रभृत्यागमसारादर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते, तदाश्रिता: षट्काला: पूर्वं संक्षेपेण व्याख्याता:। वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते। तच्चाभेदरत्नत्रयात्मकस्याध्यात्मानुष्ठानस्य बहिरंगसाधनं भवति। तदाश्रिता अपि षट्काला संक्षेपेण व्याख्याता, विशेषेण पुनरुभयत्रापि षट्कालव्याख्यानं पूर्वाचार्यकथितक्रमेणान्यग्रंथेषु ज्ञातव्यं।"

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ७ की टीका
[2] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ११९ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सरलता आपकी टीकाओं की सबसे बड़ी विशेषता है। हमारे दैनिक जीवन में आनेवाले विविध उदाहरणों द्वारा विवेचित विषय को पाठक सहज ही हृदयंगम कर लेते हैं, विषय को समझने के लिये उन्हें विशेष श्रम नहीं करना पड़ता। उदाहरण के रूप में निम्नांश द्रष्टव्य है :–

"एकमपि द्रव्यं कथं सप्तभंग्यात्मकं भवतीति प्रश्ने परिहारमाहुः। यथैकोपि देवदत्तो गौणमुख्यविवक्षावशेन बहुप्रकारो भवति। कथमिति चेत्। पुत्रापेक्षया पिता भण्यते सोपि स्वकीयपित्रापेक्षया पुत्रो भण्यते मातुलापेक्षया भागिनेयो भण्यते स एव भागिनेयापेक्षया मातुलो भण्यते, भार्यापेक्षया भर्ता भण्यते भगिन्यपेक्षया भ्राता भण्यते विपक्षापेक्षया शत्रुर्भण्यते इष्टापेक्षया मित्रं भण्यते इत्यादि। तथैकमपि द्रव्यं गौणमुख्यविवक्षावशेन सप्तभंग्यात्मकं भवतीति नास्ति दोष इति सामान्यव्याख्यानं। सूक्ष्मव्याख्यानविवक्षायां पुनः सदेकनित्यादिधर्मेषु मध्ये एकैकधर्मनिरुद्धे सप्तभंगा वक्तव्याः। कथमिति चेत्। स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति स्यादवक्तव्यमित्यादि। स्यादेकं स्यादनेकं स्यादेकानेकं स्यादवक्तव्यमित्यादि स्यान्नित्यं स्यादनित्यं स्यान्नित्यानित्यं स्यादवक्तव्यमित्यादि। तत्केन दृष्टान्तेनेति ? कथ्यते—यथैकोपि देवदत्तः स्यात्पुत्रः स्यादपुत्रः स्यात्पुत्रापुत्र स्यादवक्तव्यः स्यात्पुत्रोऽवक्तव्यः स्यादपुत्रोऽवक्तव्यः स्यात्पुत्रापुत्रोऽवक्तव्यश्चेति सूक्ष्मव्याख्यान-विवक्षायां सप्तभंगीव्याख्यानविवक्षायां सप्तभंगीव्याख्यानं ज्ञातव्यं।[1]"

उक्त अंश में आपने एक ही द्रव्य में सप्तभंगी किसप्रकार घटित होती है — इसे सरल भाषा में समझा दिया है, जो कि पाठक को सहज बोधगम्य है। इसीप्रकार एक ही वस्तु में नित्यता व अनित्यता कैसे घटित हो सकती है — इसे स्पष्ट करने के लिये आप उक्त उदाहरण को ही संक्षेप में पुनः प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि :–

"स एव नित्यः स एवानित्यः कथं घटत इति चेत्। यथैकस्य देवदत्तस्य पुत्रविवक्षाकाले पितृविवक्षा गौणा, पितृविवक्षाकाले पुत्रविवक्षा गौणा, तथैकस्य जीवस्य जीवद्रव्यस्य वा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वविवक्षाकाले पर्यायरूपेणानित्यत्वं गौणं, पर्यायरूपेणानित्यत्व-

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १४ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विवक्षाकाले द्रव्यरूपेण नित्यत्वं गौणं। कस्मात् ? विवक्षितो मुख्य इति वचनात्।[1]"

कहीं-कहीं एक विषय को बताने के लिये अनेक उदाहरण भी दिये गये हैं। जैसे :–

"धर्मास्तिकायो भवति रसवर्णगंधशब्दस्पर्शरहितः लोकव्यापकः, निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणतजीवप्रदेशेषु परमानंदैकलक्षणसुख-रसास्वादसमरसीभाववत् सिद्धक्षेत्रे सिद्धराशिवत् पूर्णघटे जलवत् तिलेषु तैलवद्वा स्पृष्टः परस्परप्रदेशव्यवधानरहितत्वेन निरंतरः न च निर्जनप्रदेशे भावितात्ममुनिसमूहवन्नगरे जनचयवद्वा सांतरः बहुलं अभव्यजीवप्रदेशेषु मिथ्यात्वरागादिवल्लोके नभोवद्वा पृथुलोऽनाद्यंत-रूपेण स्वभावविस्तीर्णः न च केवलिसमुद्घातेजीवप्रदेशवल्लोके वस्त्रादिप्रदेशविस्तारवद्वा पुनरिदानीं विस्तीर्णः।[2]"

उक्त अंश में धर्मास्तिकाय लोकव्यापक है – इस बात को समझाने के लिये आपने अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं।

'आत्मख्याति' में समागत उदाहरणों का भी आपने निःसंकोच उपयोग किया है, पर उनसे चिपटे रहने की प्रवृत्ति आप में नहीं है। अनेक नये प्रमेय एवं उदाहरण भी आपने दिये हैं, जो कि आपकी मौलिक प्रतिभा के निदर्शन हैं। उदाहरण के रूप में 'समयसार' की २०-२१-२२वीं (जयसेन की २५-२६-२७वीं) गाथाओं की टीका द्रष्टव्य है :–

"...............सचित्ताचित्तमिश्र वा। तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि। अथवा तपो-धनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमंडलुपुस्तकादि मिश्रमुप-करणसहितछात्रादि। अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्मादि, मिश्रं द्रव्यभावकर्मद्वयं। अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थ-पुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपं, अचित्तं पुद्गलादिपंचद्रव्यरूपं मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्तमानकालापेक्षया गाथा गता।"

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १९ की टीका

[2] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ८३ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त अंश में कथित गृहस्थापेक्षा, तपोधनापेक्षा और निर्विकल्प-समाधिस्थ पुरुषापेक्षा – भेदों की चर्चा आचार्य अमृतचन्द्र ने नहीं की है। इसीप्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है।

आवश्यकतानुसार अन्य ग्रन्थों के उद्धरण देकर भी विषय को सिद्ध किया है। उदाहरण के रूप में निम्नांश द्रष्टव्य है :–

"अत्राह शिष्यः। अद्य काले ध्यानं नास्ति। कस्मादिति चेत्। दशचतुर्दशपूर्वश्रुताधारपुरुषाभावात्प्रथमसंहननाभावाच्च। परिहार-माह – अद्य काले शुक्लध्यानं नास्ति। तथा चोक्तं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-देवैरेव मोक्षप्राभृते :–

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिदे ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी॥
अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुदा णिव्वुदिं जंति॥"

तत्र युक्तिमाह। यद्यद्यकाले यथाख्यातसंज्ञं निश्चयचारित्र नास्ति तर्हि सरागचारित्रसंज्ञमपहृतसंयममाचरंतु तपस्विनः। तथा चोक्तं तत्त्वानुशासनध्यानग्रन्थे :–

"चरितारो न संत्यद्य यथाख्यातस्य संप्रति।
तत्किमन्ये यथाशक्तिमाचरंतु तपोधनाः॥"

यच्चोक्तं सकलश्रुतधारिणां ध्यानं भवति तदुत्सर्गवचनं, अपवाद-व्याख्याने तु पंचसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकश्रुतिपरिज्ञानमात्रेणैव केवलज्ञानं जायते, यद्येवं न भवति तर्हि "तुसमासं घोसंतो सिवभूदी केवली जादो" इत्यादि वचनं कथं घटते ? तथा चोक्तं चारित्रसारादि-ग्रन्थे पुलाकादिपंचनिर्ग्रन्थव्याख्यानकाले। मुहूर्तादूर्ध्वं ये केवलज्ञान-मुत्पादयंति ते निर्ग्रन्था भण्यंते क्षीणकषायगुणस्थानवर्तिनस्तेषा-मुत्कृष्टेन श्रुतं चतुर्दशपूर्वाणि जघन्येन पुनः पंचसमितित्रिगुप्तिसंज्ञा अष्टौ प्रवचनमातरः। यदप्युक्तं वज्रवृषभनाराचसंज्ञप्रथमसंहननेन ध्यानं भवति तदप्युत्सर्गवचनं, अपवादव्याख्यानं पुनरपूर्वादिगुण-स्थानवर्तिनां उपशमक्षपकश्रेण्योर्यच्छुक्लध्यानं तदपेक्षया स नियमः अपूर्वादधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्याने निषेधकं न भवति। तदप्युक्तं तत्रैव तत्त्वानुशासने :–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"यत्पुनर्वज्रकायस्य ध्यानमित्यागमे वचः ।
श्रेण्योर्ध्यानं प्रतीत्योक्तं तत्राधस्तान्निषेधकं ।।"

एवं स्तोकश्रुतेनापि ध्यानं भवतीति ज्ञात्वा किमपि शुद्धात्म-प्रतिपादकं संवरनिर्जराकरणं जरमरणहरं सारोपदेशं गृहीत्वा ध्यानं कर्तव्यमिति भावार्थः । उक्तं च :–

"अंतो णत्थि सुदीणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा ।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणइ ।।[1]"

उक्त अंश में इस समय ध्यान नहीं होता – इस बात के परिहार में अनेक प्राकृत व संस्कृत के उद्धरण टीकाकार द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं । इसीप्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है । यद्यपि आचार्य जयसेन उद्धरणों को 'उक्तं च', 'अन्यदपि' अथवा नामोल्लेख करते हुए देते हैं, तथापि आचार्य अमृतचन्द्र के उद्धरणों के संबंध में अपवाद है, उन्हें वे कहीं-कहीं नामोल्लेख बिना भी देते देखे जाते हैं ।[2]

सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर विषय को स्पष्ट करने के लिये अनुमान की पंचावयव प्रणाली का प्रयोग आपने सर्वत्र किया है । जैसे :–

"सूक्ष्मव्यवहितदेशांतरितकालांतरितस्वभावांतरितार्था धर्मिणः कस्यापि पुरुषविशेषस्य प्रत्यक्षा भवंतीति साध्यो धर्मः । कस्माद्धेतोः ? अनुमानविषयत्वात् । यद्यदनुमानविषयं तत्तत्कस्यापि प्रत्यक्षं दृष्टं, यथाग्न्यादिः, अनुमानविषयाश्चैते तस्मात्कस्यापि प्रत्यक्षा भवंतीति संक्षेपेण सर्वज्ञसद्भावे प्रमाणं ज्ञातव्यं ।[3]"

अन्वयव्यतिरेकपूर्वक अपने कथन की सिद्धि करते हुए आप इन पारिभाषिक पदों का स्वरूप भी बता देते हैं :–

"अन्वयव्यतिरेकस्वरूपं कथ्यते । तथाहि – सति संभवोऽन्वय-लक्षणं असत्यसंभवो व्यतिरेकलक्षणं । तत्रोदाहरणं – निश्चयव्यवहार-

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १४६ की टीका

[2] तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा ४३७ की टीका के बाद, स्याद्वाद अधिकार के प्रारम्भ में

[3] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा २९ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्षकरणे सति मोक्षकार्यं संभवतीति विधिरूपोऽन्वय उच्यते, तत्कारणाभावे मोक्षकार्यं न संभवतीति निषेधरूपो व्यतिरेक इति ।[1]"

प्रश्नोत्तर के रूप में विषय को स्पष्ट करना आपकी टीका की सबसे बड़ी विशेषता है। उदाहरणों में, न्याय के प्रयोगों में, तर्कों में सर्वत्र ही आप प्रश्नोत्तरों का प्रयोग करते हैं। कहीं पदखण्डान्वय को प्रश्नोत्तरों के रूप में देते हैं, तो कहीं पातनिका को भी प्रश्नोत्तरों के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के तौर पर सर्वज्ञसिद्धि का निम्नांश द्रष्टव्य है :–

"अथ भट्टचार्वाकमतानुसारी कश्चिदाह, नास्ति सर्वज्ञोऽनुपलब्धेः खरविषाणवत् । तत्र प्रत्युत्तरं दीयते – कुत्र सर्वज्ञो नास्त्यत्रदेशे तथा चात्रकाले किं जगत्त्रये कालत्रये वा ? यद्यत्र देशे काले नास्तीति भण्यते तदा सम्मतमेव । अथ जगत्त्रये कालत्रयेऽपि नास्ति तत्कथं ज्ञातं भवता ? जगत्त्रयकालत्रयं सर्वज्ञरहितं ज्ञातं चेद्भवता तर्हि भवानेव सर्वज्ञः । कुत इति चेत् । योऽसौ जगतत्रयं जानाति स एव सर्वज्ञः । यदि पुनः सर्वज्ञरहितं जगत्त्रयं कालत्रयं न ज्ञातं भवता तर्हि जगत्त्रये कालत्रयेपि सर्वज्ञो नास्तीति कथं निषेधः क्रियते त्वया ? अथ मतं किमत्रोदाहरणं यथा कश्चिद्देवदत्तो घटरहितभूतलं चक्षुषा दृष्ट्वा पश्चाद् ब्रूते अत्र भूतले घटो नास्तीति युक्तमेव, अन्यः कोप्यंधः किमेवं ब्रूते अत्र भूतले घटो नास्त्यपितु नैवं । तथा योऽसौ जगत्त्रयं कालत्रयं सर्वज्ञरहितं प्रत्यक्षेण जानाति स एव सर्वज्ञनिषेधे समर्थो न चान्योन्ध इव । यस्तु जगत्त्रयं कालत्रयं जानाति स सर्वज्ञनिषेधं कथमपि न करोति । कस्मात् ? जगत्त्रयकालत्रयविषयपरिज्ञान-सहितत्वेन स्वयमेव सर्वज्ञत्वादिति । किंचानुपलब्धेरिति हेतुवचनं तदयुक्तं कथमिति चेत् । किं भवतां सर्वज्ञानुपलब्धिरुत जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिपुरुषाणां वा । यदि भवतामनुपलब्धिरेतावता सर्वज्ञा-भावो न भवति । कथमिति चेत् । परमाण्वादिसूक्ष्मपदार्थाः परिचितो-वृत्तयश्च भवद्भिर्यदि न ज्ञायन्ते तर्हि किं न सन्ति । अथ जगत्त्रय-कालत्रयवर्तिपुरुषाणां सर्वज्ञानुपलब्धेस्तत्कथं ज्ञातं भवद्भिरिति पूर्वमेवं विचारितं तिष्ठति, इति हेतुदूषणं । यदप्युक्तं खरविषाण-

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १०६ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वदिति दृष्टांतवचनं, तदप्ययुक्तं । कथमिति चेत् ? खरे विषाणं नास्ति न सर्वत्र, गवादौ प्रत्यक्षेण दृश्यते तथा सर्वज्ञोपि विवक्षितदेशकाले नास्ति न च सर्वत्र इति संक्षेपेण हेतुदूषणं दृष्टांतदूषणं च ज्ञातव्यं अथ मतं सर्वज्ञाभावे दूषणं दत्तं भवद्भिस्तर्हि सर्वज्ञसद्भावे किं प्रमाणं । तत्र प्रमाणं कथ्यते – अस्ति सर्वज्ञः पूर्वोक्तप्रकारेण बाधकप्रमाणाभावात् स्वसंवेद्यसुखदुखादिवदिति ।[1]"

इसप्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि जयसेनीय टीकायें सरल व सहज बोधगम्य हैं। वे नयोल्लेखपूर्वक गुणस्थान परिपाटी की पदखण्डान्वयी टीकायें हैं।

वस्तु को सुगम बनाने के लिये आप विविध शैलियों का प्रयोग करते हैं। विविध तर्कों द्वारा तथ्यों को सिद्ध करते हैं, प्रश्नोत्तरों द्वारा भी विषय को स्पष्ट करते हैं, आशय के स्पष्टीकरण के लिये नयों का अवलम्बन लेते हैं, कथन की पुष्टि हेतु उद्धरणों का निःसंकोच प्रयोग करते हैं। पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण भी यथास्थान करते जाते हैं। आप अमृतचन्द्र के ऋणी होकर भी उनके अनुकर्ता मात्र नहीं हैं, अपितु मौलिक चिन्तक भी हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अमृतचन्द्र के प्रमेय को बहुत कुछ अपने में समेटे हुये भी जयसेनीय टीकायें पूर्णतः मौलिक हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र-कृत और आचार्य जयसेन-कृत टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन

आचार्य कुन्दकुन्द-रचित 'समयसार', 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकायसंग्रह' पर आचार्य अमृतचन्द्र व आचार्य जयसेन दोनों ने ही संस्कृत टीकायें लिखी हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में भावों की गंभीरता के साथ-साथ भावों को वहन करने में समर्थ भाषा के जिस प्रौढ़तम रूप के दर्शन होते हैं, जयसेन की टीकाओं में वह प्रौढ़ता दिखाई नहीं देती। जयसेनीय टीकाओं की भाषिक विशेषता सहज बोधगम्यता है।

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा ३८ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतचन्द्र की टीकायें अन्य टीकाओं की अपेक्षा रखती हैं, जबकि जयसेन की टीकाओं को अन्य टीकाओं की आवश्यकता नहीं है। यही कारण है कि जयसेन की टीकाओं की भाषा-टीकायें न के बराबर हैं।

अमृतचन्द्र मूल ग्रन्थकर्त्ता के भावों को हृदयंगम कर उसे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं जैसे स्वतंत्र ग्रन्थ लिख रहे हों, जबकि जयसेन अन्वयार्थ, भावार्थ, तात्पर्यार्थ आदि बातें मूलानुसार बताते चलते हैं। यही कारण है कि अमृतचन्द्र टीकाकार होते हुए भी स्वयं ग्रन्थप्रणेता-से प्रतीत होते हैं, पर जयसेन विशुद्ध टीकाकार ही हैं।

जयसेन की टीकायें अमृतचन्द्रीय टीकाओं की पूरक हैं[1]। जहाँ अमृतचन्द्र ने बात विस्तार से स्पष्ट कर दी है, वहाँ जयसेन संक्षेप

---

[1] (अ) 'समयसार' की २० से २२ तक की गाथाओं की टीका में अमृतचन्द्र ने भूत, भविष्य, वर्तमान को विस्तारपूर्वक उदाहरण देकर समझाया है; पर जयसेन ने उन्हें संक्षेप में बताकर सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह में गृहस्थापेक्षा, तपोधनापेक्षा तथा निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुष की अपेक्षा भेद भी बतलाये हैं।

(ब) 'समयसार' की ५० से ५५ तक की गाथाओं की टीका में अमृतचन्द्र वर्णादि से गुणस्थान पर्यन्त भावों का भेद कहते हुए परिभाषा देते हैं; पर जयसेन ने उन्हें अनुमान प्रकरण से उठाया है और उन पर न्याय के पंचावयव वाक्यों का प्रयोग किया है।

(स) 'समयसार' की २३ से २५ तक की गाथाओं की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने पुद्गल एवं जीव की अनेकता को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है; पर जयसेन से इन्हें संक्षेप में बताकर बद्ध व अबद्ध और बहुभावों को स्पष्ट किया है।

(द) 'समयसार' की ३२४ से ३२७ तक की गाथाओं की टीका में जयसेन ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आत्मा ही हैं – यह तर्क द्वारा सिद्ध किया है; जबकि अमृतचन्द्र ने इनकी चर्चा ही नहीं की है।

(इ) 'समयसार' गाथा २ की टीका में अमृतचन्द्र ने जीव की व्याख्या नहीं की है; जबकि जयसेन ने जीव की शुद्धनिश्चय, अशुद्धनिश्चय और असद्भूत व्यवहारनय से व्याख्या की है एवं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भी परिभाषा दी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में बात कह आगे बढ़ जाते हैं[1]। जहाँ अमृतचन्द्र संक्षेप में कह आगे बढ़ जाते हैं, वहाँ वे विस्तार करते दिखायी देते हैं[2]।

इसप्रकार हम देखते हैं कि जो विषय मूलग्रन्थ में अस्पष्ट रह गये हैं, वे अमृतचन्द्रीय टीकाओं में स्पष्ट हो गये हैं तथा जो विषय अमृतचन्द्रीय टीकाओं में अस्पष्ट रह गये हैं, वे जयसेनीय टीकाओं में स्पष्ट हो गये हैं।

नयों का उल्लेख अमृतचन्द्र बहुत कम करते हैं। यदि करते भी हैं तो निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक तक ही सीमित रहते हैं; पर जयसेन निश्चय-व्यवहार और द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के भेद-प्रभेदों के विस्तार में भी जाते हैं।

---

[1] (अ) 'समयसार' गाथा १२ की टीका को अमृतचन्द्र ने काफी विस्तार दिया है एवं कलश काव्य भी दिये हैं; जबकि इसी गाथा की टीका में जयसेन ने मात्र पदव्याख्या दी है, भावार्थ भी नहीं दिया।

(ब) 'समयसार' गाथा १३ की टीका में अमृतचन्द्र ने प्रमाण, नय, निक्षेप के भेद एवं परिभाषा संक्षेप में देकर उन्हें भूतार्थ और अभूतार्थ प्रतिपादित किया है तथा नवतत्त्वों को विस्तार से समझाकर बताया है कि ये दोनों जीव और अजीव के होते हैं; पर जयसेन ने इसकी टीका अत्यन्त संक्षेप में की है।

(स) 'समयसार' गाथा ३५६ से ३६५ तक की गाथाओं में आये उदाहरणों को अमृतचन्द्र ने विस्तार से समझाया है; पर जयसेन ने इन्हें संक्षेप में बताकर अन्य मतों का खण्डन एवं निश्चय-व्यवहार से सर्वज्ञ की सिद्धि की है।

[2] (अ) 'समयसार' गाथा १५ की टीका अमृतचन्द्र ने संक्षेप में की है तो जयसेन ने इसमें बंध के दो रूप प्रस्तुत किये हैं :– संश्लेषबंध और संयोगरूपबंध एवं गाथासूत्र में अनुक्त 'नियत' और 'असंयुक्त' विशेषणों का प्रयोग भी किया है और इस प्रयोग का हेतु भी दर्शाया है। साथ ही साथ 'अपदेससुत्तमज्झं' की व्युत्पत्ति बताते हुए शब्दसमय और ज्ञानसमय भेद बताये हैं।

(ब) 'समयसार' गाथा २६ की टीका में अमृतचन्द्र ने जहाँ मात्र एक कलश ही दिया है, वहाँ जयसेन ने तीर्थंकरों और आचार्यों के अलग-अलग उद्धरण देकर समझाया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य जयसेन प्रत्येक गाथा के पूर्व उत्थानिका देते हैं, पर आचार्य अमृतचन्द्र इस नियम से बँधे नहीं हैं। विषयवस्तु की महत्ता एवं आवश्यकतानुसार कभी वे कलशकाव्य में ही उत्तर-गाथा की भूमिका बाँधते हैं, तो कहीं जयसेन के समान ही गद्य में देते हैं, तो कहीं बिना दिये ही आगे बढ़ जाते हैं।

आचार्य जयसेन ने अपनी टीका के प्रारंभ में कहा है कि 'पंचास्तिकायसंग्रह' संक्षेपरुचि-शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये, 'प्रवचनसार' को मध्यमरुचि शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये और 'समयसार' को विस्ताररुचि शिष्यों के प्रतिबोधन के लिये लिखा है; पर अमृतचन्द्र ने इसप्रकार का कोई विभाजन नहीं किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र-प्रदत्त उदाहरण तो जयसेन की टीका में मिलते ही हैं; पर अनेक अतिरिक्त उदाहरण भी उन्होंने दिये हैं। ऐसे स्थलों पर अमृतचन्द्र द्वारा दिये गये उदाहरणों को आपने संक्षेप में दिया है।

जयसेन अमृतचन्द्र की टीकाओं से पूर्णतः उपकृत जान पड़ते हैं; क्योंकि वे उनके प्रतिपादन को सर्वत्र ससम्मान स्वीकार करते प्रतीत होते हैं; पर जहाँ उन्हें कुछ नया कहना हो तो अमृतचन्द्र की बात को आगे रखकर विनम्रता से अपनी बात भी खुलकर रखते हैं।[1]

आचार्य जयसेन की टीकाओं में कुछ गाथायें ऐसी भी हैं, जो अमृतचन्द्रीय टीकाओं में नहीं पाई जाती हैं। गाथासंख्या की इस भिन्नता का उल्लेख करते हुए आचार्य जयसेन कहते हैं :—

"तद्यथा – प्रथमतस्तावत् इंदसयवंदियाणमित्यादिपाठक्रमेणैकादशोत्तरशतगाथाभिः पंचास्तिकायषड्द्रव्यप्रतिपादनरूपेण प्रथमो महाधिकारः, अथवा स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेण त्र्यधिकशतपर्यन्तश्च। तदनन्तरं 'अभिवंदिऊण सिरसा' इत्यादि पंचाशद्गाथाभिः सप्ततत्त्वनवपदार्थव्याख्यानरूपेण द्वितीयो महाधिकारः। अथ स एवामृतचन्द्रटीकाभिप्रायेणाष्टाचत्वारिंशद्गाथापर्यन्तश्च। अथानन्तरं जीवस्वभावो इत्यादि विंशतिगाथाभिर्मोक्षमार्गमोक्षस्वरूपकथन-

[1] तात्पर्यवृत्ति, समयसार गाथा १३१ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुख्यत्वेन तृतीयो महाधिकार इति समुदायेनैकाशीत्युत्तरशतगाथाभिर्महाधिकारत्रयं ज्ञातव्यं ।[1]"

इसीप्रकार अन्य टीकाओं में भी आपने गाथासंख्या दी है। दोनों ही टीकाकारों की तीनों टीकाओं की गाथासंख्या का अन्तर निम्नानुसार है :–

'समयसार' को टीका 'आत्मख्याति' में ४१५ गाथाएँ हैं; जबकि 'समयसार' की ही 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में ४३९ गाथाएँ हैं।[2]

'प्रवचनसार' की टीका 'तत्त्वदीपिका' में २७५ गाथाएँ हैं; जबकि 'प्रवचनसार' की ही 'तात्पर्यवृत्ति' टीका में ३११ गाथाएँ हैं।

'पंचास्तिकायसंग्रह' की टीका 'समयव्याख्या' में १७३ गाथाएँ हैं; जबकि 'पंचास्तिकायसंग्रह' की ही तात्पर्यवृत्ति टीका में १८१ गाथाएँ हैं।

'समयसार' की ४ गाथायें ऐसी भी हैं, जिन पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीका तो उपलब्ध है, पर जयसेन की नहीं। उन गाथाओं की क्रमसंख्या है :– ११९, १२०, २४९ और २५२।

चूंकि गाथासंख्या में भेद है, अतः दोनों आचार्यों द्वारा किये गये अधिकार-विभाजन में भी गाथासंख्याओं का भेद पाया जाना स्वाभाविक ही है।

अधिकार-विभाजन में न केवल गाथासंख्याओं की ही भिन्नता है, अपितु गाथाओं में पाठभेद[3] एवं क्रमभेद भी बहुलता से पाया जाता है।

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, पंचास्तिकाय संग्रह गाथा २ की टीका के बाद

[2] इस ग्रन्थ की टीका में जयसेन ने कुल गाथा संख्या ४३९ कही हैं, पर उपलब्ध गाथायें ४३७ ही हैं। यह भिन्नता मोक्ष अधिकार की है, क्योंकि मोक्ष अधिकार में आपने २२ गाथायें कही, जिसमें प्रारम्भ की सात गाथाओं में पाँच गाथायें ही दी हैं एवं ३१३वीं गाथा की टीका में कहा है कि 'प्रथम स्थले गाथा सप्तम गतं', पर गाथा ५ ही दी हैं। अतः स्पष्ट है कि ३१२ व ३१३ गाथा के बीच की २ गाथायें काल-कवलित हो गई हैं।

[3] पाठभेद निम्नप्रकार है :–

(क) 'भणिदो' (आत्मख्याति, गाथा १७६) के स्थान पर 'होदि' (तात्पर्यवृत्ति, गाथा १८४)

(ख) 'मलमेलणासत्तो' (आत्मख्याति, गाथा १५७ से १५९) के स्थान पर 'मलविमेलणाच्छण्णो' (तात्पर्यवृत्ति, गाथा १६५ से १६७)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन पाठभेदों एवं क्रमभेदों के रहते हुए भी विषय-वस्तु में कोई उल्लेखनीय अन्तर दिखाई नहीं देता। आचार्य जयसेन अमृतचन्द्रीय टीका में अनुपलब्ध गाथाओं का स्पष्ट उल्लेख यथास्थान करते हैं। उदाहरण के लिये निम्नांश द्रष्टव्य है :–

"तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थ.........इत्यादि गाथापंचकम्। अत्र टीकायां गाथात्रयं नास्ति।.........इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। ताश्चामृतचन्द्रटीकायां न सन्ति।.........इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति। अत्र टीकायां गाथाचतुष्टयं नास्ति। एवं मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभिः, टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका।[2]"

आचार्य जयसेन आचार्य अमृतचन्द्र का उल्लेख प्रायः 'टीकाकार' नाम से करते हैं।

---

[1] क्रमभेद निम्नप्रकार हैं :–

आत्मख्याति		तात्पर्यवृत्ति
२७८ से २८०	–	३०१ से ३०३
२८२ से २८५	–	३०६ से ३०८
२८६	–	२९७
१७४	–	१८३
१७५	–	१८२
२८४	–	२४७
२८७	–	२९९
३९८	–	४२०
१९८	–	२११
१९९	–	२०८
३४९	–	३७८
३६६	–	३७१
३७३	–	३९४
३८३	–	३९५
३८७	–	४०९
३८२	–	४०८
३९५	–	४१७

[2] तात्पर्यवृत्ति, प्रवचनसार गाथा २१९ की टीका के बाद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमृतचन्द्र-कृत टीका में अनुपलब्ध गाथाओं की टीका जयसेन ने संक्षेप में की है। कहीं-कहीं तो पदखण्डान्वय भी नहीं दिया गया, मात्र भावार्थ ही दिया है।

अधिकारों के विभाजन एवं उनके नामकरण के बारे में भी आचार्य जयसेन ने अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है, साथ ही टीकाकार (आचार्य अमृतचन्द्र) का मत भी दे दिया है। दोनों टीकाकारों की तीनों टीकाओं का अधिकार-विभाजन निम्नप्रकार है :–

'आत्मख्याति' (समयसार)

अधिकार-क्रम		नाम	गाथा संख्या
		पूर्वरंग	१ से ३८
प्रथम	—	जीव-अजीव-प्ररूपक अंक	३९ से ६८
द्वितीय	—	कर्त्ता-कर्म-प्ररूपक अंक	६९ से १४४
तृतीय	—	पुण्य-पाप-प्ररूपक अंक	१४५ से १६३
चतुर्थ	—	आस्रव-प्ररूपक अंक	१६४ से १८०
पंचम	—	संवर-प्ररूपक अंक	१८१ से १९२
षष्ठ	—	निर्जरा-प्ररूपक अंक	१९३ से २३६
सप्तम	—	बंध-प्ररूपक अंक	२३७ से २८७
अष्टम	—	मोक्ष-प्ररूपक अंक	२८८ से ३०७
नवम	—	सर्वविशुद्धज्ञान-प्ररूपक अंक	३०८ से ४१५
		परिशिष्ट	

'आत्मख्याति' और 'तात्पर्यवृत्ति' (समयसार)

अधिकार-क्रम		'तात्पर्यवृत्ति' अधिकार नाम	'तात्पर्यवृत्ति' की गाथासंख्या	'आत्मख्याति' की गाथासंख्या
	—	पीठिका	१ से १४	१ से १२
प्रथम	—	जीवाधिकार	१५ से ४३	१३ से ३८
द्वितीय	—	अजीवाधिकार	४४ से ७३	३९ से ६८
तृतीय	—	पुण्यपापादि सप्तपदार्थपीठिका	७४ से १५२	६९ से १४४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ	—	पुण्य-पाप अधिकार	१५३ से १७१	१४५ से १६३
	(क)	पुण्य अधिकार	१५३ से १६२	१४५ से १५४
	(ख)	पाप अधिकार	१६३ से १७१	१५५ से १६३
पंचम	—	आस्रव अधिकार	१७२ से १८८	१६४ से १८०
षष्ठ	—	संवर अधिकार	१८९ से २०२	१८१ से १९२
सप्तम	—	निर्जरा अधिकार	२०३ से २५२	१९३ से २३६
अष्टम	—	बंध अधिकार	२५३ से ३०८[१]	२३७ से २८७
नवम	—	मोक्ष अधिकार	३०९ से ३२७	२८८ से ३०७
	(क)	मोक्ष अधिकार संबंधी चूलिका	३२८ से ३४१	३०८ से ३२०
दशम	—	समयसार चूलिका (सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार)	३४२ से ४३७	३२१ से ४१५
परिशिष्ट	—	स्याद्वाद अधिकार		

इसप्रकार स्पष्ट है कि 'समयसार' की ४१५ गाथाओं को 'आत्मख्याति' में पूर्वरंग व नौ अंकों में विभक्त किया है एवं 'तात्पर्यवृत्ति' में उन्हीं गाथाओं को पीठिका, दस अधिकार एवं चूलिका रूप में विभाजित किया है। अमृतचन्द्र ने 'आत्मख्याति' के अन्त में जो परिशिष्ट दिया है, उसे जयसेन ने स्याद्वाद अधिकार नाम से कहा है; पर अधिकार-संख्या में इसे नहीं गिना है।

अमृतचन्द्र ने अंकों में विभाजन किया है एवं जयसेन कर्त्ता-कर्म को छोड़कर सभी को अधिकार कहते हैं। कर्त्ता-कर्म को वे महाधिकार कहते हैं। यहाँ उसका नाम 'पुण्यपापादि सप्तपदार्थपीठिका' है।

'आत्मख्याति' के पूर्वरंग को आपने पीठिका और जीवाधिकार – ऐसे दो भेदों में विभक्त कर दिया है। कर्त्ता-कर्म अधिकार को पुण्य-पापादि सप्त पदार्थों की पीठिका कहा है और पुण्याधिकार एवं पापाधिकार – इन दोनों को पृथक्-पृथक् अधिकार माना है।

[१] 'आत्मख्याति' की २८६ व २८७ गाथा 'तात्पर्यवृत्ति' के अन्त में न देकर मध्य में क्रमशः २९७ व २९९ पर आई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य अमृतचन्द्र ३०८वीं गाथा से सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का प्रारंभ मानते हैं तो जयसेन अमृतचन्द्र की ३०८ से ३२० तक की गाथाओं को मोक्षपदार्थ संबंधी चूलिका कहते हैं अर्थात् मोक्ष अधिकार के अन्तर्गत मानते हैं।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को जयसेन ने चूलिका कहा है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अमृतचन्द्र के विभाजन व जयसेन के विभाजन में विरोध है; क्योंकि अधिकारांत में जयसेन पूर्वरंग, कर्त्ता-कर्म और सर्वविशुद्धज्ञान – नामों का उल्लेख भी करते हैं।

'तत्त्वदीपिका' (प्रवचनसार)

क्रम	अधिकार	गाथासंख्या
१ –	ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार	१ से ९२
	(क) शुद्धोपयोग अधिकार	१३ से २०
	(ख) ज्ञान अधिकार	२१ से ५२
	(ग) सुख अधिकार (आनन्द अधिकार)	५३ से ६८
	(घ) शुभपरिणाम अधिकार	६९ से ९२
२ –	ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन महाधिकार	९३ से २००
	(क) द्रव्यसामान्य अधिकार	९३ से १२६
	(ख) द्रव्यविशेष अधिकार	१२७ से १४४
	(ग) ज्ञान-ज्ञेयविभाग अधिकार	१४५ से २००
३ –	चरणानुयोगसूचक चूलिका	२०१ मे २७५
	(क) आचरण-प्रज्ञापन	२०१ से २३१
	(ख) मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन	२३२ से २४४
	(ग) शुभोपयोग-प्रज्ञापन	२४५ से २७०
	(घ) पंचरत्न-प्रज्ञापन	२७१ मे २७५

'तात्पर्यवृत्ति' और 'तत्त्वदीपिका' (प्रवचनसार)

क्रम	'तात्पर्यवृत्ति' अधिकार का नाम	'तात्पर्यवृत्ति' की कुल गाथाएँ	'तत्त्वदीपिका' की गाथाएँ
१ –	सम्यग्ज्ञान महाधिकार	१०१	
	(क) शुद्धोपयोग अधिकार	७२	
	१. पीठिका	१४	(१ से १२)
	२. सामान्य सर्वज्ञसिद्धि	७	(१३ से २०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३. ज्ञानप्रपंच	३३	(२१ से ५२)
४. सुखप्रपंच	१८	(५३ से ६८)
(ख) ज्ञानकण्डिका चतुष्टय अधिकार	२५	(६९ से ९२)
१. प्रथम ज्ञानकण्डिका	१०	
२. द्वितीय ज्ञानकण्डिका	७	
३. तृतीय ज्ञानकण्डिका	६	
४. चतुर्थ ज्ञानकण्डिका	२	
(ग) स्वतंत्र गाथाएँ	४	
२ – सम्यग्दर्शन महाधिकार	११३	
(क) सामान्यज्ञेय-व्याख्यान अंतराधिकार	३५	(९३ से १२६)
(ख) विशेषज्ञेय-व्याख्यान अंतराधिकार	१९	(१२७ से १४४)
(ग) सामान्य-भेदभावना अंतराधिकार	८	(१४५ से १५१)
(घ) विशेष-भेदभावना अंतराधिकार	५१	(१५२ से २००)
प्रथम विशेषांतराधिकार	११	
द्वितीय विशेषांतराधिकार	९	
तृतीय विशेषांतराधिकार	१९	
चतुर्थ विशेषांतराधिकार	१२	
३ – सम्यक्चारित्र महाधिकार	९७	
(क) उत्सर्ग चारित्र व्याख्यान अधिकार	२१	(२०१ से २१९)
(ख) अपवाद चारित्र व्याख्यान अधिकार	३०	(२२० से २३१)
(ग) मोक्षमार्गाधिकार/श्रामण्याधिकार	१४	
(घ) शुभोपयोग अधिकार	३२	

'तात्पर्यवृत्ति' में 'तत्त्वदीपिका' से ३६ गाथायें अधिक हैं। 'तत्त्वदीपिका' में २७५ गाथायें हैं, जिनमें दो अधिकारों में विभक्त मूल ग्रन्थ २०० गाथाओं में समाप्त हो जाता है। उसके बाद ७५ गाथाओं की चूलिका दी गई है, जबकि तात्पर्यवृत्तिकार ने चूलिका को भी महाधिकार कहा है।

'तत्त्वदीपिका' में विषयवस्तु का विभाजन अधिकार व अंतराधिकारों में ही किया है एवं 'तात्पर्यवृत्ति' में प्रथम महाधिकार का अधिकार, अंतराधिकार व ज्ञानकण्डिका में विभाजन किया है एवं द्वितीय महाधिकार में अंतराधिकार व विशेषांतराधिकार दिये हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'तत्त्वदीपिका' के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन, ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन और चरणानुयोगसूचक चूलिका को 'तात्पर्यवृत्ति' में क्रमशः सम्यग्ज्ञानाधिकार, सम्यग्दर्शनाधिकार और चारित्राधिकार कहा है।

'तत्त्वदीपिका' में प्रथम अधिकार के अन्तर्गत चार अंतराधिकार दिये हैं :– शुद्धोपयोग अधिकार, ज्ञान अधिकार, सुख अधिकार और शुभपरिणाम अधिकार। 'तात्पर्यवृत्ति' में उक्त चारों में से शुद्धोपयोग को अधिकार कहा है एवं इसके अन्तर्गत चार अंतराधिकार दिये हैं। इन चार अंतराधिकारों में दो अंतराधिकार तो 'तत्त्वदीपिका' के शुद्धोपयोग अधिकार की गाथाओं में दिये हैं अर्थात् शुद्धोपयोग अधिकार की १ से २० तक की गाथाओं को 'तात्पर्यवृत्ति' में पीठिका एवं सामान्यसर्वज्ञसिद्धि नामक दो अंतराधिकार में दिया है तथा ज्ञान अधिकार व सुख अधिकार को क्रमशः ज्ञानप्रपंच व सुखप्रपंच अंतराधिकार कहा है।

'तत्त्वदीपिका' के शुभपरिणाम नामक अंतराधिकार को 'तात्पर्यवृत्ति' में ज्ञानकण्डिका-चतुष्टय-प्रतिपादक अधिकार कहा है और उसके अंतर्गत चार अंतराधिकार व चार स्वतंत्र गाथाएँ कही हैं।

'तत्त्वदीपिका' के द्वितीय महाधिकार में जिन्हें द्रव्यसामान्य अधिकार व द्रव्यविशेष अधिकार कहा है, उन्हें ही 'तात्पर्यवृत्ति' में क्रमशः सामान्यज्ञेय-व्याख्यान अंतराधिकार व विशेषज्ञेय-व्याख्यान अंतराधिकार कहा है। 'तत्त्वदीपिका' के ज्ञान-ज्ञेय-विभाग अधिकार को 'तात्पर्यवृत्ति' में सामान्य-भेदभावना अंतराधिकार व विशेषभेदभावना अंतराधिकार नामक दो अंतराधिकारों में विभक्त किया है एवं विशेष-भेदभावना नामक अंतराधिकार में चार विशेषांतराधिकार दिये गये हैं।

'तत्त्वदीपिका' के तृतीय महाधिकार में जिन गाथाओं को आचरणप्रज्ञापन अधिकार के अन्तर्गत लिया है, 'तात्पर्यवृत्ति' में उन्हीं गाथाओं को उत्सर्ग-चारित्र-व्याख्यान अधिकार व अपवादचारित्र-व्याख्यान अधिकार नामक दो अधिकारों में विभक्त किया है एवं 'तत्त्वदीपिका' की शुभोपयोगप्रज्ञापन व पंचरत्नप्रज्ञापन की गाथाओं को मोक्षमार्गाधिकार व शुभोपयोगाधिकार के अन्तर्गत लिया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'समयव्याख्या' (पंचास्तिकायसंग्रह)

क्रम	विषय	गाथासंख्या
प्रथम श्रुतस्कन्ध		
	षड्द्रव्य-पंचास्तिकाय वर्णन	१ से १०४
१.	सामान्य व्याख्यानरूप पीठिका	१ से २६
२.	जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान	२७ से ७३
३.	पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान	७४ से ८२
४.	धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का व्याख्यान	८३ से ८९
५.	आकाशद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान	९० से ९६
६.	चूलिका	९७ से ९९
७.	कालद्रव्यव्याख्यान	१०० से १०२
८.	उपसंहार	१०३ व १०४
द्वितीय श्रुतस्कन्ध		
	नवपदार्थपूर्वक मोक्षमार्गप्रपंच वर्णन	१०५ से १७३
१.	प्रारंभ	१०५ से १०८
२.	जीव पदार्थ का व्याख्यान	१०९ से १२३
३.	अजीव पदार्थ का व्याख्यान	१२४ ये १२७
४.	सात पदार्थों का उपोद्घात	१२८ से १३०
५.	पुण्य-पाप का व्याख्यान	१३१ से १३४
६.	आस्रव पदार्थ का व्याख्यान	१३५ से १४०
७.	संवर पदार्थ का व्याख्यान	१४१ से १४३
८.	निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान	१४४ से १४६
९.	बंध पदार्थ का व्याख्यान	१४७ से १४९
१०.	मोक्ष पदार्थ का व्याख्यान	१५० से १५३
११.	मोक्षमार्गप्रपंचसूचक चूलिका	१५४ से १७३

'तात्पर्यवृत्ति' (पंचास्तिकायसंग्रह)

क्रम	विषय	गाथा संख्या
१.	पंचास्तिकाय षड्द्रव्य प्रतिपादक महाधिकार	कुलगाथाएँ १११
	प्रथम समय शब्द की पीठिका	७ (१ से ७)
	द्वितीय द्रव्यपीठिका	१४ (८ से २१)
	तृतीय निश्चय-व्यवहार काल की मुख्यता से	५ (२२ से २६)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ	जीवद्रव्यास्तिकाय व्याख्यान	५३ (२७ से ७३)
पंचम	पुद्गलद्रव्यास्तिकाय व्याख्यान	१० (७४ से ८२)
षष्ठ	धर्माधर्मद्रव्यास्तिकाय व्याख्यान	७ (८३ से ८९)
सप्तम	आकाशास्तिकाय व्याख्यान	७ (९० से ९०)
अष्टम	पंचास्तिकाय षड्द्रव्यचूलिका व्याख्यान	७ (९६ से १०४)
२.	जीवादि नवपदार्थ प्रतिपादक महाधिकार	कुल गाथायें ५०
प्रथम	व्यवहार मोक्ष कथन मुख्यता	४ (१०५ से १०८)
द्वितीय	जीवपदार्थाधिकार	१६ (१०९ से १२३)
तृतीय	अजीव पदार्थाधिकार	४ (१२४ से १२७)
चतुर्थ	पुण्यादिसप्तपदार्थपीठिका	३ (१२८ से १३०)
पंचम	पुण्य-पाप पदार्थ व्याख्यान	४ (१३१ से १३४)
षष्ठ	पुण्य-पापास्रवव्याख्यान मुख्यता या शुभाशुभास्रव व्याख्यान मुख्यता	६ (१३५ से १४०)
सप्तम	संवर पदार्थ व्याख्यान	३ (१४१ से १४३)
अष्टम	निर्जरा पदार्थ व्याख्यान	३ (१४४ से १४६)
नवम	बंधाधिकार पदार्थ व्याख्यान	३ (१४७ से १४९)
दशम	मोक्षाधिकार पदार्थ व्याख्यान	४ (१५० से १५३)
३.	मोक्षमार्ग का विशिष्ट व्याख्यान महाधिकार	२० (१५४ से १७३)

'पंचास्तिकायसंग्रह' की १७३ गाथाओं को 'समयव्याख्या' में दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया है और 'तात्पर्यवृत्ति' में उन्हें तीन महाधिकारों में बाँटा है।

'समयव्याख्या' की 'पंचास्तिकाय पीठिका' को तात्पर्यवृत्ति में 'समय शब्द की पीठिका', 'द्रव्यपीठिका' और 'निश्चय-व्यवहार काल की मुख्यता' नामक तीन अंतराधिकारों में विभक्त किया है; पर साथ ही साथ तृतीय अंतराधिकार के अंत में 'पंचास्तिकाय पीठिका' भी कह दिया है।

'समयव्याख्या' में ९७ से १०४ तक की गाथाओं को 'चूलिका', 'कालद्रव्य का व्याख्यान' व 'उपसंहार' – इसप्रकार तीन भागों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विभक्त किया है; पर 'तात्पर्यवृत्ति' में इन गाथाओं को 'पंचास्तिकाय-षड्द्रव्यचूलिका व्याख्यान' नामक अंतराधिकार कहा है।

'समयव्याख्या' में १०५ से १०८ तक की गाथाओं को स्वतंत्र रूप से कहा है, पर 'तात्पर्यवृत्ति' में इन्हें 'व्यवहारमोक्षमार्गकथन-मुख्यता' नामक प्रथम अंतराधिकार कहा है।

'समयव्याख्या' में १२८ से १३० तक की गाथाओं को सप्त पदार्थों का उपोद्घात कहा है और 'तात्पर्यवृत्ति' में उन्हें पुण्यादि सप्त पदार्थों की पीठिका कहा है एवं 'समयव्याख्या' में जिन गाथाओं को मोक्षमार्गप्रपंचसूचक चूलिका कहा है, उन्हें ही 'तात्पर्यवृत्ति' में 'मोक्षमार्ग का विशिष्ट व्याख्यान' नामक तृतीय महाधिकार कहा है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र-कृत टीकाओं की समस्त बातों को स्वीकार करते हुए आचार्य जयसेन ने नवीन प्रमेय प्रस्तुत करने में कोई संकोच नहीं किया है; अपितु सहेतुक प्रतिपादित किया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मूलग्रन्थकर्त्ता के विषय को आचार्य अमृतचन्द्र ने क्रमबद्ध एवं प्रवाहशील बनाया है, तो जयसेन ने प्रत्येक पद की व्याख्या कर उसे सुपाठ्य और सुग्राह्य बनाया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अमृतचन्द्र तो मौलिक विचारक, स्वतंत्र चिन्तक और आत्मानुभवी थे ही; पर जयसेन भी उनसे कम आत्मार्थी व प्रतिभाशाली नहीं थे। उन्होंने भी उन सभी तथ्यों को यथास्थान देने का प्रयास किया है, जो कि अमृतचन्द्र की लेखनी से अछूते रहे थे। आपने न केवल टीका ही की है, अपितु पूर्वापर-विरोध का स्पष्टीकरण भी यथास्थान प्रस्तुत किया है। जो शंकाएँ प्रबुद्ध पाठकों के मस्तिष्क में सहज प्रस्फुटित होती थीं, उनका सरल-सहज समाधान किया है। इसप्रकार जयसेन की टीकायें अमृतचन्द्र की टीकाओं का अनुसरण करती हुई भी मौलिकता लिये हुये हैं।

यद्यपि सरल-सुबोध होने पर भी आचार्य जयसेन की टीकाओं को वह महत्त्व और प्रश्रय नहीं मिला, जो कि आचार्य अमृतचन्द्र की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

टीकाओं को। इसका एकमात्र कारण यही है कि अमृतचन्द्र की टीका गंभीर होने से अनेक विद्वानों द्वारा हिन्दी-टीका में रूपान्तरित हो गईं, किन्तु जयसेन की टीकायें संस्कृतविज्ञों को सुगम होने से हिन्दी अनुवाद से वंचित रहीं। यही कारण है कि वे अमृतचन्द्रीय टीकाओं के समान प्रचार-प्रसार में न आ सकीं।

जहाँ एक ओर उनकी सरलता ही उनके अप्रचलन का कारण बनी, वहाँ वही सरलता उनकी सुरक्षा का भी सबसे बड़ा कवच रही है। यदि आचार्य जयसेन अमृतचन्द्र-जैसी ही प्रौढ़ टीकायें लिखते तो वे अमृतचन्द्र की टीकाओं के सामने टिक न पाने के कारण संभवतः कालकवलित हो जातीं। अतः जयसेन ने सरल, सुबोध टीकायें लिखकर बहुत बड़ी बुद्धिमानी का काम तो किया ही है, एक कमी की पूर्ति भी की है।

आवश्यकता आज जयसेनीय टीकाओं के खड़ी बोली में सरल-सुबोध अनुवाद प्रकाशित कर अल्पमूल्य में जन-जन तक पहुँचाने की है। इससे न केवल जयसेनीय टीकाओं का प्रचार-प्रसार होगा, अपितु अध्यात्मप्रेमी समाज को जिन-अध्यात्म एवं जिन-दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने में भी सहजता होगी।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव-कृत टीका का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य कुन्दकुन्द के 'नियमसार' परमागम पर मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव-रचित 'तात्पर्यवृत्ति' नामक टीका है, जो मूल ग्रन्थ के भावों को प्रस्फुटित करने में पूर्ण समर्थ है। 'नियमसार' भावना-प्रधान ग्रन्थ है और यह टीका भी भावना-प्रधान ही है।

मुनिराज पद्मप्रभमलधारिदेव व्युत्पन्न विद्वान, सहृदय कवि एवं अध्यात्मरसिक आत्मानुभवी सन्त थे। 'नियमसार' की 'तात्पर्य-वृत्ति' टीका के प्रत्येक अधिकार के अन्त में समागत निम्नांकित पंक्तियाँ उनके अहं को नहीं, अपितु आत्मगौरव को ही प्रतिष्ठित करती हैं :—

"इति सुकविजनपयोजमित्रपंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रह-श्रीपद्मप्रभमलधारिदेवविरचितायां नियमसारव्याख्यायां तात्पर्यवृत्तौ ....श्रुतस्कन्धः।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust eGangotri

इसीप्रकार का भाव उनके निम्नांकित कथन में भी प्रस्फुटित हुआ है :

'प्राय: प्राचुर्येण निर्विकारं चित्तं प्रायश्चित्तम्, अनवरतं चान्तर्मुखाकारपरमसमाधियुक्तेन परमजिनयोगीश्वरेण पापाटवीपावकेन पंचेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहेण सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणिना परमागममकरंदनिष्यन्दिमुखपद्मप्रभेण कर्तव्य इति ।[1]"

स्वयं उनके लिये प्रयुक्त उक्त चारों विशेषण गाथा १०० की टीका में भी आये हैं ।

अन्तर्साक्ष्य एवं टीका में प्रस्फुटित आध्यात्मिक भावनाओं के आधार पर यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि वे पंचेन्द्रिय-विषयों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रह के धारी, परमसंयमी, परद्रव्यों से पराङ्मुख आत्मानुभवी सन्त थे ।

'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है । शैली की दृष्टि से पद्मप्रभमलधारिदेव-रचित 'नियमसार' की 'तात्पर्यवृत्ति' 'पंचास्तिकायसंग्रह' की अमृतचन्द्रीय 'समयव्याख्या' टीका के अधिक निकट है ।

अमृतचन्द्रीय टीकाओं के समान इसमें भी गद्य टीका के साथ पद्य भी दिये गये हैं । अमृतचन्द्रीय टीकाओं में उनके लिखे छन्द ही प्राप्त होते हैं; पर पद्मप्रभमलधारिदेव ने स्वयं तो छन्द लिखे ही हैं, साथ में अन्य ग्रन्थकारों के छन्दों को भी उद्धृत किया है । उद्धरणों में सर्वाधिक उद्धरण अमृतचन्द्रीय टीकाओं से ही लिये गये हैं ।

'तात्पर्यवृत्ति' पर अमृतचन्द्रीय टीकाओं का पर्याप्त प्रभाव होने पर भी यह उनकी अनुकृति मात्र नहीं है, इसमें मौलिकता भी है । इसमें दुरूहता तो है ही नहीं; पर अमृतचन्द्रीय 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वदीपिका' एवं 'समयसार' की 'आत्मख्याति' जैसी प्रौढ़ता के दर्शन भी दुर्लभ हैं, सर्वत्र 'पंचास्तिकायसंग्रह' की अमृतचन्द्रीय 'समयव्याख्या' जैसी सरलता ही दृष्टिगोचर होती है ।

टीका के बीच-बीच में समागत पद्यों में निम्नांकित अठारह छन्दों का प्रयोग हुआ है :–

---

[1] तात्पर्यवृत्ति, नियमसार गाथा ११३ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मालिनी, अनुष्टुभ्, शालिनी, आर्या, पृथ्वी, मंदाक्रान्ता, हरिणी, स्वागता, स्रग्धरा, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित, वसंततिलका, द्रुतविलम्बित, रथोद्धता, उपजाति, वंशस्थ और शिखरिणी।

नये प्रमेय की दृष्टि से कारणशुद्धपर्याय की चर्चा एक ऐसा प्रकरण है, जो समस्त जिनागम में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। वैराग्यरस से सराबोर यह टीका विषयविस्तार की दृष्टि से नहीं, वैराग्यभावना के पोषण की दृष्टि से लिखी गई परम शान्तरस की रचना है। अध्यात्मरस से सराबोर जैसा मूलग्रन्थ है, टीका भी उसी के अनुरूप परम अध्यात्म की प्रतिपादक वैराग्यरस के निर्मल जल की कल-कल नाद करती पावन सरिता है।

भ० श्रुतसागरसूरि-कृत टीका का समालोचनात्मक अध्ययन

आचार्य कुन्दकुन्द-कृत अष्टपाहुडों में से आरंभिक छह पाहुडों पर भट्टारक श्रुतसागरसूरि ने संस्कृत-टीका लिखी है। यह टीका जयसेनीय टीकाओं के समान पदखण्डान्वयी टीका है; पर इसमें जयसेनीय टीकाओं के समान सहजता व सरलता दृष्टिगोचर नहीं होती। जनसामान्य तो इससे अपरिचित ही है, विद्वानों में भी इसका प्रचलन बहुत कम है।

इसमें मूलग्रन्थ का भाव तो पूरी तरह स्पष्ट होता ही नहीं है, कहीं-कहीं मूल ग्रन्थ के भावों को तोड़-मरोड़ कर भी प्रस्तुत किया गया है, सैद्धान्तिक स्खलन भी कम नहीं है। इस संदर्भ में सूत्रपाहुड की निम्नांकित गाथा एवं उसकी टीका द्रष्टव्य है :—

"वालग्गकोडिमेत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं।
भुंजेई पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्कठाणम्मि ॥१७॥"

इसका सीधा-सा अर्थ है कि साधुओं के बालाग्र बराबर भी परिग्रह नहीं होता। वे अन्य के द्वारा हाथ में दिया गया भोजन एक स्थान पर खड़े होकर करते हैं।

भट्टारक श्रुतसागरसूरि इसकी टीका में लिखते हैं :—

'यो बहुवारं भुङ्क्ते स वन्दनीयो न भवतीति भावार्थः।'

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

—इस संदर्भ में मैं विशेष कुछ न लिखकर 'जैन साहित्य का इतिहास' में से पण्डित नाथूरामजी प्रेमी के कथन को उद्धृत कर देना पर्याप्त समझती हूँ :—

"टीकाग्रन्थ ही श्रुतसागर ने अधिक रचे हैं, परन्तु उन टीकाओं में मूल ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्रायों की अपेक्षा उन्होंने अपने अभिप्रायों को ही प्रधानता दी है। 'दर्शनपाहुड' की २४वीं गाथा की टीका में उन्होंने जो अपवाद वेष की व्याख्या की है, वह यही बतलाती है। वे कहते हैं कि दिगम्बर मुनि चर्या के समय चटाई आदि से अपने नग्नत्व को ढक लेता है; परन्तु यह उनका खुद का ही अभिप्राय है, मूल का नहीं। 'भावप्राभृत' की १४१वीं गाथा में कहा है कि जीव से रहित अचल शव होता है और सम्यग्दर्शन से रहित सचल शव। अचल शव लोक में अपूज्य होता है और लोकोत्तर में सचल शव। इसका अर्थ करके टीकाकार 'भावप्राभृत' का गोप्य बतलाते हुए कहते हैं कि लोंका (ढूंढिये) पापी मिथ्यादृष्टि हैं, क्योंकि वे जिनस्नपन-पूजन नहीं करते। उनसे सम्भाषण न करना चाहिये, उससे महापाप उत्पन्न होता है।

इसी प्राभृत की १३५वीं टीका में कहा है कि क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, अज्ञानियों के ६७ और वैनयिकों के ३२ भेद हैं—सब मिलाकर ३६३। इसमें अक्रियावादियों की टीका करते हुए लिखा है :— इन्द्र-चन्द्र-नागेन्द्र गच्छ में उत्पन्न हुये, चावलों का धोवन, क्वाथ आदि ग्रहण करनेवाले प्रायः कपटी और मायाबहुल श्वेतपट (श्वेताम्बर) मिथ्यादृष्टि हैं।

'बोधप्राभृत' की १७वीं गाथा की टीका में बिना प्रसंग के ही अपने भक्तों को अपनी पूजा कराने के लिये बड़ा जोरदार उपदेश दिया है। तुम सब पूजा करो, अष्टविधार्चन करो तथा विनय, हाथ जोड़ना, पैरों में पड़ना, सन्मुख जाकर लिवा लाना, वात्सल्य, भोजन-पान, पदमर्दन (पगचंपी), शुद्ध तैलादि से मालिश, प्रक्षालन आदि सब काम तीर्थंकर नामकर्म के उपार्जन में हेतुभूत हैं, तुम उन्हें करो।[1]"

---

[1] जै० सा० इति०, पृ० ३७५-३७६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रुतसागरसूरि की टीका में अनावश्यक विस्तार बहुत है, जो प्रवाह को अवरुद्ध करता है। इस संदर्भ में 'बोधपाहुड' की २७वीं, ३२वीं, ३३वीं व ४३वीं गाथाएँ तथा 'भावपाहुड' की ४५ से ५१ और 'मोक्षपाहुड' की ४६वीं एवं ६०वीं गाथाएँ द्रष्टव्य हैं।

महान संतों के ग्रन्थों की टीका में जैसी गंभीरता चाहिये, वह इसमें उपलब्ध नहीं होती। कटु भाषा का प्रयोग बहुत है। अनावश्यक आलोचना तो है ही; पर कहीं-कहीं तो अभद्र शब्दों का व्यवहार भी हुआ है, जो मूल ग्रन्थ की महिमा को कम करता है।

इस संदर्भ में पण्डित नाथूरामजी प्रेमी का यह कथन द्रष्टव्य है :-

"ये कट्टर तो थे ही, असहिष्णु भी बहुत थे। अन्य मतों का खण्डन और विरोध तो औरों ने भी किया है, परन्तु इन्होंने तो खण्डन के साथ-साथ बुरी तरह गालियाँ भी दी हैं। सबसे ज्यादा आक्रमण इन्होंने मूर्तिपूजा न करनेवाले लोंकागच्छों (ढूँढियों) पर किया है। जरूरत-गैरजरूरत जहाँ भी इनकी इच्छा हुई है, ये उन पर टूट पड़े हैं। इसके लिये इन्होंने प्रसंग की भी परवाह नहीं की। उदाहरण के लिये उनकी 'षट्पाहुड' टीका ले लीजिये। 'षट्पाहुड' में इस तरह के प्रसंग प्रायः हैं ही नहीं कि उनकी टीका में दूसरों पर आक्रमण किया जा सके; फिर भी किये गये हैं।

'दर्शनपाहुड' की मंगलाचरण के बाद की पहली ही गाथा है :-

'दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवरेहिं सिस्साणं।
तं सोऊण सकण्णे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥'

इसका सीधा अर्थ यह है कि जिनदेव ने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म दर्शनमूलक है; इसलिये जो सम्यग्दर्शन से रहित है, उसकी वंदना नहीं करनी चाहिये अर्थात् चारित्र तभी वंदनीय है, जब सम्यग्दर्शन से युक्त हो।

इस सर्वथा निरुपद्रव गाथा की टीका में कलिकाल-सर्वज्ञ कहते हैं कि दर्शनहीन कौन है? जो तीर्थंकर प्रतिमा नहीं मानते, उसे पुष्पादि से नहीं पूजते। जो कहते हैं :- व्रतों की क्या जरूरत है, आत्मा का ही पोषण करना चाहिये, उसे दुःख न देना चाहिये। मयूर की पिच्छि सुन्दर नहीं होती, सूत की सुन्दर होती है। शासनदेवों को न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पूजना चाहिये। आत्मा ही देव है, दूसरा कोई नहीं। वीर भगवान् के बाद तीन नहीं, आठ केवली हुये हैं। महापुराणादि विकथा हैं, इत्यादि। परन्तु ऐसा कहनेवाले मिथ्यादृष्टि चार्वाक – नास्तिक हैं। जब ये जिनसूत्र का उल्लंघन करें, तब आस्तिकों को चाहिये कि युक्तियुक्त वचनों से इनका निषेध करें। फिर भी यदि ये कदाग्रह न छोड़ें तो समर्थ। आस्तिक इनके मुँह पर विष्टा से लिपटे हुये जूते मारें, इसमें जरा भी पाप नहीं।[1]"

आचार्य जयसेनीय टीकाओं के सदृश ही आपने 'बोधपाहुड' में अंतराधिकार दिये हैं, पर वे क्रमबद्ध एवं सुनियोजित से नहीं लगते; क्योंकि अंतराधिकार कहीं दिये हैं, कहीं नहीं। जैसे कि 'बोधपाहुड' में प्रारंभ में कुछ नहीं कहा है। गाथा १३ के बाद आप कहते हैं कि प्रतिमाधिकार तृतीयः समाप्तः। तत्पश्चात् गाथा २३ के बाद सप्तम अधिकार की समाप्ति कही है और बीच के तीन अध्यायों के बारे में कुछ नहीं कहा है। अष्टम व नवम अधिकार के प्रारंभ व अन्त में दोनों जगह सूचना दी है एवं दशम को महाधिकार कहा है। इसके पश्चात् ५९ गाथा के बाद ग्यारहवें अध्याय की समाप्ति कही है तथा अंतिम ३ गाथाओं को चूलिका कहा है।

कहीं-कहीं[2] गाथा की उत्थानिका भी देते हैं। आपने शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी दी हैं। क्रिया-कारक संबंधों को भी बताया है। न केवल सूत्रकर्त्ता के सूत्रों में व्याकरणसम्मत टिप्पणियाँ दी हैं, अपितु उद्धरण में दी हुई गाथाओं में भी व्याकरण के अपवाद नियमों को बताया है।[3]

इसप्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि जयसेनीय टीकाओं के अनुकरण पर की गई आपकी टीकाएँ अनावश्यक विस्तार, कटु खण्डन, लम्बी-लम्बी कहानियाँ और अत्यधिक उद्धरणों से बोझिल होने के कारण ग्रन्थ को सरल करने की अपेक्षा दुरूह ही

---

[1] जै० सा० इति० पृ० ३७२

[2] बोधपाहुड, गाथा २४

[3] बोधपाहुड, गाथा ८ व २४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिक बनाती हैं। यही कारण है कि वे जनसामान्य में बिल्कुल प्रचलित नहीं हो पाईं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकारों में सर्वोपरि स्थान आचार्य अमृतचन्द्र को प्राप्त है। दूसरा स्थान निःसंदेहरूप से आचार्य जयसेन का है। उक्त दोनों टीकाकारों ने आचार्य कुन्दकुन्द के प्राभृतत्रय पर टीकायें लिखी हैं। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा एवं पाण्डे हेमराजजी-जैसे भाषाटीकाकारों के उपलब्ध हो जाने से आचार्य अमृतचन्द्र की टीकायें आज सर्वाधिक प्रचलित हैं। ध्यान रहे, 'समयसार' की 'आत्मख्याति' की भाषाटीका पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने विक्रम संवत् १८६४ में लिखी एवं 'प्रवचनसार' की 'तत्त्वदीपिका' की भाषाटीका पाण्डे हेमराजजी ने विक्रम संवत् १७०० में लिखी तथा 'पंचास्तिकायसंग्रह' की 'समय-व्याख्या' की भाषाटीका पण्डित राजमलजी एवं पाण्डे हेमराजजी ने विक्रम संवत् १७१६ व १७०० में लिखी थी।

इस युग में आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने उनके अनेक हिन्दी-गुजराती सस्ते संस्करण उपलब्ध कराके एवं उन पर मार्मिक प्रवचन करके उन्हें जन-जन की वस्तु बना दिया है।

आचार्य जयसेनीय टीकाओं को उपयुक्त हिन्दी अनुवादक न मिल पाने के कारण वे प्रचलन में विशेष न आ सकीं। अब उन पर हिन्दी टीकायें लिखी जा रही हैं। कुछ वर्ष पूर्व 'समयसार' की 'तात्पर्य-वृत्ति' पर आचार्य ज्ञानसागर एवं मुनिराज वीरसागर की टीकायें प्रकाशित हुई हैं।

'नियमसार' के टीकाकार पद्मप्रभमलधारिदेव को भी आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकारों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है; पर भट्टारक श्रुतसागरसूरि की 'षट्पाहुड' पर लिखी संस्कृत-टीका कुन्दकुन्द के स्तर के अनुरूप नहीं है। 'अष्टपाहुड' पर भी पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने टीका लिखी है, पर उन्होंने मात्र 'अष्टपाहुड' की गाथाओं को आधार बनाया है, श्रुतसागरसूरि की टीका को नहीं।

'समयसार' की टीका लिखते समय 'आत्मख्याति' को आधार बनाने वाले पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा 'अष्टपाहुड' पर टीका लिखते समय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भट्टारक श्रुतसागरसूरि की संस्कृत-टीका उपलब्ध होने पर भी उसे आधार नहीं बनाते हैं – इसका भी कुछ विशेष अर्थ है। उन्हें यह टीका कुन्दकुन्द के स्तर के अनुरूप प्रतीत नहीं हुई – बस यही प्रतीत होता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द की अध्यात्म-गंगा का यह तरल प्रवाह दो हजार वर्ष से कुन्दकुन्द से कानजी स्वामी तक लगातार प्रवाहित होता रहा है। कभी धीमा एवं विरल, कभी द्रुत एवं अविरल, जैसे भी हो; पर बहता रहा है; कभी विरमित नहीं हुआ यह प्रवाह। आगे भी हजारों वर्ष तक यह प्रवाह इसी प्रकार चलता रहेगा।

इस समर्थ महाप्रवाह को गति देने में आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन का जो अद्भुत और अभूतपूर्व योगदान है, उसका मूल्यांकन करना अति-दुष्कर, पर अत्यन्त आवश्यक कार्य है। इसीप्रकार पद्मप्रभमलधारिदेव का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है। हिन्दी-टीकाकारों में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा, पाण्डे हेमराजजी, पाण्डे राजमलजी आदि का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता। 'समयसार नाटक' के रूप में किया गया कविवर बनारसीदास का योगदान भी कम नहीं है।

इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को जन-जन की वस्तु बना देनेवाले आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का योगदान भी स्मरणीय है; जिन्होंने कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर लगातार ४५ वर्ष तक नियमित प्रतिदिन प्रवचन किए एवं उनके ग्रन्थों के अल्पमूल्य में अनेक संस्करण सुलभ कराने का भागीरथ कार्य किया है। समयसारादि ग्रन्थों पर किये गये उनके प्रवचन भी 'प्रवचन रत्नाकर' नाम से अनेक भागों में हिन्दी-गुजराती में प्रकाशित हो रहे हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्थ अध्याय

वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचार

समस्त जिनागम मोक्ष और मोक्षमार्ग के प्रतिपादन में ही समर्पित है, क्योंकि संसारी प्राणियों को मुक्ति का उपाय बताना ही जिनागम की रचना का मूल उद्देश्य रहा है। 'नियमसार' का तो आरंभ ही इस कथन से होता है :–

"मग्गो मग्गफलं ति य दुविहं जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवाओ तस्स फलं होइ णिव्वाणं॥[1]

जिनशासन में मार्ग और मार्गफल – ऐसे दो प्रकार का कथन किया गया है। मार्ग मोक्ष का उपाय है और निर्वाण उसका फल है।"

मोक्षमार्ग के प्रतिपादन के लिये उससे संबंधित विषयों का स्पष्टीकरण तथा वस्तु का वास्तविक स्वरूप एवं उसकी परिणमन व्यवस्था का सम्यक्बोध अत्यन्त आवश्यक है। इन सबके सम्यक्बोध के लिये जिनागम की प्रमाण-नयात्मक प्रतिपादन शैली एवं प्रतिपादक देवशास्त्र-गुरु का स्वरूप जानना भी आवश्यक है।

चूंकि आचार्य कुन्दकुन्द जिनागम के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, अतः उनके ग्रन्थों में उक्त सम्पूर्ण विषयवस्तु का प्रतिपादन भी स्वाभाविक ही है। उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयवस्तु एवं उनके दार्शनिक विचारों को हम निम्नानुसार वर्गीकृत कर सकते हैं :–

---

[1] नियमसार, गाथा २

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

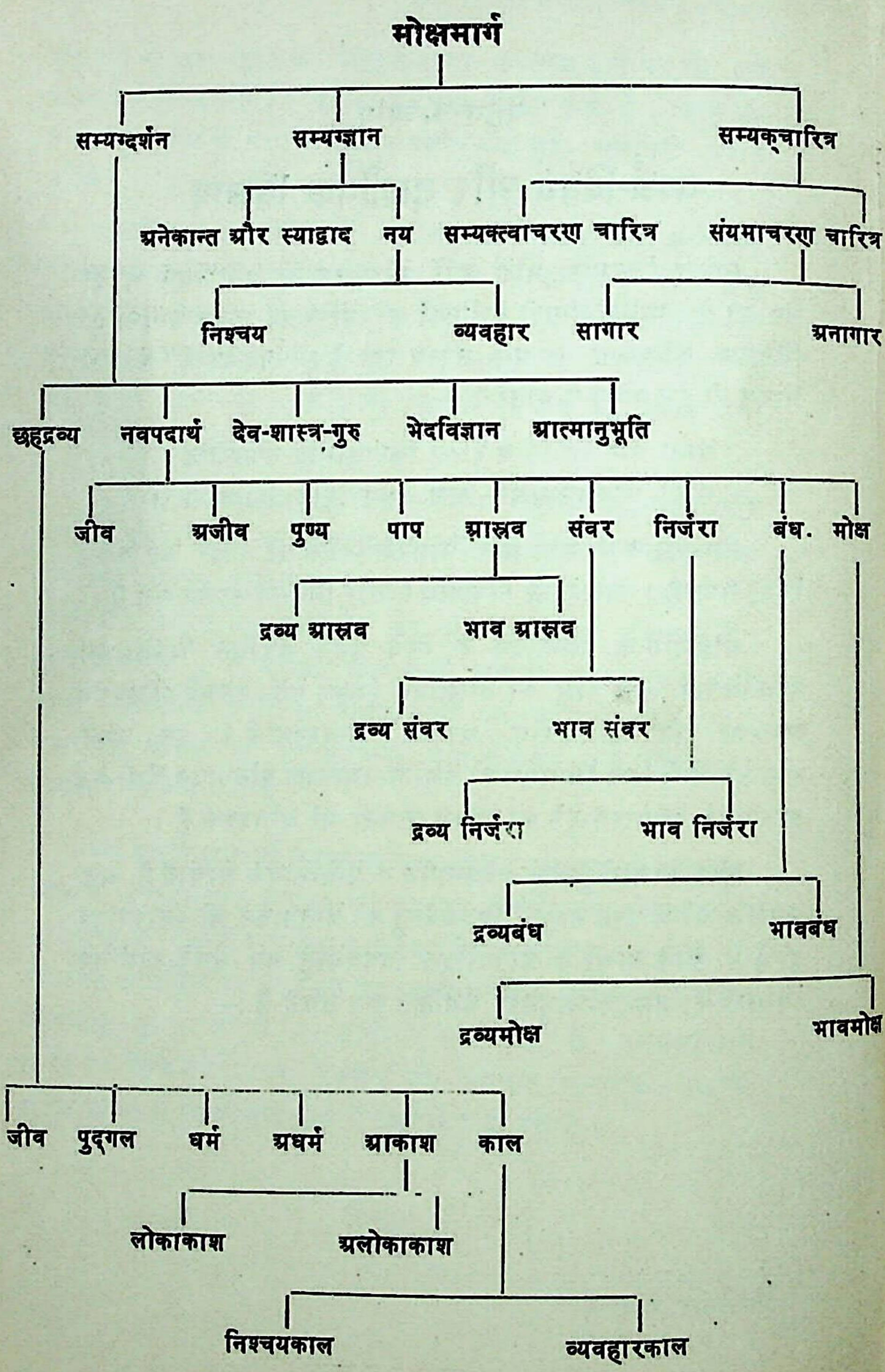

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकरूपता ही मोक्षमार्ग है। इन तीनों की अति संक्षिप्त परिभाषा 'पंचास्तिकायसंग्रह' में इसप्रकार दी गई है :–

"सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं।
चारित्तं समभावो विसएसु विरूढमग्गाणं॥[1]

भावों (पदार्थों) का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है और उनका ज्ञानं सम्यग्ज्ञान है तथा पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति वर्तता हुआ समभाव और आत्मा में आरूढ़भाव सम्यक्चारित्र है।"

यही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्षमार्ग आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों का मूल प्रतिपाद्य है। प्रस्तुत है यहाँ इनका और इनके माध्यम से व्यक्त हुये कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचारों का विवेचन।

१. सम्यग्दर्शन

आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल कहा है।[2] सम्यग्दर्शन के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :–

"छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥
जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाणं हवइ सम्मत्तं॥[3]

जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय एवं सात तत्त्वों का जो श्रद्धान करता है, उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये।

पर ध्यान रखने की बात यह है कि जिनेन्द्र भगवान ने इन जीवादि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहार से सम्यग्दर्शन कहा है अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है, निश्चय से तो मात्र आत्मा के श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहा गया है। तात्पर्य यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन तो आत्मश्रद्धान का नाम ही है।"

'नियमसार' में देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को भी सम्यग्दर्शन की परिभाषा में सम्मिलित किया गया है।[4]

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७
[2] दर्शनपाहुड, गाथा २ एवं ११
[3] दर्शनपाहुड, गाथा १९ एवं २०
[4] नियमसार, गाथा ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसप्रकार हम देखते हैं कि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये षट् द्रव्य, नव पदार्थ, पंच अस्तिकाय, सप्त तत्त्व, देव-शास्त्र-गुरु एवं इन सबसे भिन्न निज भगवान आत्मा को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन की विषयभूत उक्त समस्त विषयवस्तु पर ध्यान देते हैं तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि सात तत्त्वों एवं नौ पदार्थों में मात्र इतना ही अन्तर है कि सात तत्त्व के प्रकरण में पुण्य और पाप को आस्रव और बंध में गर्भित कर लिया गया है और नव पदार्थों में उन्हें पृथक् रखा गया है। इसीप्रकार कालद्रव्य को छोड़कर शेष पाँच द्रव्यों को ही पंचास्तिकाय कहते हैं।

इसप्रकार छह द्रव्यों एवं नव पदार्थों का निरूपण करने पर पंच अस्तिकायों और सप्त तत्त्वों का निरूपण भी हो ही जाता है।

बहुप्रदेशी द्रव्यों को ही अस्तिकाय कहते हैं। चूँकि कालद्रव्य एकप्रदेशी है, अतः उसे 'अस्तिकाय' संज्ञा प्राप्त नहीं होती।[१]

(क) छह द्रव्य :–

द्रव्य सत्स्वरूप है। वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-संयुक्त और गुण-पर्यायों का आश्रय होता है[२]। द्रव्य छह होते हैं :– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल।

जीवद्रव्य :– ज्ञान-दर्शनस्वभावी आत्मा को जीवद्रव्य कहते हैं। अवस्था की अपेक्षा जीव दो प्रकार के होते हैं :– संसारी व सिद्ध।

संसारी जीव प्रभु, कर्त्ता, भोक्ता, देहप्रमाण और कर्मसंयुक्त होते हैं[३]। वे मिथ्यादर्शन, कषाय, योग से सहित होते हैं और कर्मविमुक्त सिद्ध इनसे रहित होते हैं।[४]

पुद्गलद्रव्य :– बादर व सूक्ष्मरूप से परिणत स्कन्धों को पुद्गल द्रव्य कहते हैं।[५] इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य विषय, इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म और अन्य सभी मूर्त पदार्थ पुद्गल हैं।[६] पुद्गल दो प्रकार के हैं :–

---

[१] नियमसार, गाथा ३४ व ३६

[२] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १०

[३] 'पंचास्तिकायसंग्रह' में इन सभी विशेषणों को विस्तार से समझाया गया है, जो मूलतः पठनीय है।

[४] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ३२

[५] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ७६

[६] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ८२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभावपुद्गल और विभावपुद्गल।[1] स्वभावपुद्गल को परमाणु और विभावपुद्गल को स्कन्ध कहते हैं। इसप्रकार पुद्गल दो प्रकार का है :— परमाणु और स्कन्ध।[2] निश्चयनय से परमाणु को और व्यवहारनय से स्कन्ध को पुद्गलद्रव्य कहते हैं।

परमाणु अविभागी, एक, शाश्वत, मूर्तिप्रभव और अशब्द है। वह इन्द्रियग्राह्य नहीं है। परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गंधवाला और दो स्पर्शवाला है। वह शब्द का कारण है, पर स्वयं अशब्द है। स्कन्ध के भीतर होने पर भी स्वयं परिपूर्ण स्वतंत्र द्रव्य है।[3]

परमाणु दो प्रकार का होता है :— कारणपरमाणु व कार्य-परमाणु। जो चार धातुओं का हेतु है, वह कारणपरमाणु है एवं स्कन्धों का अन्तिम भाग कार्यपरमाणु है।[4]

स्कन्ध छह प्रकार के होते हैं :— अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म।

धर्मद्रव्य व अधर्मद्रव्य :— स्वयं चलते हुए जीव और पुद्गलों को गमन में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह धर्मद्रव्य है और गतिपूर्वक स्थिति करनेवाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में जो सहकारी (निमित्त) कारण है, वह अधर्मद्रव्य है।[5]

ये दोनों द्रव्य अस्पर्श, अरस, अगंध, अवर्ण, अशब्द, अखण्ड, लोकव्यापक, विशाल और असंख्यातप्रदेशी हैं।

आकाशद्रव्य :— समस्त द्रव्यों के अवगाहन में निमित्त आकाश द्रव्य है। यह दो प्रकार का होता है :— लोकाकाश व अलोकाकाश।

कालद्रव्य :— समस्त द्रव्यों में परिवर्तन का कारण कालद्रव्य है।[6] यह दो प्रकार का होता है :— व्यवहारकाल व निश्चयकाल।

---

[1] नियमसार, गाथा २७ की तात्पर्यवृत्ति टीका

[2] 'पंचास्तिकायसंग्रह' की ७४वीं गाथा में स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु — इसप्रकार पुद्गलद्रव्य के चार भेद किये हैं।

[3] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ८१

[4] नियमसार, गाथा २५

[5] नियमसार, गाथा ३०

[6] नियमसार, गाथा ३३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समय नाम की क्रमिक पर्याय व्यवहारकाल है। व्यवहारकाल का आधारभूत द्रव्य निश्चयकाल है। व्यवहारकाल क्षणभंगुर है, निश्चयकाल नित्य है। व्यवहारकाल दो प्रकार का है :– समय और आवलि; अथवा इसके तीन भेद हैं :– भूत, वर्तमान और भविष्य।

उक्त छहों द्रव्यों में जीव चैतन्यमय है, शेष द्रव्य अचेतन हैं। पुद्गलद्रव्य मूर्त है, शेष द्रव्य अमूर्त हैं।[1] बहिरंग साधन के साथ रहनेवाले जीव और पुद्गलद्रव्य सक्रिय हैं और शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं।[2]

जीव, धर्म और अधर्म द्रव्य के असंख्यात प्रदेश होते हैं। पुद्गलद्रव्य के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। लोकाकाश के असंख्यात और अलोकाकाश के अनन्त प्रदेश होते हैं। काल एकप्रदेशी है।

(ख) नौ पदार्थ :–

मूल पदार्थ दो ही हैं :– जीव और अजीव। शेष पदार्थ इन दोनों के ही विशेष हैं। जैसा कि आचार्यदेव स्वयं कहते हैं :–

"जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसिं।
संवरणं णिज्जरणं बंधो मोक्खो य ते अट्ठा ॥[3]

जीव और अजीव दो भाव तथा उनके विशेष पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नवपदार्थ हैं।"

जीव :– ज्ञानदर्शनस्वभावी आत्मा को जीवतत्त्व कहते हैं। जीव सुख की इच्छा करता है, दुःख से डरता है, अपना हित और अहित करता है एवं उनका फल भोगता है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक सभी त्रस व स्थावर जीव व्यवहारनय से जीव ही हैं, पर निश्चय से ये सब जीव नहीं हैं। उक्त संदर्भ में निम्नांकित गाथा द्रष्टव्य है :–

"ण हि इंदियाणि जीवा काया पुण छप्पयार पण्णत्ता।
जं हवदि तेसु णाणं जीवो त्ति य तं परूवेंति ॥[4]

---

[1] नियमसार, गाथा ३७
[2] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा ९८
[3] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १०८
[4] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १२१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं और जिनागम में पृथ्वीकायादि छह काय भी जीव नहीं हैं, उनमें रहनेवाला ज्ञान ही जीव है – ज्ञानीजनों द्वारा ऐसी प्ररूपणा की जाती है।"

अजीव :– ज्ञान-दर्शनस्वभाव से रहित तथा आत्मा से भिन्न पुद्गलादि द्रव्य अजीव हैं। ये सुख-दुःख के ज्ञान तथा हित के उद्यम और अहित के भय से रहित होते हैं। संस्थान, संघात, स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि गुण व पर्यायें पुद्गल की हैं, आत्मा इनसे भिन्न अरस, अरूप, अगंध, अशब्द, अव्यक्त है, इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य है, अनिर्दिष्ट संस्थानवाला है।

पुण्य-पाप :– पुण्य और पाप दोनों ही आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। शुभभावों से पुण्यास्रव और पुण्यबंध होता है तथा अशुभ भावों से पापास्रव और पापबंध होता है। बंध चाहे पुण्य का हो या पाप का, वह है तो आखिर बंध ही। उससे आत्मा बँधता ही है, मुक्त तो नहीं होता। 'समयसार' में पुण्य को सोने की बेड़ी एवं पाप को लोहे की बेड़ी बताया है।[1]

ये पुण्य और पाप दोनों ही भाव वस्तुतः आस्रव व बंध के ही भेद हैं। पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव व बंध में किसप्रकार होता है – इसे निम्नलिखित चार्ट द्वारा आसानी से समझा जा सकता है :–[2]

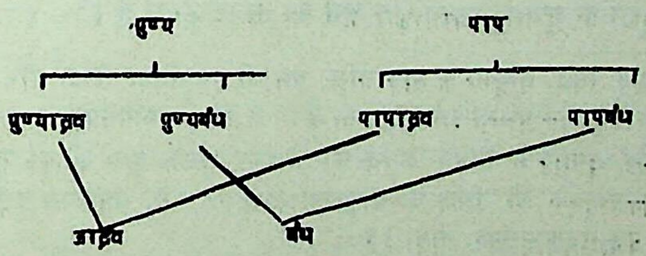

[1] समयसार, गाथा १४६

[2] पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ १७२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भावास्रव, भावबंध, भावपुण्य और भावपाप – ये सब आत्मा के विकारी भाव हैं और द्रव्यास्रव, द्रव्यबंध, द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप – ये सब पुद्गल (कार्माण वर्गणा) के परिणमन हैं।

आस्रव :– आत्मा में उत्पन्न होनेवाले मोह-राग-द्वेषभाव एवं उनके निमित्त से कर्मों का आना आस्रव है। इसके दो भेद होते हैं :– भावास्रव और द्रव्यास्रव। भावास्रव को जीवास्रव और द्रव्यास्रव को अजीवास्रव भी कहते हैं। पुण्यास्रव और पापास्रव के रूप में भी आस्रव के दो भेद किये जाते हैं।

प्रशस्त राग[1], अनुकम्पायुक्त परिणाम[2] और चित्त में कलुषता[3] के अभाव में पुण्य का आस्रव होता है।[4]

बहुप्रमाद वाली चर्या, विषयों के प्रति लोलुपता, पर को कष्ट देना, पर का अपवाद करना, चार संज्ञायें, तीन लेश्यायें, इन्द्रियवशता, आर्त-रौद्रध्यान, दुःप्रयुक्तज्ञान और मोह द्वारा पाप का आस्रव होता है।[5]

आस्रवों के भेद या कारण मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग माने गये हैं।[6]

संवर :– आस्रव का रुकना संवर है। जो सर्वद्रव्यों के प्रति राग-द्वेष-मोह से रहित होते हैं, इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओं का निग्रह करते हैं, जिसके पुण्य और पाप भाव नहीं होते हैं – ऐसे सम सुख-दुःख भिक्षुओं के शुभाशुभभाव-कृत कर्म का संवर होता है।[7]

---

[1] अर्हंत, सिद्ध, साधुओं के प्रति भक्ति, धर्म की यथार्थतया चेष्टा और गुरुओं का अनुगमन प्रशस्त राग कहलाता है। – पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३६

[2] तृषा, क्षुधादि से पीड़ित व्यक्ति को देखकर उसके दुःख को दूर करने के विकल्पपूर्वक जो चित्त में आकुलता होती है, उसे अनुकम्पा कहते हैं। – पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३७

[3] क्रोध, मान, माया, लोभ के उदय से चित्त का क्षोभ ही कलुषता है। – पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३८

[4] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३५

[5] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १३९-१४०

[6] समयसार, गाथा १६४

[7] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १४१ से १४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के साथ संवर तत्त्व की प्राप्ति होती है। शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के बिना न तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है, न संवर की। भेदविज्ञान के बल से शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की उपलब्धि से राग-द्वेष-मोह का अभाव जिसका लक्षण है – ऐसा संवर होता है।[1] यह भी दो प्रकार का होता है :– द्रव्यसंवर और भावसंवर।

निर्जरा :– द्रव्य और भावकर्मों के बंध का एकदेश अभाव होना ही निर्जरा है। निर्जरा संवरपूर्वक ही होती है। चैतन्यस्वभावी त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व के आश्रय से होनेवाली अकषाय भावरूप शुद्धि की वृद्धि ही निर्जरा तत्त्व है। निर्जरा तप से होती है। जैसा कि आचार्यदेव स्वयं कहते हैं :–

"संवरजोगेहिं जुदो तवेहिं जो चिट्ठदे बहुविहेहिं।
कम्माणं णिज्जरणं बहुगाणं कुणदि सो णियदं ॥[2]

संवर और योग से युक्त जो जीव अनेक प्रकार के तपों को करता है, वह नियम से अनेक कर्मों की निर्जरा करता है।"

चैतन्यस्वभाव में निस्तरंग स्थिरता ही तप है।[3] आत्मा के शुद्ध स्वभाव के आश्रय से इच्छाओं का निरोध अवश्य होना चाहिये, अन्यथा वह तप नहीं कहा जा सकता है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मा के आश्रय से शुद्धि की वृद्धि करते हुए निरन्तर इच्छाओं का अभाव करते जाते हैं, उनकी यह परिणति ही तप है और इससे ही निर्जरा होती है।

अतः स्पष्ट है कि कषायों के अभाव में होनेवाली परिणामों की शुद्धता ही वास्तविक तप है और उससे ही निर्जरा होती है, जो दो प्रकार की है :– द्रव्यनिर्जरा व भावनिर्जरा।

बंध :– आत्मा में उत्पन्न मोह-राग-द्वेष भाव एवं उनका निमित्त पाकर कर्माणुओं का आत्मप्रदेशों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक

---

[1] समयसार, गाथा १८३ की 'आत्मख्याति' टीका

[2] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १४४

[3] "स्वरूपविश्रान्तनिस्तरंगचैतन्यप्रतपनाच्च संयमतपःसंयुतः।"
– प्रवचनसार, गाथा १४ की 'तत्त्वदीपिका' टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो जाना बंध है। जीव का कर्माणुओं के साथ बंध होने का बहिरंग कारण मन-वचन-कायजनित योग है और अन्तरंग कारण मोह-राग-द्वेष से युक्त आत्मपरिणाम है।[१]

यद्यपि आठ प्रकार के कर्मों के बंध के कारण द्रव्यमिथ्यात्वादि कहे गये हैं; किन्तु बंध का मुख्य हेतु जीव के रागादिभाव ही हैं; क्योंकि इसके अभाव में जीव नहीं बँधता है।

मोक्ष :– ज्ञानी को रागादिभाव के अभाव होने से नियम से आस्रव का निरोध होता है, आस्रव के अभाव से कर्म का निरोध होता है और कर्मबन्ध का अभाव होने से इन्द्रियरहित, अव्याबाध, अनन्त सुख की प्राप्ति होती है।[२] बंध का सर्वथा अभाव ही मोक्ष है। जीव की मोक्षरूप सिद्धदशा अनन्त आनन्दरूप है। वह आनन्द अतीन्द्रिय आनन्द है। उस अलौकिक आनन्द की तुलना लौकिक इन्द्रियजन्य सुख से संभव नहीं है। अधिक स्पष्ट रूप से कहें तो मोह-राग-द्वेष आदि समस्त विकारों, दुःखों, ज्ञानावरणादि कर्मों और देहादिक नोकर्मों से पूर्णतः मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। यह दो प्रकार का होता है :– द्रव्यमोक्ष और भावमोक्ष।

आत्मा के जो शुद्धभाव, कर्मबन्धन और मोह-राग-द्वेष आदि विकारी भावों से पूर्णतः मुक्त होने में हेतु हैं, वे भाव भावमोक्ष हैं अर्थात् ज्ञानादि गुणों का पूर्ण विकास – पूर्ण शुद्धपर्याय का प्रगट होना ही भावमोक्ष है और ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों एवं देहादि नोकर्मों से सर्वथा छूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

संवर-निर्जरा मोक्षमार्ग होने से कारण हैं और मोक्ष कार्य है। संवर-निर्जरा उपाय तत्त्व हैं और मोक्ष उपेय तत्त्व है। मोक्ष और मोक्षमार्गस्वरूप होने से संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं और आस्रव, बंध, पुण्य, पाप संसरण के कारण संसारतत्त्व होने से हेयतत्त्व हैं।

जीव और अजीव द्रव्यतत्त्व हैं और शेष सभी पर्यायतत्त्व हैं। पर-द्रव्यों और पर्याय तत्त्वों से भिन्न निज भगवान आत्मा परम-उपादेय

---

[१] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १४८

[२] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १५० व १५१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्व है। उसी में एकत्व स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन, उसी को जानने का नाम सम्यग्ज्ञान एवं उसी में जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है – यही सच्चा मोक्षमार्ग है, यही संवर-निर्जरा एवं मोक्ष है। परम-उपादेय तत्त्व निज भगवान आत्मा की आराधनारूप होने से संवर, निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व कहे गये हैं। इनमें संवर-निर्जरा एकदेश शुद्ध होने से एकदेश उपादेय हैं और मोक्ष पूर्णतः शुद्ध होने से पूर्ण उपादेय है।

निज भगवान आत्मा को छोड़कर शेष सभी जीव और अजीव तत्त्व मात्र ज्ञेय ही हैं; वे न तो हेय हैं; न उपादेय ही, मात्र जानने योग्य ही हैं।

(ग) देव-शास्त्र-गुरु :–

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का स्वरूप जानना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

"जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।।[1]

जो द्रव्य-गुण-पर्याय से अरहंत को जानता है, वह अपने आत्मा को भी जानता है और उसका दर्शनमोह नष्ट हो जाता है अर्थात् वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करता है।"

देव :– जो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हों, वे सच्चे देव हैं। जो मोह-राग-द्वेष, जन्म-मरण, भूख-प्यास आदि अठारह दोषों से रहित हों, उन्हें वीतराग कहते हैं। अलोकाकाश सहित तीन लोक व तीन काल के समस्त पदार्थों को उनके गुण-पर्यायों सहित एक समय में पूर्णतः जानें, वे सर्वज्ञ हैं।

लोक में सब मिलाकर अनन्तानन्त द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं और प्रत्येक गुण की त्रिकालवर्ती अनन्तानन्त पर्यायें होती हैं। उन समस्त द्रव्यों, गुणों और पर्यायों को सर्वज्ञ भगवान एक समय में इन्द्रियादि की सहायता के बिना परिपूर्णरूप से जानते हैं। समस्त

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ८०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जगत में जो कुछ हो चुका है, हो रहा है और भविष्यकाल में जो कुछ भी होनेवाला है, सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में वह सब वर्तमान में वर्तमानवत् ही स्पष्ट झलकता है। सर्वज्ञ की त्रिकालज्ञता के संबंध में कुन्दकुन्दाचार्य का निम्नलिखित कथन द्रष्टव्य है :–

"जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ।।[1]

यदि अनुत्पन्न (भविष्य की) और विनष्ट (भूत की) पर्यायें सर्वज्ञ के ज्ञान में प्रत्यक्ष न हों तो उस ज्ञान को दिव्य कौन कहेगा ?"

आचार्य अमृतचन्द्र ने समस्त ज्ञेयों को एक क्षण में सम्पूर्ण गुण और पर्यायों सहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रत्यक्ष जानने की चर्चा इस प्रकार की है :–

"अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्ता-नन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्त-मपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं......।[2]

एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त भूत-वर्तमान-भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले अगाध स्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्र को – मानों वे द्रव्य ज्ञायक में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों, इसप्रकार एक क्षण में ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है....।"

आत्मा का स्वभाव समस्त ज्ञेयों को एक समय में जानने का है; अतः जब आत्मा में ज्ञान-गुण की पूर्ण विकसित शुद्ध पर्याय केवलज्ञान प्रगट हो जाती है तो उसमें समस्त लोकालोक सहज ही प्रतिबिम्बित हो जाते हैं।

मुक्ति के मार्ग का उपदेश ही हितोपदेश है। अरहन्त भगवान की दिव्य वाणी में मुक्ति के मार्ग का ही उपदेश होता है; अतः वे

---

[1] प्रवचनसार, गाथा ३९

[2] प्रवचनसार, गाथा २०० की 'तत्त्वदीपिका' टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ही हितोपदेशी हैं। उनकी वाणी के अनुसार ही समस्त जिनागम लिखा गया है, अतः शास्त्र का सही स्वरूप जानना ही 'हितोपदेशी' विशेषण का सही ज्ञान है।

शास्त्र :– अरहन्त परमात्मा की पवित्र वाणी में समागत पूर्वापर विरोध-रहित तत्वार्थों का शुद्ध प्रतिपादन ही आगम है।[1]

आप्त (सच्चे देव) वीतरागी और पूर्णज्ञानी होते हैं, अतः उनका हितोपदेश (वाणी) भी वीतरागता का पोषक और पूर्णता की ओर ले जानेवाला होता है। वीतराग की वाणी होने से जिनवाणी की पंक्ति-पंक्ति वीतरागता की पोषक होती है। जो वाणी राग-द्वेष आदि भावों को धर्म (मुक्ति का मार्ग) बताये, वह वाणी जिनवाणी (शास्त्र) नहीं हो सकती। समस्त जिनवाणी का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता है।[2]

गुरु :– सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये देव और शास्त्र के समान गुरु का स्वरूप समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। गुरु के स्वरूप को समझने में अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है, क्योंकि गुरु तो मुक्ति के साक्षात् मार्गदर्शक होते हैं। यदि उनके स्वरूप को भलीभाँति न समझा गया तो गलत गुरु के संयोग में भटक जाने की संभावना अधिक बनी रहती है।

जैनदर्शन में गुरुत्व की कल्पना कुलादिक की अपेक्षा से नहीं है, किन्तु दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अपेक्षा से है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा जो महान बन चुके हैं, उनको गुरु कहते हैं। आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी गुरु कहलाते हैं। पंचेन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित, सर्वप्रकार के आरंभ और परिग्रह से रहित, ज्ञान, ध्यान और तप में सदा लीन रहनेवाले तपस्वी साधु ही गुरु हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने 'अष्टपाहुड' में गुरु के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है। जहाँ एक ओर उन्होंने वस्त्रादि बाह्य परिग्रहादि के धारक तथाकथित गुरुओं को मोक्षमार्ग से च्युत माना है, वहीं बाह्य में नग्न दिगम्बर होने पर भी जो अन्तर में मोह-राग-द्वेष से

---

[1] नियमसार, गाथा ८

[2] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १७२ की 'समयव्याख्या' टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

युक्त हों, उनमें भी गुरुत्व का निषेध करते हुए सावधान किया है। वे लिखते हैं :–

"जे पंचचेलसत्ता गंथग्गाही य जायरणासीला ।
आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि ।।[1]

जो पाँच प्रकार के वस्त्रों में आसक्त हैं, उनमें से किसी भी प्रकार का वस्त्र ग्रहण करते हैं, याचना करते हैं, अधःकर्म आदि पापकर्मों में रत हैं, सदोष आहार लेते हैं, वे मोक्षमार्ग से च्युत हैं।"

यद्यपि साधु नग्न ही होते हैं, तथापि नग्न हो जाने मात्र से कोई साधु नहीं हो जाता। उन्हीं के शब्दों में :–

"दव्वेण सयल णग्गा णारयतिरिया य सयलसंघाया ।
परिणामेण असुद्धा ण भावसवणत्तणं पत्ता ।।
णग्गो पावइ दुक्खं णग्गो संसारसायरे भमइ ।
णग्गो ण लहइ बोहिं जिणभावणवज्जिओ सुइरं ।।
भावेण होइ णग्गो मिच्छत्ताई य दोस चइऊणं ।
पच्छा दव्वेण मुणी पयडदि लिंगं जिणाणाए ।।[2]

द्रव्य से बाह्य में तो सभी प्राणी नग्न होते हैं। नारकी और तिर्यंच जीव तो निरन्तर वस्त्रादि से रहित नग्न ही रहते हैं। मनुष्यादि भी कारण पाकर नग्न होते देखे जाते हैं, तो भी वे सब परिणामों से अशुद्ध हैं, अतः भावश्रमणपने को प्राप्त नहीं होते हैं।

जिनभावना से रहित अर्थात् सम्यग्दर्शन से रहित नग्नश्रमण सदा दुःख पाता है, संसार-सागर में भ्रमण करता है और वह बोधि अर्थात् रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग को चिरकाल तक नहीं पाता है।

पहले मिथ्यात्व आदि दोषों को छोड़कर भाव से अन्तरंग नग्न हो अर्थात् एकरूप शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करे, पश्चात् बाह्य में द्रव्यलिंग प्रगट करे – यह मार्ग है अर्थात् जिनाज्ञा है।"

उक्त रत्नत्रय के धनी परम वीतरागी नग्न दिगम्बर भावलिंगी सन्तों के प्रति यदि हमारे हृदय में रंचमात्र भी अवज्ञा का भाव रहा तो हम मुक्तिमार्ग से बहुत दूर रहेंगे, साथ ही जिनागम में वर्णित गुरु

---

[1] अष्टपाहुड; मोक्षपाहुड, गाथा ७९

[2] अष्टपाहुड; भावपाहुड, गाथा ६७, ६८, ७३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के स्वरूप के अनुरूप जो श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र के धारक नहीं हैं, यदि हमने उन्हें भय, आशा, स्नेह और लोभादिक के कारण गुरु के समान पूजा – पूज्य माना; तब भी हम मुक्ति मार्ग के समीप नहीं आ सकेंगे। इस संदर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का निम्न कथन द्रष्टव्य है :–

"जे वि पडंति य तेसिं जाणंता लज्जागारवभयेण।
तेसि पि णत्थि बोही पावं अणुमोयमाणाणं ।।[1]

जो व्यक्ति उन सम्यग्दर्शनरहित साधुओं को जानते हुए भी लज्जा, गौरव और भय के कारण नमस्कारादि करते हैं, उन्हें पूजते हैं, पाप की अनुमोदना करनेवाले होने के कारण वे भी सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।"

यदि देव साक्षात् मोक्षस्वरूप है तो गुरु साक्षात् मोक्षमार्ग हैं। वे एकप्रकार से चलते-फिरते सदेह सिद्ध ही हैं।

गुरु के स्वरूप-प्रतिपादन में आचार्य कुन्दकुन्द ने विशेष सतर्कता रखी है, क्योंकि गुरु के भेष में रहनेवाले अगुरु धर्म और धर्मात्माओं के लिये सर्वाधिक खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द अपने युग के गुरुओं के भी गुरु थे, परम्परा-प्रवर्तक एवं प्रशासक आचार्य थे, गुरुओं में समागत शिथिलाचार को समाप्त करने का उनका सर्वाधिक उत्तरदायित्व था, जिसे वे बखूबी समझते थे।

यही कारण है कि 'नियमसार' के अत्यन्त वैरागी एवं भावुक कुन्दकुन्द 'अष्टपाहुड' में अत्यन्त कठोर प्रशासक के रूप में प्रस्तुत हुये हैं। गुरु के सन्दर्भ में 'अष्टपाहुड' में प्रकट किये गये उनके विचार मूलतः पठनीय हैं।

(घ) भेदविज्ञान :–

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में भेदविज्ञान को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। जिनागम में भेदविज्ञान की महिमा को अचिन्त्य माना गया है। क्योंकि शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति से संवर होता है और शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति भेदविज्ञान से होती है, अतः परिपूर्ण सुख की प्राप्ति के लिये भेदविज्ञान अत्यावश्यक है।[2] जबतक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान

---

[1] अष्टपाहुड; दर्शनपाहुड, गाथा १३

[2] आत्मख्याति, कलश १२९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(आत्मा) में न लग जावे, तबतक भेदविज्ञान की उपासना निरन्तर करनी चाहिये।[1]

पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही भेदविज्ञान है। भेदविज्ञान स्व और पर के बीच किया जाता है, अतः इसे स्व-पर भेदविज्ञान भी कहा जाता है। वस्तुतः यह आत्मविज्ञान ही है, क्योंकि पर से भिन्न निजात्मा को जानना ही इसका मूल प्रयोजन है।

दृष्टि की अपेक्षा ज्ञानानन्द स्वभावी निजात्मा ही स्व है, इसके अतिरिक्त परजीव, समस्त अजीव एवं आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विकारी (आस्रव, बंध, पुण्य, पाप) व अविकारी (संवर, निर्जरा, मोक्ष) पर्यायें भी पर हैं; अतः समस्त परजीवद्रव्यों, अजीवद्रव्यों, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप पर्याय तत्त्वों से दृष्टि हटाकर इनसे भिन्न निजात्म ध्रुव तत्त्व में दृष्टि और ज्ञान को केन्द्रित करना ही स्व-पर-भेदविज्ञान है।

भेदविज्ञानी जीव आत्मा को रागी-द्वेषी अनुभव नहीं करता और न ही वह आत्मा को सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि आदि भेदों से अनुभव करता है। अनुभव में अशुद्धता और भेद नजर नहीं आता। भेदविज्ञानी तो पर से भिन्न स्व को जानता है, मानता है और अनुभव करता है। भेदविज्ञान में स्व मुख्य है, पर गौण; क्योंकि पर की मुख्यता में स्व गौण हो जाता है।

ऐसे भेदविज्ञानी आत्मार्थी जीव मुक्तिमार्ग के पथिक जिनेश्वर के लघुनन्दन हैं। महाकवि पण्डित बनारसीदास ने उनकी वंदना इस प्रकार की है :–

"भेदविज्ञान जग्यौ जिन्ह के घट,
सीतल चित्त भयौ जिम चंदन।
केलि करैं सिव मारग मैं,
जग माँहि जिनेसुर के लघु नंदन।।
सत्यसरूप सदा जिन्ह कै,
प्रगट्यौ अवदात मिथ्यात-निकंदन।
सांतदसा तिन्ह की पहिचानि,
करै कर जोरि बनारसि वंदन।।[2]"

---

[1] आत्मख्याति, कलश १३०

[2] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द ६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'समयसार' की 'आत्मख्याति' टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है :–

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।।[1]

जितने भी जीव सिद्ध हुये हैं, वे सब भेदविज्ञान मे ही हुए हैं और जितने भी संसार में दुःखी होकर भटक रहे हैं, वे सब भेदविज्ञान के न होने से ही भटक रहे हैं ।"

(ङ) आत्मानुभूति :–

आत्मानुभूति के अभाव में सम्यग्दर्शन संभव नहीं । आत्मानुभूति ही वह सोपान है, जिसके द्वारा सम्यग्दर्शन को प्राप्त किया जा सकता है । आत्मानुभूति से ही सम्पूर्ण दुःखों से छुटकारा एवं परिपूर्ण सुख की उपलब्धि होती है । आत्मानुभूति के बिना व्रत, तप, ध्यान आदि समस्त क्रियायें निरर्थक हैं, अकार्यकारी हैं । इस संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्न कथन द्रष्टव्य है :–

"अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पै -
रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रा -
न्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ।।[2]

बहुत कथन एवं दुर्विकल्पों से क्या लाभ ? अन्तिम रूप से इतना कहना है कि एकमात्र परमार्थस्वरूप आत्मा का नित्य अनुभव करो, क्योंकि निजरस के प्रसार से परिपूर्ण ज्ञानस्वरूपी शुद्धात्मा से बढ़कर दुनिया में कुछ और नहीं है । एकमात्र निज शुद्धात्मा का अनुभव करना ही सार है ।"

महाकवि बनारसीदास अनुभव को चिन्तामणि रत्न एवं रस का खजाना बताते हैं । उन्हीं के शब्दों में :–

"अनुभव चिन्तामणि रतन, अनुभव है रसकूप ।[3]"

---

[1] आत्मख्याति, कलश १३१

[2] आत्मख्याति, कलश २४४

[3] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १८ का पूर्वार्द्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसीप्रकार अनुभव को ही सबसे बड़ा तीर्थ एवं अमृतस्वरूप बताते हुए वे कहते हैं कि अनुभव के समान अन्य कोई धर्म नहीं है :–

"अनुभौ के रस कौं रसायन कहत जग,
अनुभौ अभ्यास यहु तीरथ की ठौर है।
अनुभौ की जो रसा कहावे सोई पोरसा सु,
अनुभौ अधोरसा सौं उरध की दौर है।।
अनुभौ की केलि यहै कामधेनु चित्रावेलि,
अनुभौ कौ स्वाद पंच अमृत कौ कौर है।
अनुभौ करम तोरै परम सौं प्रीति जोरै,
अनुभौ समान न धरम कोऊ और है।।[1]"

आत्मानुभूति को स्वानुभूति भी कहते हैं; क्योंकि अनुभूति स्व (अपने आत्मा) की ही होती है, अन्य की नहीं। स्वानुभव, अनुभव व अनुभूति आदि नामों से भी इसे अभिहित किया जाता है।

सुख-दुःख, ठंडा-गरम, कड़ा-नरम आदि की अनुभूति आत्मानुभूति नहीं कहलाती; अपितु समस्त विकारी एवं अविकारी पर्यायों से रहित त्रिकाली ध्रुव आत्मतत्त्व की अनुभूति ही आत्मानुभूति कहलाती है एवं इसे ही अनुभव, स्वानुभव, अनुभूति, स्वानुभूति आदि नामों से अभिहित करते हैं।

अनुभव की परिभाषा देते हुए महाकवि पण्डित बनारसीदासजी लिखते है :–

"वस्तु विचारत ध्यावतैं, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभौ याकौ नाम।।[2]

वस्तुस्वरूप का विचार करते-करते, ध्यान करते-करते मन के विकल्प रुक जाते हैं और आत्मा का स्वाद आने पर अतीन्द्रिय आनन्द आने लगता है; इसी स्थिति को अनुभव कहते हैं।"

---

[1] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १९

[2] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानुभूति के संदर्भ में डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है :–

"अन्तरोन्मुखी वृत्ति द्वारा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का नाम ही आत्मानुभूति है। वर्तमान प्रगटज्ञान को परलक्ष्य से हटाकर स्वतत्त्व में लगा देना ही आत्मसाक्षात्कार की स्थिति है। स्वानुभूति प्राप्त करने की प्रक्रिया निरन्तर तत्त्वमंथन की प्रक्रिया है, किन्तु तत्त्वमंथनरूप विकल्पों से भी आत्मानुभूति प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि कोई भी विकल्प ऐसा नहीं है जो आत्मानुभूति को प्राप्त करा दे।[१]"

इसप्रकार स्पष्ट है कि समस्त परपदार्थों से दृष्टि हटाकर ज्ञानानन्दस्वभावी निजात्मतत्त्व के आश्रय से ही आत्मानुभूति प्रगट होती है। यह आत्मानुभूति ही धर्म कहलाती है। इसी से धर्म का प्रारम्भ होता है एवं इसी में धर्म की पूर्णता भी होती है। यही महाकवि पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं :–

"अनुभव मारग मोख कौ, अनुभव मोखस्वरूप।[२]"

आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं के मंगलाचरण में स्वानुभूति से प्रकाशित होनेवाले शुद्धात्मा को नमस्कार करते हैं।

'आत्मख्याति' में मंगलाचरण करते हुए वे लिखते हैं :–

"नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे।।[३]"

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

"एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं।।[४]

हे भव्य जीवो! एकमात्र निजात्मा में ही लीन हो जावो, हमेशा इसमें ही संतुष्ट रहो, इससे ही तृप्त हो जावो, तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति अवश्य होगी।"

---

[१] तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १३५

[२] समयसार नाटक, उत्थानिका, छन्द १८

[३] आत्मख्याति, कलश १

[४] समयसार, गाथा २०६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२. सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शन-सहित ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। यहाँ 'सम्यक्' का अर्थ लोकप्रचलित सत्य नहीं है, अपितु 'सम्यक्' से तात्पर्य आत्मानुभूति से प्राप्त सम्यक्त्व की उपस्थिति से है। सम्यक्त्व से रहित व्यक्ति की लौकिक जानकारी सत्य होने पर भी मिथ्याज्ञान ही है एवं सम्यक्त्व से युक्त व्यक्ति की लौकिक जानकारी असत्य होने पर भी सम्यग्ज्ञान ही कहलाती है; अतः स्पष्ट है कि ज्ञान के सम्यक् व मिथ्यापन का निर्णय लौकिक विषयों की सामान्य जानकारी की सच्चाई पर आधारित न होकर सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन की उपस्थिति के आधार पर होता है।

सम्यक्त्वसहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान व सम्यक्त्वरहित या मिथ्यात्व-सहित ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

ज्ञान पाँच प्रकार का होता है :– मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। सम्यग्दृष्टि के मति, श्रुत और अवधि क्रमशः सुमति, सुश्रुत और सु-अवधि कहलाते हैं तथा मिथ्यादृष्टि के कुमति, कुश्रुत और कु-अवधि। मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं, इसलिये उनमें इसप्रकार का भेद नहीं होता।

इसप्रकार सम्यग्दृष्टि के पाँच और मिथ्यादृष्टि के तीन – कुल ज्ञान आठ प्रकार के होते हैं। इनमें सम्यग्दृष्टि के होनेवाला पाँच प्रकार का ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है और मिथ्यादृष्टि के होनेवाला तीन प्रकार का ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द की कृतियों में सम्यग्ज्ञान की परिभाषायें निम्नप्रकार हैं :–

१. नवपदार्थों का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[1]
२. जीव-अजीव का भेदज्ञान सम्यग्ज्ञान है।[2]
३. हेयोपादेय तत्त्वों का जाननेरूप भाव सम्यग्ज्ञान है।[3]

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १०७
[2] अष्टपाहुड; मोक्षपाहुड, गाथा ४१
[3] नियमसार, गाथा ५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४. आत्मा और अनात्मा का संशय, विभ्रम, विमोह-रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ।[1]

५. आत्मा का जानना ही सम्यग्ज्ञान है ।[2]

सम्यग्ज्ञान की उक्त परिभाषाओं में मूलतः कोई अन्तर नहीं है। वे मात्र विभिन्न प्रकरण में विभिन्न दृष्टिकोणों से लिखी गई हैं ।

सम्यग्ज्ञान में परद्रव्यों का जानना इतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना कि आत्मतत्त्व का । सम्यग्ज्ञान का मूल ज्ञेय पर से विभक्त और निज से अविभक्त आत्मा ही है; इसीलिये आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में उक्त एकत्व-विभक्त आत्मा को ही निज वैभव से दिखाने की प्रतिज्ञा की है । वे कहते हैं :–

"तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ।।[3]"

प्रस्तुत गाथा की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञान-घनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमितिबद्धव्यसायोस्मि ।

मेरा यह सम्यग्ज्ञानरूपी वैभव स्याद्वाद की भाषा में अभिव्यक्त जिनागम (शब्दब्रह्म) के सेवन से, समस्त विपक्ष के निरसन में समर्थ निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, परमगुरु वीतराग-सर्वज्ञ अरहन्त और अपरगुरु गणधरादि आचार्य परम्परा गुरु के उपदेश से प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से उत्पन्न हुआ है । उसी से मैं इस एकत्व विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा ।"

उक्त कथन में सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के कारणों पर प्रकाश डाला गया है । कहा गया है कि सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति आगम के

---

[1] नियमसार, गाथा ५१

[2] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा ४१

[3] समयसार, गाथा ५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सेवन, युक्ति के अवलम्बन, परम्परा गुरु के उपदेश एवं आत्मा के अनुभव से होती है तथा सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाना गया वस्तु का अनेकान्तात्मक सम्यक् स्वरूप स्याद्वाद शैली में अभिव्यक्त होता है।

(क) अनेकान्त और स्याद्वाद :–

वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक है। प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म व गुण रहते हैं। एक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले धर्मों का प्रकाशित होना ही अनेकान्त है। इस संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :–

"स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य। स तु सर्वमनेकांतात्मकमित्यनुशास्ति,....तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः।[1]

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला अर्हन्त सर्वज्ञ का अस्खलित (निर्बाध) शासन है। वह कहता है कि सभी वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं।........जो वस्तु तत् है, वही अतत् है, जो एक है, वही अनेक है, जो सत् है, वही असत् है, जो नित्य है, वही अनित्य है – इसप्रकार एक वस्तु में वस्तुत्व की उत्पादक परस्पर दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है।"

अनेकान्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल लिखते हैं :–

"'अनेकान्त' शब्द 'अनेक' और 'अन्त' दो शब्दों से मिलकर बना है। अनेक का अर्थ होता है :– एक से अधिक। एक से अधिक दो भी हो सकते हैं और अनन्त भी। दो और अनन्त के बीच अनेक अर्थ संभव हैं। तथा अन्त का अर्थ है :– धर्म अर्थात् गुण। प्रत्येक वस्तु में अनन्त गुण विद्यमान हैं, अतः जहाँ अनेक का अर्थ अनन्त होगा, वहाँ अन्त का अर्थ गुण लेना चाहिये। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ होगा :– अनन्त गुणात्मक वस्तु ही अनेकान्त है; किन्तु जहाँ अनेक का अर्थ दो लिया जाएगा, वहाँ अन्त का अर्थ धर्म होगा। तब यह अर्थ होगा :– परस्पर

---

[1] समयसार, पृष्ठ ६४८; प्रकाशक, पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, सप्तमावृत्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विरुद्ध प्रतीत होनेवाले दो धर्मों का एक ही वस्तु में होना अनेकान्त है।[1]"

'स्याद्वाद' शब्द में 'स्यात्' पद का सही अर्थ समझना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि 'स्यात्' पद तिङन्त न होकर निपात है।[2] वह संदेह का वाचक न होकर एक निश्चित अपेक्षा का वाचक है।

वस्तु के अनेकान्त स्वरूप को समझानेवाली सापेक्ष कथन-पद्धति को स्याद्वाद कहते हैं।[3]

वस्तु को पूर्णरूप से सात रूपों में कहा जा सकता है :-

स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-नास्ति अवक्तव्य।

उक्त सात रूपों को ही सप्तभंगी कहते हैं। मूल में तो दो ही भंग हैं :- वक्तव्य और अवक्तव्य। उक्त सात भंगों में तीन भंग वक्तव्य के व चार भंग अवक्तव्य के हैं। अवक्तव्य का स्वतंत्र भंग संभव होने के कारण उसके चार भंग हुये एवं वक्तव्य का स्वतंत्र भंग संभव न होने के कारण उसके तीन भंग हुये। इस संबंध में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं :-

"........स्वरूपपररूपस्वपररूपयोगपद्यै: सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभंगिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति।[4]

........जो स्वरूप से, पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् सत्, असत् और अवक्तव्य है – ऐसे अनन्तधर्मों वाले द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित-अविवक्षितता के विधि-निषेध के द्वारा

---

[1] तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १४२, १४३

[2] आप्तमीमांसा, श्लोक १०३

[3] लघीयस्त्रय टीका (अनेकान्त और स्याद्वाद, पृष्ठ २२)

[4] प्रवचनसार, गाथा ११५ की 'तत्त्वदीपिका' टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रगट होनेवाली सप्तभंगी निरन्तर सम्यक्तया उच्चारित करने पर स्यात्कार रूप अमोघ मन्त्रपद के द्वारा एवकार में रहनेवाले समस्त विरोध विष के मोह को दूर करती है।"

इससे स्पष्ट है कि स्याद्वाद, वस्तु में विद्यमान विवक्षित गुणों को मुख्य करता हुआ अविवक्षित गुणों को गौण करता है, अभाव नहीं। 'स्यात्' पद के प्रयोग बिना अभाव का भ्रम उत्पन्न हो सकता है।

विवक्षा-अविवक्षा, मुख्य-गौण वाणी के भेद हैं, वस्तु के नहीं। वस्तु तो पर से निरपेक्ष होती है, उसमें समस्त गुण सर्वत्र समानरूप से रहते हैं। उनमें मुख्य-गौण का भेद संभव नहीं, किन्तु वाणी में समस्त गुणों को एकसाथ कहने की सामर्थ्य न होने से कथन में मुख्य-गौण का भेद किया जाता है।

प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले अनेक धर्म-युगल होते हैं, जिन्हें स्याद्वाद अपनी सापेक्ष शैली में प्रतिपादित करता है।

अनेकान्त व स्याद्वाद का प्रयोग करते समय अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता है। जैसा कि आचार्य अमृतचन्द्र के निम्नांकित कथन से स्पष्ट है :–

"अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥[1]

जिनेन्द्र भगवान का स्याद्वादरूपी नयचक्र अत्यन्त पैनी धारवाला और दुःसाध्य है। (इसे अत्यन्त सावधानी से चलाया जाना चाहिये, क्योंकि) यह दुर्विदग्ध मिथ्याज्ञानी पुरुषों के मस्तक को तुरन्त ही खण्ड-खण्ड कर देता है।"

(ख) नय :–

ज्ञाता के अभिप्राय को नय कहते हैं।[2] कहीं-कहीं वक्ता के अभिप्राय को भी नय कहा गया है।[3] नय अनन्त हो सकते हैं, पर

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ५९
[2] आलापपद्धति, श्लोक ९ की टीका
[3] स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २८ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द ने मुख्यतः चार नयों का प्रयोग किया है :– निश्चय, व्यवहार, द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक ।

निश्चयनय को शुद्धनय और व्यवहारनय को अशुद्धनय कहते हैं। निश्चयनय भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ। जैसा कि 'समयसार' में कहा है :–

"ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ।।[1]

व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। जो जीव शुद्धनय का आश्रय लेता है, वह अवश्य सम्यग्दृष्टि होता है।'

व्यवहारनय वस्तु के भेदरूप व निश्चयनय उसके अभेदरूप का कथन करता है अथवा व्यवहारनय वस्तु के अशुद्ध (संयोगी) स्वरूप का कथन करता है और निश्चयनय वस्तु के शुद्ध (सत्य) स्वरूप का कथन करता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

"ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्य जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ।।[2]

जीव व देह एक हैं – यह व्यवहारनय का कथन है और जीव व देह एक नहीं हैं – यह निश्चयनय का कथन है।"

यहाँ जीव व शरीर के संयोग को देखकर उन्हें एक कहा गया है, अतः यह व्यवहार का कथन हुआ। जीव व शरीर एक शरीर में रहने पर भी वे एक नहीं हैं, भिन्न ही हैं; अतः उन्हें भिन्न बतानेवाला कथन असंयोगी कथन होने से निश्चयनय का कथन हुआ।

"आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः[3] – स्वाश्रित कथन को निश्चय व पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं।"

---

[1] समयसार, गाथा ११

[2] समयसार, गाथा २७

[3] 'आत्मख्याति', समयसार गाथा २७२ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयनय से जाने हुये जीवादि सप्ततत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।[१] इस नय का आश्रय करनेवाले जीव को ही निर्वाण की प्राप्ति होती है।[२]

आत्मा पुद्गलद्रव्य को करता है, उत्पन्न करता है, बाँधता है, परिणमन कराता है और ग्रहण करता है—यह व्यवहारनय का कथन है।[३] व्यवहारनय हेय है, असत्यार्थ है, फिर भी साधक अवस्था में स्थित जीवों के लिये जिनवाणी में इसप्रकार के कथन किये जाते हैं; क्योंकि व्यवहारकथन स्वयं सत्य न होते हुए भी सत्य की प्रतीति में निमित्त है, निश्चय का प्रतिपादक है; अतः प्रारंभिक भूमिका में इसकी उपयोगिता है। इसीलिये जैन शास्त्रों में इसे स्थान प्राप्त है। 'समयसार' में कहा है :—

"जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेदुं।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ।।[४]

जिसप्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा बिना समझाना संभव नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश संभव नहीं है।"

अतः जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है।

इसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि म्लेच्छ को समझाने के लिये भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े, पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं। उसीप्रकार निश्चय का प्रतिपादक होने से भले ही व्यवहार का आश्रय लेना पड़े, पर उसका अनुकरण करना ठीक नहीं। आपने स्पष्टरूप से कहा है :—

"इति वचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः" ।[५]

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए वे आगे पुनः कहते हैं :—

---

[१] समयसार, गाथा १३

[२] समयसार, गाथा १०७

[३] समयसार, गाथा १२

[४] समयसार, गाथा ८

[५] आत्मख्याति, समयसार गाथा ८ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"अतः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्यः[१] – प्रत्यगात्मदर्शियों (कर्मों से भिन्न आत्मा के देखनेवालों) को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है।"

यद्यपि व्यवहारनय निषेध्य और निश्चयनय निषेधक है[२], तथापि पक्ष तो दोनों नयों का ही छोड़ना चाहिये। कहा भी है :–

"कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खादिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥[३]

व्यवहारनय कहता है कि जीव कर्मों से बँधा है, किन्तु निश्चयनय कहता है कि अबद्ध है – यह दोनों नयों का पक्ष है और जो पक्षातिक्रान्त है, वह समयसार है।"

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि :–

"ततो य एव समस्तनयपक्षमतिक्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विंदति।

समस्त नयपक्ष छोड़नेवाला ही विकल्पों को छोड़ता है और वही समयसार का अनुभव करता है।"

आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मा का आश्रय लेना आवश्यक है। नयपक्षातीत जीव शुद्धात्मा का अनुभव करता हुआ दोनों नयों के कथन को जानता ही है, नयपक्ष को किंचित् भी ग्रहण नहीं करता।[४]

यहाँ यह बात सावधानी से समझने की है कि यहाँ नयों का पक्ष छुड़ाया है, निश्चयनय का विषयभूत अर्थ नहीं। व्यवहारनय का मात्र पक्ष ही नहीं, विषयभूत अर्थ भी छोड़ने योग्य है; पर निश्चयनय का मात्र पक्ष छोड़ना है, उसके विषयभूत अर्थ को तो ग्रहण करना है।

इस संदर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र का निम्नलिखित कलश द्रष्टव्य है :–

---

[१] आत्मख्याति, समयसार गाथा ११ की टीका

[२] समयसार, गाथा २७२

[३] समयसार, गाथा १४२

[४] समयसार, गाथा १४३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि ।
नास्ति बंधस्तदत्यागात्तत्यागाद्बंध एव हि ।।[1]

यहाँ यही तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बंध नहीं होता और त्याग से बंध होता है ।"

इसप्रकार जो जीव नयपक्षातीत होकर शुद्धनय के विषयभूत अर्थ शुद्धात्मा का आश्रय लेता है, वह सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करता है ।

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये एकमात्र आत्मा का जानना, अनुभवना आवश्यक है, बाकी तो सब ज्ञान के सहज ज्ञेय बन जाते हैं । आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

"सम्मद्दंसणणाणं एसो लहदि त्ति णवरि ववदेसं ।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ।।[2]

नयपक्षातीत जीव ही समयसार है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है ।"

ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन द्रव्य को जानना हो, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । ज्ञान के जिस अंश का प्रयोजन पर्याय को जानना हो, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

नियमसार-टीका में कहा है :–

"द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः । पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः ।[3]

जिस नय का प्रयोजन द्रव्य ही है, वह द्रव्यार्थिकनय है और जिस नय का प्रयोजन पर्याय ही है, वह पर्यायार्थिकनय है ।"

जो नय पर्याय को गौण करके द्रव्य को ग्रहण करता है, उसे द्रव्यार्थिकनय कहते हैं । जो नय द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है, उसे पर्यायार्थिकनय कहते हैं ।

जैसा कि आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं :–

---

[1] आत्मख्याति, कलश १२२
[2] समयसार, गाथा १४४
[3] तात्पर्यवृत्ति, नियमसार गाथा १९ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

"दव्वत्थिएण जीवा वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणएण जीवा संजुता होंति दुविहेहिं ॥[1]
द्रव्यार्थिकनय से जीव पूर्वकथित पर्याय से रहित (भिन्न) हैं और पर्यायार्थिकनय से उन पर्यायों से संयुक्त है।"

आगम में वस्तु की व्यवस्था के अनुसार नय लगते हैं; अतः इसमें द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का प्रयोग होता है। स्व के द्रव्यांश को द्रव्यार्थिकनय व स्व के पर्यायांश को पर्यायार्थिकनय ग्रहण करता है।

अध्यात्म में भेदविज्ञान की विवक्षा मुख्य होने से स्व-पर की विवक्षा मुख्य है, अतः इसमें निश्चय-व्यवहारनय का प्रयोग होता है। यद्यपि अध्यात्म में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिकनय का और आगम में निश्चय-व्यवहार का प्रयोग भी मिलता है, पर बहुत कम; क्योंकि उनकी प्रकृति एक-दूसरे के अनुकूल नहीं है।

द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय एक द्रव्य में भेद करते हैं और निश्चयनय अभेदद्रव्य को पकड़ता है, वह भेद को ही पर कहता है।

आचार्य कुन्दकुन्द-कृत 'समयसार' व 'नियमसार' में निश्चय-व्यवहार की मुख्यता है और 'प्रवचनसार' व 'पंचास्तिकायसंग्रह' में द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नय की मुख्यता है।

३. सम्यक्चारित्र

सम्यक्चारित्र का मुक्तिमार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र को साक्षात् धर्म ही कहा है। धर्म के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं :–

"चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥[2]
मोह-राग-द्वेष आदि विकारी परिणामों से रहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है और वही चारित्र है।"

वस्तुतः आत्मस्वरूप में रमण करना ही चारित्र है। वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है।[3]

---

[1] नियमसार, गाथा १९
[2] प्रवचनसार, गाथा ७
[3] तत्त्वदीपिका, प्रवचनसार गाथा ७ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समता, मध्यस्थता, शुद्धोपयोग, वीतरागता, धर्म, स्वभाव की आराधना और चारित्र – ये सब एकार्थवाची हैं।

चारित्र के पूर्व 'सम्यक्' पद का प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरण की निवृत्ति के लिए किया गया है।

इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं :–

"न हि सम्यग्व्यपदेशं चरित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥[1]

अज्ञानपूर्वक धारण किया गया चारित्र सम्यक्चारित्र नहीं कहा जाता; अतः सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के बाद ही चारित्र की आराधना करने को कहा गया है।"

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से रहित चारित्र कुछ भी कार्यकारी नहीं होता, बल्कि जिसप्रकार अंधे का दौड़ना उसके पतन का कारण होता है, उसीप्रकार अज्ञानपूर्वक किया गया चारित्र उसके पतन का कारण होता हैं। इसीलिये तो कहा है :–

"तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥[2]

सर्वप्रथम सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व की उपासना करना चाहिये; क्योंकि उसके होने पर ही ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं।"

सम्यग्दर्शन के बिना सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र नहीं होते हैं – यह नियम है। चारित्र दो प्रकार का है :– स्वचारित्र और परचारित्र। जैसाकि निम्नांश से स्पष्ट है :–

"द्विविधं हि किल संसारिषु चरितं:– स्वचरितं परचरितं च, स्वसमयपरसमयावित्यर्थः। तत्र स्वभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं स्वचरितं परभावावस्थितास्तित्वस्वरूपं परचरितम्।[3]

चारित्र दो प्रकार का होता है :– स्वचारित्र (स्वसमय), और परचारित्र (परसमय)। स्वभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र

---

[1] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक ३८

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, श्लोक २१

[3] समयव्याख्या, पंचास्तिकायसंग्रह गाथा १५४ की टीका

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वचारित्र है और परभाव में अवस्थित अस्तित्वरूप चारित्र पर-चारित्र है।"

जिन मोह-राग-द्वेष भावों से जीव को परद्रव्य में शुभाशुभ भाव होते हैं, उन भावों द्वारा वह जीव परचारित्र का आचरण करनेवाला है।[1] और जो परद्रव्यात्मक भावों से रहित होता हुआ दर्शन-ज्ञानरूप भेद को आत्मा से अभेदरूप ध्याता है, वह जीव स्वचारित्र को प्राप्त करता है।[2]

चारित्रपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र के सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र – ये दो भेद किये हैं।[3]

मन, वचन, काय से शंकादि दोषों को दूर कर निःशंकादि गुणों सहित ज्ञानयुक्त आचरण करनेवाले को सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है।[4]

संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का है। जैसा कि कहा गया है :–

"दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।
सायारं सग्गंथे परिग्गहा रहिय खलु णिरायारं ।।[5]

संयमाचरण चारित्र दो प्रकार का है :– सागार और निरागार। परिग्रहसहित श्रावक के सागार चारित्र होता है और परिग्रहरहित मुनि के निरागार चारित्र होता है।"

ग्रन्थसहित श्रावक के ग्यारह प्रतिमायें होती हैं।[6] वह श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत – इसप्रकार बारह व्रतों का धारक होता है।[7]

श्रावक देशचारित्र का धारक होता है, मुनि सकलचारित्र के।[1]

पाँच इन्द्रियों का संवर, पाँच व्रत, पाँच व्रतों की पच्चीस क्रियाएँ, पाँच समिति और तीन गुप्ति के सद्भाव होने पर निरागार

---

[1] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १५६
[2] पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १५९
[3] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा ४, ५
[4] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा ६, ७
[5] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा २१
[6] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा २२
[7] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा २३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संयमाचरण होता है।[2]

संयमाचरण चारित्र सम्यक्त्वाचरण चारित्रपूर्वक ही होता है। जो सम्यक्त्वाचरण चारित्र से भ्रष्ट हैं और संयम का आचरण करते हैं, उन्हें मुक्ति प्राप्त नहीं होती है।[3]

निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्र – इसप्रकार के भेद भी चारित्र के किये गये हैं। 'नियमसार' में लिखा है :–

"ववहारणिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्य होदि तवचरणं ।
णिच्छयणयचारित्ते तवचरणं होदि णिच्छयदो ॥[4]

अब व्यवहार व निश्चय से चारित्र के दो प्रकारों का वर्णन करूँगा। व्यवहारचारित्र में व्यवहारनय का तपश्चरण होता है और निश्चयनय के चारित्र में निश्चय से तपश्चरण होता है।"

'नियमसार' में व्यवहारचारित्र के अन्तर्गत पाँच व्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति व पंचपरमेष्ठी के स्वरूप को एवं निश्चयचारित्र के अंतर्गत परमार्थप्रतिक्रमण, निश्चयप्रत्याख्यान, परमालोचना, निश्चयप्रायश्चित्त, परमभक्ति, निश्चयपरमावश्यक और शुद्धोपयोग को लिया गया है।

४. अकर्तावाद :–

यद्यपि आचार्य कुन्दकुन्द ने आत्मार्थी जीवों के लिये वस्तु का सत्यस्वरूप एवं विशुद्ध मुक्ति के मार्ग का ही प्रतिपादन किया है, तथापि उनके प्रतिपादन में दार्शनिक विषयों पर भी सहज ही पर्याप्त प्रकाश पड़ गया है, जिसकी चर्चा यथासमय यथासंभव हो ही चुकी है; फिर भी उनके अकर्तावाद पर यहाँ थोड़ी-बहुत चर्चा अवश्य अपेक्षित है।

---

[1] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा २७
[2] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा २८
[3] अष्टपाहुड; चारित्रपाहुड, गाथा १०
[4] नियमसार, गाथा ५४ व ५५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन दार्शनिकों ने जब भी अकर्तावाद की चर्चा की है, तब लगभग सभी ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द की प्रवृत्ति इससे कुछ हटकर है। 'समयसार' में सबसे अधिक स्थान घेरनेवाले कर्ता-कर्म अधिकार में ईश्वर की चर्चा तक नहीं है। उनका कहना तो यह है कि कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्य का कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है, वह अपने परिणमन का कर्त्ता-हर्त्ता भी स्वयं ही है, अन्य कोई नहीं। वे लिखते हैं :–

"जदि सो परदव्वाणि य करेज्ज णियमेण तम्मग्रो होज्ज।
जम्हा ण तम्मग्रो तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता॥'[1]

यदि आत्मा परद्रव्यों को करे तो वह नियम से तन्मय अर्थात् परद्रव्यमय हो जावे, किन्तु आत्मा उनसे तन्मय नहीं है – परद्रव्यमय नहीं है, अत: उनका कर्त्ता भी नहीं है।"

वे अपनी बात को अनेक तर्क और युक्तियों से सिद्ध करते हैं। प्रत्येक वस्तु की पूर्ण स्वतंत्रता ही उनका अकर्त्तावाद है। उनके अकर्त्तावाद का तात्पर्य स्वकर्त्तावाद से ही है। परकर्तृत्व संबंधी जो कथन जिनागम में या लोक में देखने में आते हैं, वे सव उपचारमात्र कथन हैं, निश्चय से उनमें कोई सत्यता नहीं है। वह उपचार भी वैसा ही है, जैसाकि लोक में सेना के द्वारा युद्ध किये जाने पर यह कहा जाता है कि राजा ने युद्ध किया। राजा तो आराम से राजमहल में ही बैठा है, वह तो युद्ध के मैदान में गया ही नहीं है, फिर भी कहा जाता है कि राजा ने युद्ध किया। इसीप्रकार सभी उपचार-कथनों के संबंध में समझना चाहिये।

उक्त प्रकरण से संबंधित 'समयसार' की गाथायें इसप्रकार हैं :–

"जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण॥ १०५॥

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण॥ १०६॥

[1] समयसार, गाथा ९९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव के परिणामों का निमित्त देखकर जीव ने कर्म किये – ऐसा उपचार से कहा जाता है। जिसप्रकार योद्धाओं के द्वारा युद्ध किये जाने पर 'राजा ने युद्ध किया' – ऐसा लोग कहते हैं, उसीप्रकार ज्ञानावरणादि कर्म जीव ने किये – ऐसा कहा जाता है।"

उनके अकर्त्तावाद को समझने के लिये 'समयसार' के कर्त्ता-कर्म अधिकार का गहराई से अध्ययन किया जाना अपेक्षित है।

□

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रतिपादन में उन सम्पूर्ण विषयों को समाहित कर लिया है, जो आत्महित के लिये अत्यन्त उपयोगी हैं, मोक्षमार्ग के मूलाधार हैं।

उनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थराज 'समयसार' में नवतत्त्वों के साथ-साथ आत्मा के शुद्धस्वरूप का प्रतिपादन है, जिसके आश्रय से मुक्तिमार्ग का आरंभ होता है, मुक्ति की प्राप्ति होती है। 'समयसार' में उसी शुद्धात्मा में रम जाने, जम जाने की पावन प्रेरणा दी गई है। उक्त मार्ग में कोई भटक न जावे – इस भावना से 'अष्टपाहुड' में कदम-कदम पर बड़ी कठोरता सें सावधान किया गया है। 'पंचास्तिकाय-संग्रह' में जैनदर्शन की वस्तु-व्यवस्था पर संक्षिप्त प्रकाश डालकर 'प्रवचनसार' में उसकी गहराइयों में गोता लगाया गया है।

उनके दार्शनिक विचार मूलतः जैनदर्शन के ही दार्शनिक विचार हैं; क्योंकि अद्यावधि उपलब्ध जिनागम के आद्य प्रणेताओं में उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है, द्वितीय श्रुतस्कन्ध के वे एकमात्र आद्यप्रणेता हैं। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थराज परवर्ती परमागम (अध्यात्मशास्त्र) के उपजीव्य हैं।

यद्यपि उनके ग्रन्थों में जैनदर्शन के सभी विचारों का सशक्त प्रतिपादन हुआ है, तथापि पुण्य-पाप की समानता एवं परकर्तृत्व का निषेध ऐसे बिन्दु हैं, जो विशेष उभरकर सामने आये हैं।

मूलतः वे जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक जैनाचार्य हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पंचम अध्याय

मूल्यांकन एवं उपसंहार

"भारतीय परम्परा में धर्म और दर्शन एक-दूसरे से अन्त:सम्बद्ध हैं। उनकी यह अन्त:सम्बद्धता मानव जीवन के अन्तिम लक्ष्य और नैतिक आचरण से संबंध रखती है। समय के प्रवाह में लौकिक मूल्यों और आध्यात्मिक मूल्यों में उतार-चढ़ाव के साथ अन्तर्विरोध की स्थितियाँ भी निर्मित होती रहती हैं। कभी सूक्ष्म आध्यात्मिक साधनाएँ और विचारधाराएँ बाह्य आडम्बर और धर्म की मिथ्या अभिव्यक्तियों से आच्छन्न हो जाती हैं और कभी आध्यात्मिकता की अतिवादी शक्तियाँ मनुष्य के जीवन को अकर्मण्य बनाकर उसकी समूची ऐहिक प्रगति के पथ को अवरुद्ध कर देती है। जैनधर्म भी इस प्रक्रिया का अपवाद नहीं।[१]"

ईसापूर्व तृतीय शती में श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय दुर्भिक्ष की भीषण परिस्थितिवश कुछ मुनियों को मुनि-आचार के विरुद्ध वस्त्र-पात्रादि स्वीकार करना पड़े। दुर्भिक्ष की समाप्ति पर उनमें से कतिपय मुनियों ने तो प्रायश्चित्त कर मूलधर्म अंगीकार कर लिया, किन्तु कतिपय मुनि सुख-सुविधायुक्त इस मध्यम मार्ग को छोड़कर कठोर मार्ग अपनाने को तैयार नहीं हुये।

ईसापूर्व प्रथम शती तक आचार संबंधी शिथिलाचार में पर्याप्त वृद्धि हो चुकी थी। आहार-विहारादि धार्मिक क्रियाओं में कोई मर्यादा नहीं रह गई थी। साधुजन प्रत्येक शिथिलाचार को 'आपद्धर्म' कहकर उसका पोषण करने लगे थे। धार्मिक दृढ़ता का अभाव होता जा रहा था और वैचारिक भेद भी प्रारंभ हो गया था।

यह आचार-विचार संबंधी शिथिलता ही संघभेद का कारण बनी, जो कि ईसापूर्व प्रथम शती तक एक मत का रूप लेने लगी थी।

---

१ पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ ३११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः ईसापूर्व प्रथम शती में इस बात की आवश्यकता महसूस होने लगी थी कि श्रुतकेवली भद्रबाहु की मूल आचार-विचार परम्परा को कायम रखने के लिये उसे लिपिबद्ध किया जाय।

ईसापूर्व प्रथम शती के उत्तरार्द्ध एवं ईसा पश्चात् प्रथम शती के पूर्वार्द्ध में हुये आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में न केवल विशुद्ध अध्यात्मवादी लहर का सूत्रपात किया, अपितु मुनि-आचरण में आने वाली शिथिलता का कठोरता से खण्डन भी किया है।

द्वितीय श्रुतकन्ध के आद्य रचनाकार आचार्य कुन्दकुन्द दिगम्बर-जिन-आचार्य परम्परा में सर्वोपरि हैं। जैनसमाज में आप आज भी भगवान महावीर व गौतम गणधर के पश्चात् समस्त आचार्य परम्परा में नामोल्लेखपूर्वक स्मरण किये जाते हैं।

आपके जीवन के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर संक्षेप में कहा जा सकता है कि आपका जन्म कौण्डकुन्दपुर में हुआ था एवं पोन्नूर (हेमग्राम) नामक ग्राम में आपने तप किया था। आपका मूल नाम पद्मनन्दी था और कोण्डकुन्दपुर के होने के कारण आप कुन्दकुन्दाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुये। आपका यही नाम सर्वाधिक प्रयोग में आता है। शेष नाम गृद्धपिच्छाचार्य, एलाचार्य और वक्रग्रीवाचार्य मात्र उपाधि के रूप में ही प्रयुक्त हुये हैं। इनके संबंध में मतैक्य भी नहीं है।

अमृतचन्द्राचार्य द्वारा लिखित निम्नांकित गद्यांश आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को उजागर करता है :–

"अथ खलु कश्चिदासन्नसंसारपारावारपार : समुन्मीलितसातिशयविवेकज्योतिरस्तमितसमस्तैकान्तवादाविद्याभिनिवेशः पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्रहतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमां भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्यां परमार्थसत्यां मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंचपरमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्यं सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते।[1]"

---

[1] प्रवचनसार की 'तत्त्वदीपिका' टीका का आरंभिक अंश

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्त कथन में आचार्य कुन्दकुन्द को संसार-सागर के किनारे के अत्यन्त निकट, सातिशय विवेकज्योति से सम्पन्न, एकान्तवादरूप अविद्या के अभिनिवेश से रहित, पारमेश्वरी अनेकान्त विद्या से विभूषित समस्त पक्षपातों से पार अत्यन्त मध्यस्थ, सर्व पुरुषार्थों की सारभूत अक्षय मोक्षलक्ष्मी को ही उपादेयरूप से स्वीकार करनेवाले बताया गया है।

आप श्रुत-परम्परा से चले आ रहे द्वितीय श्रुतस्कन्ध के आद्य रचनाकार हैं। कहा जाता है कि आपने ८४ पाहुड ग्रन्थों की रचना की थी, पर वर्तमान में कुछ ही पाहुड उपलब्ध हैं। शेष के नाम भी उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध पाहुडों में आठ पाहुड तो 'अष्टपाहुड' के नाम से संगृहीत रूप में उपलब्ध हैं, जिनके नाम हैं :– दर्शनपाहुड, चारित्रपाहुड, सूत्रपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्षपाहुड, लिंगपाहुड और शीलपाहुड।

समयसार, प्रवचनसार, नियमसार और पंचास्तिकायसंग्रह स्वतंत्ररूप में उपलब्ध हैं।

उल्लेखों के आधार पर कहा जाता है कि आपने 'षट्खण्डागम' के प्रथम तीन खण्डों पर 'परिकर्म' नामक टीका भी लिखी थी, किन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ लोग मूलाचार, कुरलकाव्य, रयणसार, दशभक्ति और द्वादशानुप्रेक्षा को भी आपकी कृति मानते हैं।

'मूलाचार' को आचारांग भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता बट्टकेर आचार्य हैं। कुछ विद्वान इस ग्रन्थ को कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित मानते हैं। उनके अनुसार बट्टकेराचार्य कुन्दकुन्दाचार्य के लिये प्रयुक्त हुआ प्रवर्तकाचार्य का ही रूपान्तर है। उनके अनुसार 'बट्टक' का अर्थ वर्तक – प्रवर्तक है। 'इरा' गिरा (वाणी) को कहते हैं। जिसकी वाणी प्रवर्तिका हो, जनता को सन्मार्ग और सदाचार में लगानेवाली हो, उसे 'बट्टकेर' समझना चाहिये।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरे, बट्टकों (प्रवर्तकों) में जो ईरि – गिरि – प्रधान प्रतिष्ठित हो अथवा ईरि=समर्थ हो, उसे 'बट्टकेरि' जानना चाहिये।

तीसरे, 'बट्ट' नाम वर्तन – आचरण का है और ईरक प्रेरक तथा प्रवर्तक को कहते हैं, सदाचार में जो प्रवृत्ति करानेवाला हो, उसका नाम 'बट्टेरक' है।

अथवा बट्ट नाम मार्ग का है। सन्मार्ग का जो प्रवर्तक, उपदेशक एवं नेता हो, उसे भी 'बट्टेरक' कहते हैं इसलिये अर्थ की दृष्टि से ये बट्टकेरादि पद कुन्दकुन्द के लिये बहुत ही उपयुक्त तथा संगत प्रतीत होते हैं।[1]

उक्त कथन एवं व्युत्पत्ति के बारे में डॉ० ए. एन. उपाध्ये का मत है कि – "यह सब तर्क और शब्दकौशल मात्र है। 'बट्टकेरि' शब्द संस्कृत है या नहीं – जब इसी में सन्देह है, तब उसकी संस्कृत व्युत्पत्ति देना केवल आग्रह है। कुछ प्रतियों में कुन्दकुन्द नाम होने से ही 'बट्टकेर=कुन्दकुन्द' समीकरण कैसे हो जायेगा ?[2]"

'मूलाचार' की हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में "इति मूलाचार-विवृत्तौ द्वादशोऽध्यायः कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतमूलाचारविवृत्तिः कृतिरियं वसुनन्दितः श्रमणस्य" – लिखा होने से कुछ विद्वान आज इसे कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत स्वीकार करने लगे हैं; परन्तु उक्त मत का खण्डन करते हुए श्री नाथूरामजी प्रेमी भी लिखते हैं :–

"मुझे लगता है कि यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द का तो नहीं ही है, उनकी विचार-परम्परा का भी नहीं है; बल्कि यह उस परम्परा का जान पड़ता है, जिसमें शिवार्य व अपराजित हुये हैं। कुछ बारीकी से अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है……… – इन सब बातों से 'मूलाचार' कुन्दकुन्द-परम्परा का ग्रन्थ नहीं मालूम होता। विद्वानों से निवेदन है कि वे बट्टकेरि को कुन्दकुन्द बनाने का प्रयत्न न करके इस ग्रन्थ का जरा और गहराई से अध्ययन करके यथार्थ वस्तुस्थिति को समझने की चेष्टा करें।[3]"

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ १००

[2] जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५५०

[3] जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ५५० व ५५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'मूलाचार' के टीकाकार वसुनन्दी ने भी अपनी टीका में इस ग्रन्थ के कर्त्ता को बट्टकेराचार्य[1]' बट्टकेर्याचार्य[2] और बट्टेरकाचार्य[3] के रूप में ही उल्लिखित किया है।

स्पष्ट है कि यही 'मूलाचार' के मूलकर्त्ता हैं एवं कुन्दकुन्दाचार्य के समान ही यह अपने ग्राम के नाम 'बट्टकेरि' के कारण इसी उपनाम से प्रसिद्ध हुये हैं।

'कुरल काव्य' तमिल भाषा में है। इसमें सामान्य सदाचार की शिक्षा दी गई है। उपलब्ध सर्वमान्य ग्रन्थों की भाषा-शैली एवं विषय-वस्तु के अनुरूप 'कुरल काव्य' की विषयवस्तु नहीं है।

इसके कर्त्ता के रूप में तिरुवल्लवर या एलाचार्य का नाम आता है। प्रतीत होता है कि एलाचार्य नाम देखकर ही लोग इसे कुन्दकुन्द की कृति मानने लगे हैं।

'रयणसार के अनेक पाठभेद देखकर विचारक विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य ग्रन्थों की गाथायें सम्मिलित हो गई हैं। इस सम्बन्ध में ए.एन. उपाध्ये का निम्न कथन द्रष्टव्य है :--

"'रयणसार' ग्रन्थ गाथा-विभेद, विचार-पुनरावृत्ति, अपभ्रंश पद्यों की उपलब्धि, गण-गच्छादि उल्लेख और बेतरतावी आदि को लिये हुये जिस स्थिति में उपलब्ध है, उस पर से वह पूरा ग्रन्थ कुन्दकुन्द का नहीं कहा जा सकता है। कुछ अतिरिक्त गाथाओं की मिलावट ने उसके मूल ग्रन्थ में गड़बड़ उपस्थित कर दी है और इसीलिए जब तक कोई दूसरे प्रमाण उपलब्ध न हो जायें, तब तक यह बात विचाराधीन ही रहेगी कि कुन्दकुन्द इस समग्र 'रयणसार' ग्रन्थ के कर्त्ता हैं।[4]"

इसप्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि मूलाचारादि ग्रन्थ कुन्दकुन्द-कृत हैं – इस संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है।

---

[1] जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, टीका की प्रारंभिक प्रस्तावना

[2] वही, ९वें, १०वें, ११वें अधिकारों के सन्धिवाक्यों में

[3] वही, ७वें अधिकार के संधिवाक्य में

[4] प्रवचनसार, प्रस्तावना, डॉ. ए. एन. उपाध्ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वोत्कृष्ट कृति 'समयसार' में शुद्धनय की दृष्टि से नव तत्त्वों का विवेचन किया गया है। ४१५ गाथाओं में निबद्ध, नवाधिकारों में विभक्त इस कृति का मुख्य उद्देश्य आत्मस्वरूप की पहिचान कराना है।

'समयसार' सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) प्रधान ग्रन्थ है। सम्यग्दर्शन-प्रधान ग्रन्थ में हेयोपादेय की व्यवस्था बताई जाती है एवं परमशुद्ध निश्चयनय के विषयभूत शुद्धद्रव्य का कथन किया जाता है। चूंकि 'समयसार' में शुद्धद्रव्य का कथन है, हेयोपादेय व्यवस्था बताई है; अतः यह सम्यग्दर्शन-प्रधान ग्रन्थ है।

'प्रवचनसार' आचार्य कुन्दकुन्द की ऐसी प्रौढ़तम कृति है, जिसमें प्रमाण-व्यवस्था और प्रमेय-व्यवस्था का गहराई से अध्ययन किया गया है। इस ग्रन्थ में वस्तु-व्यवस्था दो प्रकार से प्रतिपादित की है :— ज्ञानरूप व ज्ञेयरूप।

वस्तु को जानने की व्यवस्था अथवा जानने के उपाय का चिन्तन ज्ञानप्रकरण में व वस्तु-व्यवस्था ज्ञेयप्रकरण में स्पष्ट की है। आत्मा स्वयं ज्ञानमय है एवं वस्तु, ज्ञान के कारण ज्ञेय कहलाती है; अतः ज्ञानमय आत्मा का स्वरूप ज्ञानप्रकरण में व ज्ञान द्वारा जो जाना जाता है, उसका स्वरूप ज्ञेयप्रकरण में स्पष्ट किया है।

२७५ गाथाओं में निबद्ध, तीन महाधिकारों में विभक्त 'प्रवचन सार' के ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन नामक प्रथम महाधिकार में प्रमाण-व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वज्ञता का स्वरूप, अतीन्द्रिय ज्ञान, अतीन्द्रिय सुख, इन्द्रिय ज्ञान व इन्द्रिय सुख का एवं ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन नामक द्वितीय महाधिकार में प्रमेय-व्यवस्था के अन्तर्गत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यं का प्रतिपादन किया गया है। तृतीय महाधिकार में चारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया है।

इस ग्रन्थ के अध्ययन से आचार्य कुन्दकुन्द की विद्वत्ता व तार्किक शक्ति का ज्ञान होता है। उनके द्वारा निरूपित आचार-विचार-व्यवस्था श्रमणों के लिये आदर्श उदाहरण है।

'प्रवचनसार' सम्यग्ज्ञान-प्रधान ग्रन्थ है। इसमें वस्तु का स्वरूप बताया गया है। 'समयसार' का मूल विषय कर्तृत्व का निषेध है, जबकि 'प्रवचनसार' में कर्त्ता कौन है? — यह बताया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'समयसार' में ज्ञानस्वभाव को समझाया है एवं 'प्रवचनसार' में ज्ञानस्वभाव की परिपूर्ण पर्याय (सर्वज्ञता) को समझाया है।

'पंचास्तिकायसंग्रह' नामक ग्रन्थ जिनसिद्धान्त व जिन-अध्यात्म का प्रवेश द्वार है। १७३ गाथाओं में निबद्ध, दो मूल खण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ में जिनागम में प्रतिपादित द्रव्यव्यवस्था व पदार्थव्यवस्था का संक्षेप में प्राथमिक परिचय दिया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द का अनुसरण समस्त उत्तरकालीन आचार्य-परम्परा ने किया है। 'पंचास्तिकायसंग्रह' को आधार बनाकर लिखे गये परवर्ती साहित्य में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती द्वारा लिखित 'द्रव्यसंग्रह' सर्वाधिक प्रचलित ग्रन्थ है।

एक बात अवश्य उल्लेखनीय है कि नवपदार्थों का क्रम 'द्रव्य-संग्रह' में 'पंचास्तिकायसंग्रह' के अनुसार न रखकर 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार रखा गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित 'पंचास्तिकायसंग्रह' एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसके अध्ययन बिना 'समयसार', 'प्रवचनसार' जैसे महान् ग्रन्थों का मर्म समझ पाना सहज संभव नहीं है, तथापि उनकी अपेक्षा इसके कम प्रचलित होने का कारण 'द्रव्यसंग्रह' द्वारा इसकी विषयवस्तु संबंधी जानकारी की पूर्ति हो जाना ही रहा है।

'नियमसार' का प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दैनिक पाठ के लिये किया था। इसमें उनका अन्तरंग व्यक्त हुआ है। इसकी प्रतिपादन शैली अन्तरोन्मुखी भावनाप्रधान है। १८७ गाथाओं में निबद्ध, १२ अधिकारों में विभक्त इस कृति का मूल प्रतिपाद्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप नियम ही है। यह मोक्षमार्ग के निरूपचार निरूपण का अनुपम ग्रन्थ है।

"परम पारिणामिक भावरूप निज शुद्धात्म तत्त्व ही एकमात्र आराध्य है, उपास्य है, श्रद्धेय है, ध्येय है, परमज्ञेय है। इसके श्रद्धान, ज्ञान एवं ध्यानरूप पावन परिणतियाँ ही साधन है, मार्ग है, रत्नत्रय है, नियम है तथा इन्हीं पावन परिणतियों की परिपूर्णता ही साध्य है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मार्गफल है, निर्वाण है। इस परमार्थ सत्य का प्रतिपादक ही यह 'नियमसार' नामक ग्रन्थ है।[१]"

इस युग में आचार्य कुन्दकुन्द के सम्पूर्ण साहित्य के गहन अध्येता एवं प्रबल प्रचारक आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी 'नियमसार' पर प्रवचन करते हुए आनन्दविभोर होकर कहते हैं :–

"परम पारिणामिक भाव को प्रकाशित करनेवाला श्री नियमसार परमागम और उसकी टीका की रचना छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महासमर्थ मुनिवरों द्वारा द्रव्य के साथ पर्याय की एकता साधते-साधते हो गई है। जैसे शास्त्र और टीका रचे गये है, वैसा ही स्वसंवेदन वे स्वयं कर रहे थे। परम पारणामिक भाव के अन्तर अनुभव को ही उन्होंने शास्त्र में उतारा है, प्रत्येक अक्षर शाश्वत टंकोत्कीर्ण, परमसत्य, निरपेक्ष, कारणशुद्धपर्याय, स्वरूपप्रत्यक्ष, सहजज्ञान आदि विषयों का निरूपण करके तो मुनिवरों ने अध्यात्म की अनुभवगम्य अत्यन्त सूक्ष्म और गहन बात को इस शास्त्र में स्पष्ट किया है।

सर्वोत्कृष्ट परमागम श्री समयसार में भी इन विषयों का इतने स्पष्टरूप से निरूपण नहीं है। अहो! जिसप्रकार कोई पराक्रमी कहा जानेवाला पुरुष वन में जाकर सिंहनी का दूध दुह लाता है, उसीप्रकार आत्मपराक्रमी महामुनिवरों ने वन में बैठे-बैठे अन्तर का अमृत दुहा है। सर्वसंग-परित्यागी निर्ग्रन्थों ने वन में रहकर सिद्ध भगवन्तों से बातें की हैं और अनन्त सिद्ध भगवन्त किसप्रकार सिद्धि को प्राप्त हुये हैं, उसका इतिहास इसमें भर दिया है।[२]"

'अष्टपाहुड' प्रशासक पट्टाचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। इसमें कुन्दकुन्द के आचार्यत्व (प्रशासकरूप) के दर्शन होते हैं। आठों पाहुडों में कुन्दकुन्द ने शिथिलाचार के विरुद्ध प्रेरक उपदेश एवं सशक्त आदेश दिया है।

---

[१] डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल, नियमसार प्रस्तावना, पृष्ठ ३२

[२] श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित, उपोद्घात, पृष्ठ ११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा रचित समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकायसंग्रह पर आचार्य अमृतचन्द्र व आचार्य जयसेन की संस्कृत टीकायें उपलब्ध हैं। 'नियमसार' पर पद्मप्रभमलधारिदेव की एवं अष्टपाहुडों में से षट्पाहुड पर भट्टारक श्रुतसागरसूरि की संस्कृत टीका उपलब्ध है।

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा रचित 'आत्मख्याति', 'तत्त्वदीपिका' एवं 'समयव्याख्या' नामक टीकाओं में 'आत्मख्याति' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण टीका है। इसे आपने नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी प्रस्तुति के कारण कुन्दकुन्दत्रयी 'नाटकत्रयी' नाम से प्रसिद्ध हो गई है।

आचार्य जयसेन की तीनों टीकाओं का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' ही है। इनकी टीका-शैली आचार्य अमृतचन्द्र की 'पंचास्तिकायसंग्रह' की टीकाशैली के समान ही है।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के समर्थ टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र मुख्यरूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। अध्यात्मरस से ओतप्रोत आपकी रचनाएँ संस्कृत भाषा की बेजोड़ रचनाएँ हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकायें संस्कृत के प्रौढ़ रूप के दर्शन कराती हैं। यद्यपि सहज सरलता तो उसमें नहीं है, तथापि दुरूहता भी नहीं है। आपकी कृतियों में उपलब्ध उदाहरणों से आपके विस्तृत लौकिक अनुभव एवं तत्संबंधी सूक्ष्म पकड़ की जानकारी होती है। आपकी सटीक प्रतिपादन शैली आपके अगाध पाण्डित्य का सशक्त प्रमाण है।

आपने मात्र मूलग्रन्थों की टीका ही नहीं की, अपितु अनेक स्थानों पर आपने नया प्रमेय भी उपस्थित किया है, टीकाओं के बीच भी एवं परिशिष्ट के रूप में भी। आप मात्र टीकाकार ही नहीं, अपितु मौलिक विचारक भी हैं। आपकी इस मौलिकता के दर्शन स्वतंत्र ग्रन्थों में ही नहीं, टीकाओं में भी सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

अमृतचन्द्र की प्रतिभा परिपक्व है और परिमार्जित प्रतिपादन शैली उससे भी बढ़कर। पद्यमिश्रित गद्य में लिखी गई आपकी टीकाओं में मणिकांचन-योग दृष्टिगोचर होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'आत्मख्याति' के बीच-बीच में आये मार्मिक पद्यों की संख्या २७८ है। यद्यपि ये 'आत्मख्याति' के ही अंश हैं, तथापि उनका स्वतंत्र संकलन भी हुआ है, जो 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नाम से जाना जाता है।

उक्त पद्यों को 'कलश' भी कहा जाता है, अतः इस संकलन को "समयसार कलश" भी कहते हैं। इस पर स्वतंत्र रूप से संस्कृत व हिन्दी में टीकायें लिखी गई हैं।

टीकाग्रन्थों में पद्यों की सर्वाधिक संख्या 'आत्मख्याति' में है, जो कि उनके मौलिक ग्रन्थ 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' से भी ५२ अधिक है।

गद्य टीका के मध्य में पद्यों के देने में आचार्य अमृतचन्द्र किसी लीक विशेष पर नहीं चलकर विषयवस्तु की आवश्यकतानुसार ही चले हैं। आवश्यक प्रतीत हुआ तो अनेक छन्द दे दिये हैं और अनेक गाथायें ऐसी भी हैं, जिनकी टीका में एक भी छन्द उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि ये छन्द कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकारों के आदि या अन्त में ही पाये जाते हैं, तथापि 'आत्मख्याति' में सर्वत्र ही समानरूप से पाये जाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आपकी टीकाओं में बहुलता तो गद्य की ही है, पर उनमें पद्य भी उपलब्ध होते हैं। अध्यात्मरस से सराबोर ये पद्य आध्यात्मरसिकों के हृदय को आज भी भावविभोर कर देते हैं।

आपके पद्यों की भाषा अत्यन्त सरल, प्रसादगुण और पदलालित्य से मण्डित तथा मँजी हुई—अदूषित है। शब्दविन्यास शुद्ध एवं प्रतिपादन विशद, सजीव और सूक्ष्म है, जो आपकी सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति को व्यक्त करते हैं।

भाषा और भाव, शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इनके गद्य और पद्य में समानरूप से हुआ है। गद्य-पद्य-मिश्रित टीका-ग्रन्थों की शैली अत्यन्त सशक्त, विकसित एवं परिष्कृत है।

गुरु-गंभीर दार्शनिक होने के साथ-साथ आप काव्यशास्त्र के भी पण्डित हैं, सफल कवि हैं। यही कारण है कि आपके काव्य में अनेक अप्रचलित छन्दों का सफल प्रयोग भी सहज ही हो गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

छन्दों का प्रयोग विषयानुसार हुआ है। विषय के अनुरूप भावाभिव्यक्ति के अनुरोध से ही १९ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हो गया है। रसानुकूल छन्दों के सन्निवेश में पारंगत होने से ही अनेक अप्रचलित, अव्यवहृत छन्दों का सन्निवेश आपकी कृतियों में हुआ है।

अलंकारों का प्रयोग भी इतना सहज स्वाभाविक है कि वे सुसभ्य नारियों के समान आपकी कृतियों को अलंकृत ही करते हैं, किसी फूहड़ ग्राम्य बाला के शरीर पर लदे आवश्यक-अनावश्यक अपार गहनों के समान काव्य को अनलंकृत नहीं करते।

इसप्रकार हम देखते हैं कि अमृतचन्द्रीय टीकाओं में उनकी प्रखरविद्वत्ता एवं अगाध जैनदर्शन के गंभीर ज्ञान के साथ-साथ वस्तुस्वरूप को निश्चय-व्यवहार की संधिपूर्वक प्रतिपादन करने की असाधारण क्षमता प्रस्फुटित हुई है। गंभीर रहस्यों को संक्षेप में भी अत्यन्त स्पष्टरूप से व्यक्त कर देने की उनकी क्षमता विद्वानों को भी चकित कर देती है।

अमृतचन्द्रीय टीकाओं की उपस्थिति में उन्हीं ग्रन्थों पर टीका करके आचार्य जयसेन ने अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

आचार्य जयसेन टीकाकार न होकर वृत्तिकार हैं। इन्होंने न केवल कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की ही टीका की है, अपितु टीकाकार अमृतचन्द्र की भी टीका की है। साथ ही साथ अमृतचन्द्र की टीका से अछूते विषयों को आपने अपनी टीका में स्पष्ट कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। यद्यपि आप अमृतचन्द्रीय टीकाओं को सविनय स्वीकार करते हैं, तथापि स्वयं के मंतव्य को भी निर्भीकता से प्रकट करते हैं।

आपकी तीनों ही टीकाओं का नाम 'तात्पर्यवृत्ति' है। आपकी टीकायें गुणस्थान परिपाटी की पदखण्डान्वयी टीकायें हैं। नयों का उल्लेख भी आप स्पष्टरूप से भेद-प्रभेद सहित करते हैं।

जिन-अध्यात्म के तो आप ज्ञाता थे ही, साथ ही साथ संस्कृत एवं प्राकृत पर भी आपका अधिकार था। आपने अपनी टीकाओं में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यथासंभव संस्कृत, प्राकृत-शब्दों की व्युत्पत्ति, संधि, समास व अपवाद नियमों को भी सूत्रसहित उल्लिखित किया है। विशिष्ट प्रयोगों के औचित्य पर आप पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

विषय को स्पष्ट करने एवं सुगम बनाने के लिये आपने न्याय की पंचावयव शैली एवं प्रश्नोत्तर शैली को सर्वत्र अपनाया है।

टीका करते समय आपका मूल ध्येय सरलता, सुबोधता एवं सुगमता ही रही है, अतः आपने अपनी टीकाओं को प्रयत्नपूर्वक अति सरल रखा है। यही कारण है कि सशक्त अमृतचन्द्रीय टीकाओं के उपस्थित होने पर भी जयसेनीय टीकायें आज तक जीवित हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र की अपेक्षा आचार्य जयसेन की टीकायें सरल एवं सुगम होने पर भी उतनी प्रचलित नहीं हैं, जितनी कि अमृतचन्द्र की टीकायें।

मुनि पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा रचित 'नियमसार' की एकमात्र उपलब्ध संस्कृत टीका भावपूर्ण होने से जैनसमाज द्वारा पढ़ी-सुनी जाती है, पर भट्टारक श्रुतसागरजी की षट्पाहुड की टीका उपेक्षित ही रही। प्रायः जनता 'अष्टपाहुड' के हिन्दी अनुवाद से ही परिचित है।

यद्यपि प्रभाचन्द्र और मल्लिषेण द्वारा भी 'प्रवचनसार' और 'पंचास्तिकायसंग्रह' पर संस्कृत टीकायें लिखी गई हैं, पर ये टीकायें सहज उपलब्ध भी नहीं हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य कुन्दकुन्द-कृत 'समयसार' जिन-अध्यात्म का प्रतिष्ठापक अद्वितीय महान शास्त्र है। 'प्रवचनसार' व 'पंचास्तिकायसंग्रह' भी जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था के विशद् विवेचन करनेवाले जिनागम के मूल ग्रन्थराज हैं। ये तीनों ग्रन्थ परवर्ती दिगम्बर जैन साहित्य के मूलाधार रहे हैं। 'नियमसार' में परमवीतरागी, विरक्त सन्त कुन्दकुन्द की अन्तरोन्मुखी वृत्ति व्यक्त होती है एवं 'अष्टपाहुड' में उनके प्रशासक रूप के दर्शन होते हैं, जिसमें कि उन्होंने शिथिलाचार के विरुद्ध कठोर भाषा में उस परमसत्य का उद्घाटन किया, जिसके जाने बिना साधकों के भटक जाने के अवसर अधिक थे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द मुख्यरूप से विशुद्ध आध्यात्मिक विचारक हैं। विचार उनकी अनुभूति का अंग है, लेकिन यह अनुभूतिमूलकता उन्हें तर्क से विरत नहीं करती। वे जिस बात पर विचार करते हैं, तर्क उसकी पहली सीढ़ी है।

इनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र एवं जयसेन के चिन्तन में भी तर्क और अनुभूति का सुन्दर समन्वय है।

अनुभूति और तर्क के साथ-साथ ग्रन्थकार व टीकाकार – सभी ने आगम प्रमाण को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है।

इसप्रकार कुन्दकुन्द की कृतियों में एवं उनकी टीकाओं में तर्क, आगम और अनुभूति का समानुपात विद्यमान है।

आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा बोये गये जिन-अध्यात्म के बीज को अंकुरित, पुष्पित और फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है। कुन्दकुन्द को जन-जन की वस्तु बनाने में अमृतचन्द्रीय टीकाओं ने सेतु का काम किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द का मूल प्रतिपाद्य जैनदर्शन में प्रतिपादित वस्तुव्यवस्था एवं मुक्ति का मार्ग रहा है, वस्तुव्यवस्था का प्रतिपादन उन्होंने द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के माध्यम से किया है और मुक्ति के मार्ग का निरूपण निश्चय-व्यवहार नयों के माध्यम से।

आचार्य कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचार जैनदर्शन के ही दार्शनिक विचार हैं। जैनदर्शन के लिखित रूप में उपलब्ध दार्शनिक विचार-बिन्दुओं के वे आद्य प्रतिपादकों में से हैं।

जिन-अध्यात्म-परम्परा में उनके 'समयसार' को वही स्थान प्राप्त है, जो वेदान्त में 'भगवद्गीता' को प्राप्त है।

प्राकृत और संस्कृत भाषा तथा जिन-अध्यात्म के प्रकाण्ड विद्वान आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन जिन-अध्यात्म के क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा और तारे हैं। जो स्थान वेदान्त में उपनिषद् और उसके भाष्यकारों का है, जिन-अध्यात्म में वही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्थान आचार्य कुन्दकुन्द और उनके व्याख्याता आचार्य अमृतचन्द्र एवं आचार्य जयसेन का है।

आचार्य कुन्दकुन्द को दिगम्बर जिन-परम्परा में इस युग के अन्तिम (चौबीसवें) तीर्थंकर भगवान महावीर और उनके प्रथम शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम के तत्काल बाद याद किया जाता है। दिगम्बर जैन समाज में स्वाध्यायी बन्धुओं द्वारा प्रतिदिन बोला जानेवाला वह मूलछन्द इसप्रकार है :-

"मंगलं भगवान वीरो, मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ।।"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अनागार धर्मामृत : पण्डित आशाधर; जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई; सन् १९१९ ई० ।

२. अनेकान्त और स्याद्वाद : डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ ।

३. अमितगति श्रावकाचार : अमितगति ।

४. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री वीतराग सत्-साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, गुजरात ।

५. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द; अनुवादक :— पण्डित मोतीलाल गौतमचन्द कोठारी; श्रुत भण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण, महाराष्ट्र ।

६. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री सेठी दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, ६२, धनजी स्ट्रीट, बम्बई – ४००००३ ।

७. अष्टपाहुड (षट्प्राभृत) : आचार्य कुन्दकुन्द; श्रुतसागरसूरि-कृत संस्कृत-टीका-सहित, श्री शान्तिवीर जैन संस्थान, श्री शान्तिनगर, श्री महावीरजी, राजस्थान ।

८. अष्टपाहुड : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र ।

९. आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व : डॉ० उत्तमचन्द जैन; पंडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर, राज० ।

१०. आचारसार : आचार्य वीरनन्दी ।

११. आप्तमीमांसा : आचार्य समन्तभद्र; वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, १/१२८, डुमराव कॉलोनी, अस्सी, वाराणसी, उत्तर प्रदेश ।

१२. आराधना कथाकोश : ब्रह्म नेमिदत्त ।

१३. आलापपद्धति : देवसेन; चौरासी, मथुरा, उत्तर प्रदेश ।

१४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : स्वामी कार्तिकेय; परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१५. कुन्दकुन्दाचार्य की प्रमुख कृतियों में दार्शनिक दृष्टि : डॉ० सुषमा गांग; भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

१६. कुन्दकुन्दभारती :सम्पादक :– पण्डित पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर; श्रुतभण्डार व ग्रन्थप्रकाशन समिति, फलटण, महाराष्ट्र।

१७. कुन्दकुन्दाचार्य के तीन रत्न : गोपालदास जीवाभाई पटेल; अनुवादक :– पण्डित शोभाचन्द भारिल्ल; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, उत्तर प्रदेश।

१८. कुन्दकुन्द-प्राभृत-संग्रह : सम्पादक :– पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र।

१९. कुरलकाव्य : प्रकाशक :– पण्डित गोविन्दराज जैन, शास्त्री।

२०. ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र; जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र।

२१. ज्ञानार्णव : आचार्य शुभचन्द्र; परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात।

२२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (प्रथम भाग) : आचार्य हस्तीमलजी महाराज; जैन इतिहास समिति, जयपुर, राज०।

२३. जैनधर्म का मौलिक इतिहास (द्वितीय भाग) : आचार्य हस्तीमलजी महाराज; जैन इतिहास समिति, जयपुर, राज०।

२४. जैन संदेश शोधांक ५ : पण्डित कैलाशचन्द्रजी सिद्धांताचार्य; भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा, उत्तर प्रदेश।

२५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग १ : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, उत्तर प्रदेश।

२६. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २ : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, उत्तर प्रदेश।

२७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३ : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, उत्तर प्रदेश।

२८. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ४ : क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५, उत्तर प्रदेश।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

२९. **जैनधर्म का प्राचीन इतिहास (द्वितीय भाग) :** परमानन्द शास्त्री; प्रकाशक:—मै० परमेशचन्द जैन, राजपुर रोड, दिल्ली।

३०. **जैनधर्मसार :** सर्व सेवा संघ प्रकाशन; राजघाट, वाराणसी।

३१. **जैन शिलालेख संग्रह (प्रथम भाग) :** सम्पादक:— श्री हीरालाल जैन; श्री माणकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति।

३२. **जैन साहित्य और इतिहास :** नाथूराम प्रेमी; यशोधर विद्याधर मोदी, ठाकुरद्वारा, बम्बई।

३३. **जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश :** जुगलकिशोर मुख्तार, श्री वीर शासन संघ, कलकत्ता।

३४. **जैनाचार्य :** पण्डित मूलचन्द जैन; मूलचन्द किसनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, गुजरात।

३५. **तत्त्वार्थवार्तिक :** आचार्य अकलंकदेव; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी – २२१००५, उत्तरप्रदेश।

३६. **तत्त्वार्थसार :** आचार्य अमृतचन्द्र; श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, डुमराव बाग, अस्सी, वाराणसी, उत्तरप्रदेश।

३७. **तत्त्वार्थसूत्र :** आचार्य उमास्वामी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र।

३८. **तत्त्वानुशासन :** आचार्य समन्तभद्र; सम्पादक :— पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।

३९. **तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ :** डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५, राजस्थान।

४०. **तीर्थंकर भगवान महावीर और उनकी आचार्य परम्परा :** डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ज्योतिषाचार्य; भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद्, वर्णी भवन, सागर, मध्यप्रदेश।

४१. **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र :** माइल्लधवल; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी – २२१००५, उत्तरप्रदेश।

४२. **द्वादशानुप्रेक्षा (बारस अणुवेक्खा) :** आचार्य कुन्दकुन्द; कान्ताबेन छोटेलाल बोरा, मोटा आंकड़िया, सौराष्ट्र।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

४३. **दर्शनसार :** आचार्य देवसेन; सम्पादक :– पण्डित पन्नालाल जैन; जैन साहित्य प्रकाशन, दिल्ली।

४४. **धर्मरत्नाकर :** आचार्य जयसेन (प्रथम); जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र।

४५. **नियमसार :** आचार्य कुन्दकुन्द; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र।

४६. **नियमसार :** आचार्य कुन्दकुन्द; श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, बम्बई।

४७. **पंचसंग्रह :** आचार्य अमितगति; भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी – २२१००५, उत्तर प्रदेश।

४८. **पंचास्तिकाय :** जयसेनाचार्य-कृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका सहित; मराठी अनुवादक :– पण्डित धन्यकुमार गंगा सा गोरे; श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा, महाराष्ट्र।

४९. **पंचास्तिकाय :** जयसेनाचार्य-कृत 'तात्पर्यवृत्ति' टीका सहित; श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात।

५०. **पंचास्तिकायसंग्रह :** आचार्य कुन्दकुन्द; श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, बम्बई।

५१. **पंचास्तिकायसंग्रह :** आचार्य कुन्दकुन्द; (समयव्याख्या टीका सहित) टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र।

५२. **पंचास्तिकायसार :** आचार्य कुन्दकुन्द; सम्पादक :–ए. चक्रवर्ती।

५३. **पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व :** डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५, राजस्थान।

५४. **परमाध्यात्मतरंगिणी :** आचार्य अमृतचन्द्र; श्री शान्तिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, शांतिवीर नगर, श्रीमहावीरजी, राजस्थान।

५५. **पाण्डवपुराण :** आचार्य शुभचन्द्र।

५६. **पार्श्वनाथ-स्तोत्र :** माणिकचन्द ग्रन्थमाला।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

५७. पुण्यास्रव कथाकोश :

५८. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र; उग्रसेन जैन; श्री दिगम्बर जैन मंदिर, सराय मुहल्ला, रोहतक ।

५९. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : आचार्य अमृतचन्द्र; नाथूरामजी प्रेमी; परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात; वि० सं० २०१७ ।

६०. प्रवचनरत्नाकर, भाग १ : पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन; सम्पादक :– डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ ।

६१. प्रवचनरत्नाकर, भाग २ : पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के प्रवचन; सम्पादक :– डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ ।

६२. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन तीर्थसुरक्षा ट्रस्ट, बम्बई ।

६३. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर, गुजरात ।

६४. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द; प्रस्तावना :– ए.एन. उपाध्ये ।

६५. प्रवचनसार : आचार्य कुन्दकुन्द; आचार्य अमृतचन्द्र-कृत 'तत्त्व-दीपिका' टीका सहित; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र ।

६६. प्राचीन जैन इतिहास (तृतीय भाग) : प्रकाशक :– मूलचन्द किशनदास कापड़िया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत, गुजरात ।

६७. मूलाचार : अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला ।

६८. मोक्षमार्गप्रकाशक : पण्डित टोडरमल; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र ।

६९. योगसार : आचार्य योगीन्दुदेव; परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास, गुजरात ।

७०. रत्नकरण्ड श्रावकाचार : आचार्य समन्तभद्र; सम्पादक :– जुगलकिशोर मुख्तार; भारतीय दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

७१. रयणसार : आचार्य कुन्दकुन्द; वीर निर्वाण भारती, शीतलामाता बाजार, इन्दौर, मध्यप्रदेश ।

७२. लघीयस्त्रय : आचार्य अकलंक भट्ट ।

७३. लघुतत्त्वस्फोट : आचार्य अमृतचन्द्र ।

७४. विक्रमादित्य : डॉ० राजबली पाण्डेय ।

७५. वृहद द्रव्यसंग्रह : आचार्य नेमिचन्द्र; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ – ३६४२५०, सौराष्ट्र ।

७६. श्रुतावतार : इन्द्रनन्दि ।

७७. षट्प्राभृत (श्रुतसागरीय टीका सहित) : आचार्य कुन्दकुन्द; माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला समिति, हीराबाग, बम्बई ।

७८. समयसार (आत्मख्याति टीका) : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र; श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, १७३-१७५, मुम्बादेवी रोड, बम्बई – ४००००२ ।

७९. समयसार (देशभाषामय वचनिका) : आचार्य कुन्दकुन्द; वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी; श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, सौराष्ट्र ।

८०. समयसार (तात्पर्यवृत्ति टीका) : आचार्य कुन्दकुन्द; टीकाकार :– आचार्य जयसेन; श्री समयसार प्रकाशन समिति, श्री दिगम्बर जैन समाज, शुक्रवार पेठ, सोलापुर, महाराष्ट्र ।

८१. समयसार : आचार्य कुन्दकुन्द जयसेनाचार्य-कृत तात्पर्यवृत्ति टीका सहित; श्री दिगम्बर जैन समाज, अजमेर, राज० ।

८२. समययार : आचार्य कुन्दकुन्द; प्रकाशक :– पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर – ३०२०१५ ।

८३. समयसार कलश : आचार्य अमृतचन्द्र; श्री वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, ६०२, कृष्णनगर, भावनगर, गुजरात ।

८४. समयसार नाटक : बनारसीदास; जैन ग्रन्थ रत्नाकर, बम्बई ।

८५. सर्वार्थसिद्धि : आचार्य पूज्यपाद स्वामी, भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी – २२१००५, उत्तरप्रदेश ।

८६. स्याद्वाद मंजरी : हेमचन्द्रसूरि ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनीषियों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन

मौलिक एवं गवेषणा पूर्ण

श्रीमती शुद्धात्मप्रभा जैन ने मेरे निर्देशन में अपना शोधकार्य सम्पन्न किया है। इनके शोध का विषय है—"आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार : एक समालोचनात्मक अध्ययन।" श्रीमती जैन द्वारा किया गया शोध कार्य मौलिक एवं गवेषणा पूर्ण है। इन्होंने समीक्षात्मक पद्धति का अनुसरण किया है। —डॉ. गंगाधर भट्ट

सह आचार्य, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

गहन शोध-खोज से परिपूर्ण

अपने शोध सम्बन्धी दीर्घकालीन अनुभव के आधार पर मुझे यह कहने में थोड़ा-सा भी संकोच नहीं है कि यह शोध-प्रबन्ध प्रामाणिक उद्धरणों के साथ गहन शोध-खोज से परिपूर्ण है। इसकी रचना में लेखिका ने निःसंदेह अत्यन्त परिश्रम किया है।

ग्रन्थ में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के जीवनवृत, टीकाओं की समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक समीक्षा आदि के साथ आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों का मूलानुगामी परिचय भी है। इससे ग्रंथ की सर्वसाधारण के लिए उपयोगिता बढ़ गई है। ग्रंथ की भाषा सरल एवं शोध के उपयुक्त है। —डॉ० हरीन्द्रभूषण जैन

मानद निदेशक, अनेकान्त शोधपीठ बाहुबली (कुंभोज)

प्रामाणिक शोध-प्रबंध

"आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार" अभी तक प्रकाशित इस विषय के सभी शोधपरक ग्रन्थों में एक प्रामाणिक शोध-प्रबन्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके प्रयोजनभूत विषय से सम्बन्धित सभी बातों का विवेचन इस प्रबन्ध में प्रामाणिक रूप से किया गया है। समालोचनात्मक अध्ययन में भी नपे-तुले शब्दों में बिना किसी पक्षपात के मूल प्रमेय को स्पष्ट करने में भरपूर परिश्रम परिलक्षित होता है। —डॉ० देवेन्द्रकुमार शास्त्री

अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, शा० स्नातकोत्तर महाविद्यालय, जावरा (म० प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मौलिक और अछूता गवेषणात्मक अध्ययन

विदुषी अनुसंधित्सु ने अपनी सूझ-बूझ पूर्ण सारस्वत गवेषणात्मक अध्ययन अनुशीलन से यह सिद्ध कर दिया कि महाराज मल्लिनाथ की नाईं अन्य अनेक टीकाकार हैं, जिन्होंने टीकाकर्म में सिद्धि प्राप्त की है। आचार्य कुन्दकुन्द पर विभिन्न विश्वविद्यालयों में बहुत काम हुआ है, पर यह कार्य अपनी दृष्टि से मौलिक और अछूता बन पड़ा है। शोधजन्य तकनीक इसमें अपनाई गई है, जिससे शोध निर्देशन निर्दोष कहा जा सकता है। ग्रंथ का प्रकाशन संकर-दोष से मुक्त तथा आकर्षक है।

— डॉ० महेन्द्रसागर प्रचण्डिया

निदेशक, जैन शोध अकादमी, अलीगढ़ (उ० प्र०)

पठनीय एवं मननीय

इसमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के विस्तृत जीवनवृत्त के साथ ही आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन टीकाओं का समालोचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के प्रतिपाद्य विषयों का सरल और सुबोध भाषा में इतनी अच्छी तरह प्रतिपादन किया गया है कि प्राकृत और संस्कृत न जानने वाला व्यक्ति भी आचार्य कुन्दकुन्द के हार्द को भली-भाँति समझ सकता है। इसके साथ उनके दार्शनिक विचारों का भी उत्तम रीति से निरूपण किया गया है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह शोध प्रबन्ध न केवल विद्वानों के लिए किन्तु सर्वसाधारण के लिए भी पठनीय एवं मननीय है।

— प्रो० उदयचन्द जैन

एम. ए., सर्वदर्शनाचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

विद्वज्जनों में समादरणीय

शोधप्रबन्ध की अनुसंधान सम्बन्धी जो सीमा रेखा निर्धारित है, उसके अन्तर्गत जो कुछ अनुसंधान शक्य था, वह सब इस शोध प्रबंध में प्रस्तुत किया गया है। विदुषी लेखिका ने अनपेक्षित बातों से ग्रंथ को सुरक्षित रखा है, जिससे ग्रंथ अनावश्यक रूप से बोझिल नहीं हो पाया है। लेखिका की तटस्थ वृत्ति प्रायः सर्वत्र उजागर हुई है।

संक्षेप में सभी दृष्टियों से शोध-ग्रंथ विद्वज्जनों में आदरणीय होगा — ऐसी आशा है।

— डॉ० दामोदर शास्त्री

अध्यक्ष — जैनदर्शन विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, दिल्ली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नया और श्रमसाध्य

प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत एवं कन्नड़ में ऐसा बहुत जैन साहित्य है, जो शोध-खोज के लिए शोधार्थियों की प्रतीक्षा कर रहा है। डॉ० (श्रीमती) शुद्धात्मप्रभा ने जो यह श्रमसाध्य और नया कार्य किया है, उसके लिए उन्हें जितना भी साधुवाद दिया जाय, कम है।

—ब्र० यशपाल जैन, एम. ए.

वैज्ञानिक सन्तुलन

शोरसेनी-प्राकृत-साहित्य के प्रवर्तकों में आचार्य कुन्दकुन्द का स्थान सर्वोपरि है। उन्होंने भगवान महावीर की उपलब्ध वाणी को समकालीन लोकप्रचलित भाषा शैली में निबद्ध किया, जो युगों-युगों तक भारतीय आदर्श के चिन्तकों एवं अध्यात्म प्रेमियों के लिए कंठहार बनी रही। कालक्रमानुसार भाषा एवं विषय की दुरूहता को दूर करने तथा वर्ण्य-विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करने की दृष्टि से परवर्ती अनेक विशेषज्ञ आचार्यों ने भी समकालीन लोकप्रचलित भाषाओं में विविध टीकाग्रंथ लिखे। एतद्विषयक चर्चाएँ तो सुनने में आती रहीं, किन्तु टीकाकारों के कृतित्व एवं व्यक्तित्व तथा उनकी टीकाओं के तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन एक साथ उपलब्ध न होने के कारण अध्येताओं एवं शोधार्थियों के लिए बड़ी ही कठिनाई का सामना करना पड़ता था। "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार" नामक शोधग्रंथ के प्रकाशन से उस कमी की पूर्ति हुई है। इसके लिए शोध-जगत डॉ० शुद्धात्मप्रभा का विशेष रूप से उपकृत रहेगा कि उन्होंने इस चिरकालीन माँग को पूर्ण करने की दिशा में अथक प्रयत्न किया है।

वर्ण्य-विषय के प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिक सन्तुलन विद्वद्योग्य प्रस्तावना, नयनाभिराम शुद्ध मुद्रण एवं सर्वभोग्य मूल्य आदि इस ग्रंथ की विशिष्टताएँ हैं। —डॉ० राजाराम जैन

अध्यक्ष — संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन कॉलेज, आरा

प्रज्ञा और तात्विक चिंतन की गरिमा

इस शोध-प्रबन्ध को मैंने आद्योपान्त पढ़ा है। पाँच अध्यायों में विभक्त इस प्रबन्ध का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य जयसेन, पद्मप्रभ-मलधारिदेव और भट्टारक श्रुतसागरसूरि की कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय-चयन से लेकर उपसंहार तक की समस्त प्रक्रिया में विदुषी लेखिका ने अपनी प्रज्ञा एवं तात्त्विक चिन्तन की गरिमा का उत्कृष्ट परिचय दिया है। अपने विषय को अभीष्ट स्तर में प्रस्तुत करने में लेखिका को पर्याप्त सफलता मिली है। विषयानुरूप भाषा के प्रयोग में प्रौढ़ि, प्रांजलता एवं बोधगम्यता स्वभाविकरूप से आ गई है।

—प्रो० प्रवीणचन्द जैन

सम्पादक—अध्ययन अनुसंधान, जयपुर

मौलिक और उपयोगी कृति

आचार्य कुन्दकुन्द का व्यक्तित्व भारतीय अध्यात्म के क्षेत्र में अनुपम है। एकत्व-विभक्त आत्मा का जैसा वर्णन उनके ग्रन्थरत्न समयसार में प्राप्त है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। जैन समाज को आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार करना चाहिए।

डॉ० शुद्धात्मप्रभा ने इस पुस्तक के लेखन द्वारा एक कदम आगे बढ़कर विद्वानों को इस ओर और अधिक तल्लीनता से कार्य करने हेतु प्रेरित किया है। यह उनकी मौलिक कृति है और आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों का सामान्य परिचय प्राप्त करने हेतु अत्यन्त उपयोगी है।

— डॉ० रमेश जैन

सम्पादक—पार्श्वज्योति, विजनौर (उ०प्र०)

प्रशंसनीय प्रयास

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मात्र पांच अध्यायों में आचार्यत्रयी एवं मुनिद्वय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को पाठकों की जानकारी हेतु एकत्र ही सार रूप में प्रस्तुत करने का प्रशंसनीय प्रयास हुआ है। संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के तथा अध्यात्म के विद्वानों, जिज्ञासुओं एवं शोधार्थियों के लिए यह उपादेय सिद्ध होगा।

— डॉ० प्रेमचन्द रांवका

प्राचार्य, महाविद्यालय, चीथवाड़ी (जयपुर) राज०

अनुपम देन

सरल-सुबोध भाषा में आचार्य कुन्दकुन्द के जीवन, दर्शन और साहित्य रूपी रत्नत्रय का प्रतिपादक यह शोध प्रबन्ध अध्यात्म जगत के लिए एक अनुपम देन है।

— डॉ. कस्तूरचन्द जैन 'सुमन'

जैन विद्या संस्थान, महावीरजी (राज०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महत्त्वपूर्ण एवं सफल प्रयास

लेखिका के इस सफल प्रयास से अन्य अध्ययनशील व्यक्तियों को प्रेरणा मिलेगी। आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दी समारोह वर्ष में प्रकाशित होने के कारण भी यह सामयिक शोध-प्रवंध महत्त्वपूर्ण हो गया है। **— स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामी**

श्रवणबेलगोला (कर्नाटक)

अध्यात्म गाइड एवं श्रेष्ठ संदर्भ ग्रंथ

यह शोध-प्रबन्ध साहित्यिक दृष्टि से एक श्रेष्ठ कृति, शोध दृष्टि से श्रेष्ठ संदर्भ ग्रंथ एवं अध्यात्म जिज्ञासुओं के लिये एक अध्यात्म गाइड बन गया है। इसके पठन-पाठन से सामान्यजन भी कुन्दकुन्द के सार को ग्रहण कर सकेंगे।

सामग्री संचय, उसका विश्लेषण, काल निर्धारण, विषय का प्रतिपादन, टीकाओं का तुलनात्मक अध्ययन, उनकी विशेषताओं का सूक्ष्म विश्लेषण आदि सभी को समुचित तर्क-वितर्क कर समरूप सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। शोधार्थी और आत्मशोधार्थी दोनों के लिये समान रूप से उपयोगी यह कृति सभी के लिए पठनीय एवं मननीय है। **— डॉ० राजेन्द्र बंसल**, अमलाई (म. प्र.)

सराहनीय

कुन्दकुन्द जैसे आचार्यों और उनके टीककारों पर शोध-प्रबन्ध लिखकर श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने साहस का कार्य किया है और कुछ बिंदुओं पर दिशा निर्देश किया है, जो सराहनीय है। इसमें कई नवीन तथ्यों की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है। **— डॉ० शीतलचन्द जैन**

प्राचार्य — दि. जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

उपयोगी और महत्त्वपूर्ण

ग्रंथ का सांगोपांग अवलोकन किया। बेटी शुद्धात्मप्रभा का यह प्रयत्न जितना सराहनीय है, उतना ही कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण भी है। इस काम में डॉ० शुद्धात्मप्रभा ने कई ग्रंथों का अवलोकन कर इस निबन्ध को मूर्त रूप दिया है। यह निबन्ध उपयोगी तो है ही कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण भी है। **— पं. फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री**

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुगम और सुपाठ्य

प्रस्तुत शोध-प्रबंध जहाँ आचार्य कुन्दकुन्द के अनमोल योगदान का परिचय कराता है, वहाँ उनके विद्वान टीकाकारों, आचार्य अमृतचन्द्र और आचार्य जयसेन के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर भी प्रकाश डालता है। वस्तुतः इस पुस्तक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इससे विद्वद्वर्ग ही नहीं, अध्यात्मप्रेमी सामान्यजन समुदाय भी लाभान्वित हो सकता है। इतनी सुगम और सुपाठ्य कृति है यह।

मुझे विश्वास है कि जैन ही नहीं, जैनेतर आत्मार्थी पाठक भी इस पुस्तक को अवश्य पढ़ेंगे। इससे न केवल उनकी ज्ञानवृद्धि होगी, अपितु जीवन की गहराइयों में जाकर रत्न खोजने की जिज्ञासा भी उत्पन्न होगी। इसके प्रणयन में श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने ज़ो परिश्रम किया है और सूझबूझ दिखाई है, उसके लिए मैं उन्हें हार्दिक बधाई देता हूँ।

—यशपाल जैन

मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

विशेष प्रेरणापद एवं बहुपठनीय

विदुषी लेखिका ने आचार्य कुन्दकुन्द के समग्र जीवन एवं कृतित्व पर अच्छा प्रकाश डाला है, टीकाकारों पर भी लिखा ही है। विद्वान पिता की विदुषी पुत्री से यही आशा भी थी। आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दि वर्ष में यह ग्रंथ विशेष प्रेरणाप्रद एवं बहुपठनीय रहेगा।

—अक्षयकुमार जैन

कार्याध्यक्ष, दि० जैन परिषद्, दिल्ली

अध्यात्मसागर का सार

इस शोधप्रबन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों के व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व पर ऐतिहासिक, आगमिक और प्राचीन शिलालेखों के अनेक साक्ष्यों से विस्तृत समीक्षात्मक प्रकाश डालकर महान महिमावंत आचार्य भगवन्तों से साक्षात्कार करा दिया है।

उक्त आचार्यों के शोधपूर्ण जीवनवृत्त, उनके ग्रन्थों का परिचयात्मक अध्ययन तथा वर्ण्य-विषय और दार्शनिक विचारों में मूलग्रंथों और टीकाओं का सार देकर उनके भावों का सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। अध्यात्मसागर का सार इसमें भर दिया है।

—पं. प्रकाशचन्द 'हितैषी' शास्त्री

सम्पादक, सन्मति सन्देश, दिल्ली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिनवाणी (मासिक), जयपुर, अक्टूबर १९८७ ई०

आचार्य कुन्दकुन्द जैन अध्यात्म परम्परा के विशिष्ट व्यक्तित्व हैं। इनका समय ईसा पूर्व प्रथम शती माना जाता है। आचार्य कुन्द-कुन्द का जैन आध्यात्मिक क्रान्ति के इतिहास में अनूठा स्थान है।

प्रस्तुत ग्रंथ के पाँच अध्यायों में डॉ. शुद्धात्मप्रभा ने आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकारों का जीवन वृत प्रस्तुत करते हुए कुन्दकुन्द के ग्रंथों का प्रतिपाद्य विषय सरल, सरस बनाकर प्रस्तुत किया है तथा उन पर लिखी गई टीकाओं का वैशिष्ट्य प्रतिपादित करते हुये तुलनात्मक समीक्षण किया है। कुन्दकुन्द के दार्शनिक विचारों और आध्यात्मिक क्रांति को समझने में यह ग्रंथ विशेष सहायक और उपादेय है। —डॉ० नरेन्द्र भानावत

प्राध्यापक – राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

जैनजगत (मासिक) बम्बई, अक्टूबर, १९८७ ई०

राजस्थान विश्वविद्यालय से पीएच० डी० के लिए स्वीकृत पांच अध्यायों में विभक्त डॉ० शुद्धात्मप्रभा का यह शोध प्रबन्ध विद्वानों और अध्यात्म प्रेमियों के लिए समान रूप से अत्यन्त उपयोगी है, पठनीय है, माननीय है। —चंदनमल 'चांद'

अहिंसावाणी (मासिक) अलीगंज अक्टूबर १९८७ ई०

आचार्य कुन्दकुन्द जैन जगत के भासमान मार्तण्ड हैं। वे आद्य आगमाचार्य के रूप में समादृत हैं। लगभग दो हजार वर्षों से उनके समीचीन अध्यात्म ग्रंथों का पारायण हो रहा है और मुमुक्षुजन आत्म-कल्याण कर रहे हैं। हम अपने ऐसे श्रद्धाभाजन ऋषि-मुनि के विषय में उनकी रचनाओं का आलोड़न-विलोड़न करने के बावजूद बहुत कम जानते रहे। यह परमहर्ष, सन्तोष, सौभाग्य की बात है कि हमारी अल्प जानकारी के अभाव को एक आस्थावान विदुषी ने दूर करने का सद्प्रयास किया और उसमें वे सफल भी हुईं।

शुद्धात्मा की चर्चा करने वाले परमेष्ठी आचार्य कुन्दकुन्द सम्बंधी यह ग्रंथ विदुषीरत्न श्रीमती शुद्धात्मप्रभा ने लिखकर अपने नाम को अधिकांशत: सार्थक किया है। यों यह प्रयास मुक्त कंठ से अभिनन्दनीय है।

—वीरेन्द्र कुमार जैन

सम्पादक—अहिंसावाणी, अलीगंज (उ०प्र०)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समन्वय-वाणी (पाक्षिक), जयपुर, नवम्बर द्वितीय पक्ष १६८७ ई०

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध सर्वांगीण एवं महत्त्वपूर्ण तो है ही, शोधार्थियों के लिए दिकसूचक सदृश कार्य करेगा। यदि इसे बिन्दु में सिन्धु कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। आ० कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी के अवसर पर प्रकाशित होने से सोने में सुहागे का कार्य हुआ है। – अखिल बंसल

जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक) जयपुर, अक्टूबर द्वितीय पक्ष, १६८७ ई०

यह एक ऐसा शोध-प्रबन्ध है, जो शोध-छात्रों का मार्गदर्शक तो है ही, स्वाध्याय प्रेमियों एवं तत्वरसिक अध्यात्मरुचिसम्पन्न आत्मार्थियों को भी लाभप्रद है। मुझे विश्वास है कि यह आचार्य कुन्दकुन्द और अमृतचंद्र के मूल ग्रंथों की भांति पढ़ा जाएगा। यह ग्रंथ कुन्दकुन्द के ग्रंथों की रहस्योद्घाटक कुंजी है। – रतनचन्द भारिल्ल

5453

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi